HINDI UPANYAS AUR MARXVADI ALOCHANA

A Thesis submitted during 2013 to the University of Hyderabad in partial fulfillment of the award of a Ph.D. degree in Department of Hindi, School of Humanities.

By

MANOJ KUMAR MAURYA
08HHPH05

2013

Department of Hindi
School of Humanities

University of Hyderabad
Central University P.O.
Prof. C. R. Rao Road
Gachibowli
Hyderabad – 500 046
Andhra Pradesh
INDIA

D E C L A R A T I O N

I, Manoj Kumar Maurya, hereby declare that this thesis entitled "**HINDI UPANYAS AUR MARXVADI ALOCHANA"** ¼fgUnh miU;kl vkj ekDlokn vkykpuk½ submitted by me under the guidance and supervision of **Prof. SUVAS CHANDRA KUMAR** is a bonafide research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Name : **MANOJ KUMAR MAURYA**

(Signature of the Student)
Regd. No. 08HHPH 05

Date :

C E R T I F I C A T E

This is to certify that the thesis entitled **"HINDI UPANYAS AUR MARXVADI ALOCHANA"** ¼fgUnh miU;kl vkj ekDloknh vkykpuk½ submitted by **Manoj Kumar Maurya** bearing Reg. No. **08HHPH05** in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in Hindi is a bonafide work carried out by her under my supervision and guidance.

As for as I know the thesis has not been submitted previously in part or full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of the Supervisor

Head of the Department

Dean of the School

vuØe.kf.kdk

पहला अध्याय : उपन्यास की मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि 1–54

दूसरा अध्याय : हिन्दी में उपन्यास का विकास और मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि 55–115

तीसरा अध्याय : हिन्दी के विशिष्ट उपन्यास और मार्क्सवादी आलोचना–एक 116–167

चौथा अध्याय : हिन्दी के विशिष्ट उपन्यास और मार्क्सवादी आलोचना–दो 168&217

पाचवाँ अध्याय : हिन्दी उपन्यास और मार्क्सवादी आलोचना : उपलब्धि और सीमाएँ 218–251

उपसंहार : 252–255

सन्दर्भ सामग्री : 256–262

iLrkouk

साहित्यिक विधाओं में उपन्यास ने जीवन और समाज के सर्वंगीण चित्रण को बहुत ही बारीकी से उकेरा है। सच कहा जाय तो अपने आरम्भ से अब तक लगभग डेढ़ सौ सालों में हिन्दी उपन्यास प्रगति के अनेक सोपानों को पार करके परिपक्वता के महत्वपूर्ण धरातल पर पहुँच चुका है। यहाँ रचनाकार को अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता मिलती है। लेखकों को जीवन–दर्शन स्पष्ट करने का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है। जीवन के विभिन्न पहलुओं के वाह्य एवं आभ्यंतरिक चित्रण का अवकाश उपन्यास में खूब मिलता है। उपन्यास ने युग के स्पन्दनों को महसूस कर, उन्हें स्वर देते हुए जीवन की वास्तविकताओं और स्वप्नों की पुनर्रचना करते हुए मानवीय संबन्धों और मूल्यों का मार्मिकता से विवेचन किया है।

उपन्यास की आलोचना का आरंभ उपन्यास–रचना के साथ नहीं हुआ। उपन्यास–रचना की शुरूआत के समय साहित्य की दो विधाएँ–काव्य और नाटक–थी। इसलिए यह बहुत ही स्वाभाविक है कि उपन्यास संबन्धी आलोचना सिद्धांत काव्य और नाटक संबन्धी आलोचना सिद्धांतों से प्रभावित और प्रेरित हो। आज उपन्यास के मूल्यांकन की कई दृष्टियाँ दिखाई देती हैं। इन दृष्टियों में मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि सबसे अधिक कारगर साबित हुई है। पश्चिम में उपन्यास की मार्क्सवादी आलोचना की शुरूआत मार्क्स–एंगेल्स से होती है और हिन्दी में यह शुरूआत प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के बाद से, जिसमें शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि ने अपना महत्वपूर्ण आलोचनात्मक योगदान दिया है।

दरअसल, मार्क्सवादी आलोचना हिन्दी आलोचना की सबसे सशक्त धारा रही है लेकिन उसकी आलोचना के केन्द्र में उपन्यास कभी भी नहीं रहा। उसके केन्द्र में कविता ही रही है। ऐसा भी नहीं है कि उसने उपन्यास को एक सिरे से नकार दिया हो। मार्क्सवादी आलोचना ने हिन्दी उपन्यासों का मूल्यांकन किया है और वह मूल्यांकन सकारात्मक एवं

नकारात्मक दोनों तरह का है। लेकिन जितनी उससे अपेक्षा की गयी थी उतना वह नहीं कर पायी। इसलिए उपन्यास के सन्दर्भ में मार्क्सवादी आलोचना के अवदान और महत्व को रेखांकित करने के लिए मैंने अपने शोध विषय–हिन्दी उपन्यास और मार्क्सवादी आलोचना–का चयन किया है। अध्ययन की सुविधा को ध्यान में रखते हुए मैंने अपने शोध–प्रबन्ध को चार अध्यायों में विभाजित किया है।

प्रथम अध्याय–उपन्यास की मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि–में उपन्यास की मार्क्सवादी आलोचना के स्वरूप और विकास को पश्चिमी सन्दर्भ में देखा–परखा गया है। मार्क्सवादी आलोचना के मूलभूत तत्वों यानी मार्क्सवादी आलोचना के प्रतिमानों का संक्षेप में उल्लेख करते हुए, साहित्य और कला विशेषकर उपन्यास के सम्बंध में पश्चिम के मार्क्सवादी साहित्य–चिंतकों की परंपरा का ऐतिहासिक विहंगावलोकन किया गया है। इस अध्याय के अन्त में यथार्थवाद की अवधारणा और उसके विभिन्न प्रकारों पर भी प्रकाश डाला गया है। यह देखना जरूरी है कि उपन्यास की मार्क्सवादी आलोचना का जन्म व विकास पश्चिम के साहित्य में हुआ और हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना पर पश्चिम के मार्क्सवादी साहित्य–चिन्तकों का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। इसलिए उपन्यास की मार्क्सवादी आलोचना के पश्चिमी स्वरूप की शोध–प्रबन्ध में चर्चा अपेक्षित थी।

शोध–प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय–हिन्दी में उपन्यास का विकास और मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि–में उपन्यास के स्वरूप, उदय, अवधारणा के सम्बन्ध में मार्क्सवादी दृष्टि पर विचार किया गया है। साथ ही हिन्दी उपन्यास के उत्तरोत्तर विकास–क्रम को रेखांकित किया गया है, जिसमें प्रेमचन्द–प्रसाद की यथार्थ संबन्धी मान्यताओं का उल्लेख करते हुए आंचलिकता के आन्दोलन पर भी प्रकाश डाला गया है।

शोध–प्रबन्ध के तृतीय और चतुर्थ अध्यायों–हिन्दी के विशिष्ट उपन्यास और मार्क्सवादी आलोचना एक एवं दो–में हिन्दी के उन उपन्यासों का चयन किया गया है जिन पर कि मार्क्सवादी आलोचकों ने अपने कुछ विचार रखे हैं या किसी कारणवश उन्हें अपनी आलोचना की परिधि से बाहर रखा है, लेकिन जो पाठकों द्वारा काफी सराहे गये।

उपर्युक्त अध्याय में कुल अट्ठाईस उपन्यासों का चयन किया गया है जो कि मेरे शोध–प्रबंध के आधार ग्रंथ हैं। यहाँ कहना जरूरी है कि उपन्यासों के चयन में अनेक उपन्यास छूट गये हैं। शोध के लिए समय–सीमा निर्धारण के अतिरिक्त बहुतेरे उपन्यासों का चयन न करने के पीछे एक कारण यह रहा है कि उन उपन्यासों पर मार्क्सवादी आलोचकों के द्वारा पर्याप्त आलोचना नहीं लिखी गयीं। कृष्णबलदेव वैद, उषा प्रियंबदा, मनोहर श्याम जोशी, रमेशचन्द्र शाह, संजीव, गोविन्द मिश्र, आदि अनेक उपन्यासकारों ने महत्वपूर्ण लेखन किया है इसका अहसास हिन्दी के पाठकों को है।

शोध–प्रबन्ध के पंचम अध्याय–हिन्दी उपन्यास और मार्क्सवादी आलोचना : उपलब्धि और सीमाएँ–में मार्क्सवादी आलोचना के गुण, धर्म, दायित्त्व आदि का विवेचन–विश्लेषण हुआ है। उपन्यास के सन्दर्भ में मार्क्सवादी आलोचकों की आलोचना दृष्टि, उनके अवदान और महत्व को रेखांकित किया गया है जिससे कि मार्क्सवादी आलोचना की उपलब्धि और सीमा निर्धारित होती हैं। शोध–प्रबन्ध में मैंने प्रायः विश्लेषणात्मक, विवेचनात्मक और आलोचनात्मक पद्धति का प्रयोग किया है।

अपनी बात को समाप्त करते हुए मैं अपने पूज्य गुरू सुवास कुमार का विशेष रूप से आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे अपने प्रिय क्षेत्र में शोध कार्य करने के लिए न केवल प्रोत्साहित किया, बल्कि समय–समय पर मेरा मार्गदर्शन भी किया है। अपने माता–पिता और बड़े भाई साहब के साथ–साथ हिन्दी विभाग के समस्त प्राध्यापक व मित्रों को आभार व्यक्त करता हूँ जिनके प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष सहयोग और सुझाव से शोध–कार्य में सहायता मिली।

मनोज कुमार मौर्य

lkgyk v/;k; %

miU;kl dh ekDlZoknh vkykspuk nf"V

मार्क्सवादी आलोचना मार्क्सवाद के सिद्धांतों पर निर्मित हुई है। मार्क्सवाद वह जीवन दर्शन है जो समाज के ऐतिहासिक, राजनीतिक और आर्थिक से लेकर सांस्कृतिक पक्षों में एक सूत्रता स्थापित करता है, जिसको अलग नहीं किया जा सकता। मार्क्सवाद परंपरागत भाववादी दर्शन की अमूर्त और आध्यात्मिक स्थापनाओं के विरोध में प्राकृतिक विज्ञान की नव्यतम निष्पत्तियों और खोजों को आधार बनाते हुए हेगेल (जर्मन दार्शनिक) की द्वन्द्वात्मक पद्धति को भौतिकवादी चिंतन[1] के सन्दर्भ में ग्रहण कर, सर्वहारा वर्ग के दर्शन के रूप में, 19वीं सदी में उदित हुआ। इसके प्रवर्तक कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स हैं।

मार्क्सवाद के मुख्य आधार स्तम्भ है–'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद', 'ऐतिहासिक भैतिकवाद', 'वर्ग–संघर्ष का सिद्धांत' और 'अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत'। इन्हीं सिद्धांतों के ऊपर मार्क्सवाद की दीवार खड़ी है। उपर्युक्त सिद्धांत मार्क्स की कल्पना की कोई आकस्मिक उपज न होकर पहले से विद्यमान विचारधाराओं की अन्तिम परिणति मात्र हैं। जैसा कि लेनिन ने लिखा भी है ''मार्क्स ही वह प्रतिभाशाली व्यक्ति था जिसने यूरोप के तीन महान देशों की 19वीं शताब्दी की महान विचारधाराओं अर्थात् जर्मन दर्शन, अंग्रेजी राजनीतिक अर्थशास्त्र और फ्रांस की समाजवादी क्रांतिकारी विचारधाराओं को आगे बढ़ाया और पूर्णता प्रदान की।''[2] मार्क्सवाद के प्रमुख सिद्धांतों की चर्चा अपेक्षित है।

मार्क्स ने प्रतिपादित किया कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर प्रकृति तथा मनुष्य के संपूर्ण क्रिया–कलापों को समझा जा सकता है। यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसलिए कहलाता है कि प्राकृतिक घटनाओं को देखने–परखने का इसका ढंग द्वन्द्वात्मक है और प्राकृतिक घटनाओं की इसकी व्याख्या, धारणा और सिद्धांत विवेचन भौतिकवादी है। जहाँ हेगेल ने जगत का मूल आधार 'विचार' को माना है वहाँ मार्क्स के अनुसार विचार नहीं 'भौतिक पदार्थ' ही इस जगत् का आधार है और भौतिक जगत में परिवर्तन होता रहता

है। छोटे–से जीव से लेकर मनुष्य तक, संपूर्ण प्रकृति गतिमय और परिवर्तनशील है। मार्क्स ने प्रकृति के विकास को समझने के लिए तीन नियमों–'विरोधी समागम का नियम', 'मात्राभेद से गुणभेद का नियम' और 'निषेध से निषेध का नियम'–का प्रतिपादन किया।

'विरोधी समागम का नियम' प्रकृति की गतिशीलता को स्पष्ट करता है। संसार का विकास अपने अन्तर्विरोधों के साथ होता है। विरोधी जब मिलेंगे तो संघर्ष जरूर होगा और संघर्ष नए स्वरूप, नई गति, नई परिस्थितियों यानी विकास को जरूर पैदा करेगा।[3] विरोधी समागम का नियम यह बताता है कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु या घटना में निहित विरोधी शक्तियों का यह संघर्ष ही उनके विकास का मुख्य कारण रहा है।

मात्राभेद से गुणभेद के नियम के अन्तर्गत किसी भी वस्तु का गुण स्थिर और स्थायी नहीं है। जब कोई वस्तु या प्रक्रिया अपने आन्तरिक गुण–धर्म को छोड़ देती है तो उसमें परिवर्तन हो जाता है, वह वस्तु पहले जैसी नहीं रह जाती है, किसी दूसरी वस्तु में बदल जाती है।

निषेध से निषेध का नियम यह दर्शाता है कि प्रत्येक वस्तु के भीतर आंतरिक असंगतियाँ रहती हैं। उनमें निरंतर संघर्ष चलता रहता है। विरोधी की शक्तियों का यह संघर्ष ही विकास का मूल कारण है। संघर्ष होने पर एक शक्ति दूसरी का निषेध करती है जिससे नई व्यवस्था पैदा होती है। सामाजिक व्यवस्थाओं में बदलाव ऐसे ही होता है। उनके भीतर व्यवस्था को नष्ट करने वाली असंगतियाँ जन्म पाकर धीरे–धीरे बढ़ती रहती हैं और जब इन असंगतियों के बोझ को संभालने में असमर्थ हो जाता है तो आन्दोलन या क्रांति होती है। इस तरह 'निषेध का निषेध का नियम' अपने मूल स्वरूप में निषेधात्मक न होकर निर्णयात्मक होता है।

मार्क्स के अनुसार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांतों का जब इतिहास पर आरोप किया जाता है तब उसे ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं। इस धारणा के अनुसार प्रकृति के समान ही सामाजिक व्यवस्थाओं में भी सभी परिवर्तन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियमों के

अनुसार ही होते हैं। ''ऐतिहासिक भौतिकवाद हमें यह समझने में समर्थ बनाता है कि इतिहास में जनगण या व्यक्ति क्या भूमिका अदा करते हैं, वर्ग–संघर्ष उदय कैसे हुआ, राज्य का कैसे आविर्भाव हुआ, सामाजिक क्रांतियाँ क्यों होती हैं और ऐतिहासिक प्रक्रिया में उनका महत्व क्या है? इसी तरह वह सामाजिक विकास की अनेक समस्याओं को सुलझाता है।''[4] ऐतिहासिक भौतिकवाद की बुनियादी मान्यता है कि मनुष्य का सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना को तय करता है। यानी प्रकृति की तरह समाज में भी अस्तित्व या भौतिक जीवन ही प्रमुख है और वही निर्णायक तत्व भी है।

मार्क्स ने वर्ग–संघर्ष के सिद्धांत द्वारा बताया है कि समाज में सदैव दो विरोधी आर्थिक शक्तियाँ (मालिक–दास, सामन्त–कृषक, पूँजीपति–मजदूर) मौजूद रही हैं। एक वर्ग वह है जो उत्पादन के साधनों का मालिक रहा है और दूसरा वह है जो केवल शारीरिक श्रम करता रहा है। यानी पहला वर्ग (शोषक) सदा से ही दूसरा वर्ग (शोषित) का शोषण करता रहा है। ये दोनों वर्ग आपस में सदैव ही संघर्षरत रहे हैं। मार्क्सवाद मानता है कि इस संघर्ष में अन्ततः सर्वहारा वर्ग (शोषित वर्ग) की ही जीत होगी और वर्गहीन समाज की स्थापना होगी।

मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत द्वारा स्पष्ट किया है कि पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों का किस प्रकार शोषण किया जाता है, उत्पादित वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में श्रम का क्या महत्व है, पूँजीपति मुनाफा कहाँ से प्राप्त करता है। पूँजी का प्रसार कैसे होता है और उसकी विविध अवस्थाएँ क्या हैं? इत्यादि समस्याओं पर उसने परंपरागत मान्यताओं से हटकर विचार किया। मार्क्स का तर्क है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य उस पर किए गये श्रम के अनुसार होता है। जिस वस्तु पर जितना कम श्रम किया जाता है वह वस्तु उतनी ही सस्ती होती है। यानी प्रत्येक वस्तु के मूल्य का निर्धारण श्रमिक का श्रम है। जिस कीमत में बाज़ार में उसका विक्रय होता है, उसमें बहुत अन्तर होता है। अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत बताता है कि प्रत्येक वस्तु का असली मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि उसके उत्पादन में सामाजिक दृष्टि से कितना श्रम व्यय हुआ है।

कुल मिलाकर मार्क्स–एंगेल्स ऐसी दार्शनिक विचारधारा के प्रवर्तक थे जिसने आधुनिक विश्व के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्तर पर क्रांतिकारी प्रभाव डाला। इससे साहित्य और कला भी अछूता नहीं रही। साहित्य और कला पर मार्क्स के सिद्धांतों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। मार्क्सवाद साहित्य को मानव–जीवन के भौतिक विकास की सापेक्षता में ही जाँचता–परखता है। वह साहित्य को भौतिक जीवन की अभिव्यक्ति मानता है और साहित्य को उसके सामाजिक सन्दर्भों में ही देखता–परखता है।

मार्क्सवाद को वैज्ञानिक दृष्टिकोण बताया जाता है क्योंकि यह तर्क–वितर्क और वास्तविकता पर बल देता है, जीवन और जगत के प्रति आत्मवादी दृष्टिकोण का यह तीव्र विरोधी है। सामाजिक कार्य–व्यापारों में वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण रूप अपनाने और उसके अनुसार उन्हें जानने–समझने, यहाँ तक कि बदलने में लोगों को अपनी भूमिका निभाने की सलाह देता है। यह ऐसा दृष्टिकोण है जो यह बताता है कि किसी भी विकास का अध्ययन करने के लिए उसके मूल तत्व (Thesis) के अन्तर्विरोधों (Anti-Thesis) का अध्ययन अतिआवश्यक है। ''मार्क्सवाद, जो सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों स्तरों पर एक औसत श्रमिक और एक औसत व्यवसायी की मानसिकता से जूझता है, उन्हें जिस रूप में वे हैं, उस रूप में उनके वैसा होने के लिए जो भौतिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक कारण हैं, उन तमाम धारणाओं को झकझोरता है जो दो विशेष प्रकार की मानसिकताओं की उपज होती है। उन मानसिकताओं के पीछे काम करने वाली छद्म चेतना, अंधविश्वास और काली शक्तियों का खुलासा मार्क्सवाद हमेशा तैयार रखता है ताकि संस्कृति की पक्षधरता लगातार स्पष्ट होती रहे।''[5]

कला के स्वरूप के संबंध में मार्क्सवादी आलोचना उसकी अनिर्वचनीयता का निषेध करती है। अनिर्वचनीयता से तात्पर्य है–जिसे सामाजिक, भौतिक नियमों से व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। लेकिन मार्क्सवाद के अनुसार रचना के उपादान, कारक और रचना–प्रक्रिया की व्याख्या वस्तुगत परिवेश के आधार पर ही की जानी चाहिए। क्रिस्टोफर कॉडवेल ने कला को समाजरूपी सीपी से निकला हुआ मोती कहा है यानी साहित्य का

स्रोत समाज है, इसलिए जरूरी है कि किसी भी साहित्यिक कृति को उसके सामाजिक सन्दर्भों में ही देखा–सुना जाय। मार्क्स का मानना है कि भौतिक जीवन संबंधी उत्पादनों की रीति ही सामान्यतः जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक–प्रक्रियाओं का निर्णय करती है। मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निर्णय नहीं करती, बल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व बोध ही उसकी चेतना का निर्धारण करता है। इस तरह साहित्य या कला का सामाजिक अस्तित्व से सीधा संबंध होता है और वह उसी में समाप्त भी होता है।

मार्क्सवाद मानता है कि श्रम और सामाजिक व्यवस्था से साहित्य की प्रकृति निर्मित होती है और उसकी व्याख्या श्रम और सामाजिक संगठन के परिप्रेक्ष्य में ही हो सकती है। अपनी इस मान्यता को उसने यों ही प्रस्तुत न करके, ऐतिहासिक भौतिकवाद के सन्दर्भ में बाकायदा सामाजिक जीवन के विकास–क्रम को सूचित करते हए गहराई में जाकर विश्लेषित और प्रस्तुत किया है। लूनार्चास्की ने लिखा है कि ''मार्क्सवाद सामाजिक जीवन को एक संघटित इकाई के रूप में मानता है जिसमें विभिन्न घटक एक दूसरे पर आश्रित होते हैं तथा भौतिक व आर्थिक संबन्ध जिसमें श्रम के प्रकार प्रमुख हैं अपनी निर्णायक भूमिका अदा करते हैं।''[6]

मार्क्सवादी आलोचना कला की वर्गीय अवधारणा का सूत्रपात करती है। 'कम्युनिस्ट घोषण पत्र' में मार्क्स ने कहा है कि अब तक के समाज का इतिहास वर्ग–संघर्ष का इतिहास रहा है। तब तक समानता स्थापित नहीं होती तब तक समाज में दो वर्ग (शोषक–शोषित) बने रहेंगे। मार्क्सवादी साहित्य–चिंतकों ने साहित्य के वर्गीय आधार का जो विवेचन–विश्लेषण किया है उसका सीधा संबंध समाज–विकास की शोषक–शोषित अवस्थाओं से है। जहाँ एक ओर मार्क्सवादी विचारकों का मानना है कि वर्गबद्ध समाज में साहित्य एवं कलाएँ भी वर्गहितों को प्रतिबिंबित करती है जिनमें शासक के हितों की प्रमुखता रहती है।दूसरी तरफ उनकी यह भी मान्यता है कि वर्गबद्ध समाज में रचनाकार अपनी वर्गीय भूमिका का अतिक्रमण करते हुए उस वर्ग के साथ खड़ा होता है जो

प्रगतिशील होता है। रचनाकार का वर्गीय संस्कार उसकी जीवन–दृष्टि के रूप में उसकी रचनाओं में प्रदशित होता है। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत पनपने वाले साहित्य तथा अन्य कलाओं की इस वर्गीय भूमिका का विस्तृत विवेचन प्लेखानोव, राल्फ फॉक्स, क्रिस्टोफर कॉडवेल तथा अर्न्स्ट फिशर ने किया है। मार्क्सवाद वर्गबद्ध समाज में रचे जाने वाले साहित्य तथा रचनाकारों के मूल्यांकन में अपनी द्वन्द्वात्मक समझ को आधार बनाता है। वह इस बात का विश्लेषण करता है कि किसी साहित्य या रचनाकार–विशेष में वर्गीय समाज के कौन–कौन से अन्तर्विरोध और असंगतियाँ मौजूद हैं? जैसे वह कहाँ तक प्रगतिशील और प्रगतिगामी भूमिका के साथ जुड़ा हुआ है? उसका मूल चरित क्या है? आदि।[7]

मार्क्सवाद ने 'आधार और अधिरचना' का सिद्धांत प्रस्तुत किया जिसके माध्यम से कला–साहित्य के सामाजिक एवं उनके आपसी अन्तर्सम्बन्धों की पड़ताल की जा सकती है। मार्क्सवादी आलोचना रचना से जुड़े उन स्थलों और प्रसंगों को टटोलती है जो जनक्रांति से जुड़ते हैं। यानी रचना के माध्यम से शोषक वर्ग की दमनकारी शक्तियों से संघर्ष। मार्क्सवादी आलोचना मुक्तिकामी संघर्षशील शोषितों के प्रति प्रतिबद्धता और भौतिकवादी विचारधारा की भूमिका को बहुत महत्व देती है। चूंकि रचना–कर्म को यहाँ एक प्रतिबद्ध कर्म के रूप में देखा गया है और प्रतिबद्धता का अर्थ शोषित वर्ग की पक्षधरता से है। मार्क्सवादी आलोचना पक्षधरता के प्रश्न को अपनी वैचारिक आस्था से जोड़ती है। यहाँ प्रतिबद्धता का आशय रचना को वर्ग–संघर्ष में सर्वहारा के हाथों को मजबूत करना और उसका सक्रिय शस्त्र बनने से है। मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि यह मानती है कि साहित्य महज आस्वाद, उपभोग और आनंद की वस्तु नहीं है, बल्कि वह परिवर्तन की दिशा में किया जाने वाला सामाजिक–सांस्कृतिक कर्म है।

जहाँ तक विचारधारा का प्रश्न है तो मार्क्सवाद के अनुसार साहित्य में विचारधारा का होना लाज़िमी है। विचारधारा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, विचारधारा का इतिहास वस्तुतः सामाजिक जीवन का इतिहास होता है। विचारधारा इसलिए महत्वपूर्ण है

कि उससे साहित्य को शक्ति और दृष्टि मिलती है। लूसिएँ गोल्डमान जैसे विचारक विचारधारा को केवल चेतना के रूप में देखते है और साहित्य–विश्लेषण के सन्दर्भ में 'वर्ग' के बदले 'समूह' और 'विचाधारा' के बदले 'विश्वदृष्टि' की धारणा का उपयोग करते हैं।

आज की मार्क्सवादी आलोचना के लिए लेखक की विचारधारा और राजनीतिक दृष्टि का विशेष महत्व तो है लेकिन उसके बावजूद वह लेखक के यथार्थ–बोध और कलात्मक श्रेष्ठता को अधिक महत्व देती है। ध्यातव्य है कि मार्क्स–एंगेल्स ने बालजाक के मूल्यांकन में और लेनिन ने तोल्स्तोय के मूल्यांकन में उनकी (रचनाओं) विचारधारा के गलत होने के बावजूद उनके रचनात्मक सामर्थ्य और यथार्थ–बोध की प्रशंसा की थी। आज मार्क्सवादी आलोचना विधेयवादी दृष्टि के अवशेषों को बहुत पीछे छोड़ चुकी है। मार्क्सवादी आलोचना और सौन्दर्यशास्त्र ने 20वीं सदी के उत्तरार्ध में आकर द्वन्द्वात्मकता के मूल (Basic) नियमों के अलावा कतिपय मूलेतर (Non-basic) नियमों की भी खोज की है, जिनमें आधार और अधिरचना (Base & Super Struture) के अलावा वस्तु और रूप (Contect & form) सत् और आभास–जैसे कोई आधा दर्जन मूलेतर या अ–मौलिक (Non baric) नियम है, जिनका संबन्ध सामान्य की ही तरह कला और साहित्य से भी जुड़ा है।

मार्क्सवादी आलोचना कला तथा साहित्य में चित्रण की मूल वस्तु बाह्य–संसार और उसके नाना रूप को मानती है, जो निरंतर सक्रिय और परिवर्तनशील होते हैं रचनाकार इस परिवर्तनशील बाह्य–संसार को उसकी समग्रता में अपने चित्रण की विषय–वस्तु बनाता है। लेकिन मार्क्सवादी आलोचना साहित्य एवं कलाओं को मात्र दर्पण के रूप में स्वीकार नहीं करती, जिसमें वस्तुगत–यथार्थ अपने प्रकृत रूप में प्रकट होता है। वह साहित्य एवं कला को इयत्ता के रूप में ग्रहण करती है। जहाँ पर बाह्य–यथार्थ अपनी सारी प्रामाणिकता के साथ पुनर्रचित होता है। यानी रचनाकार यथार्थ की अनुकृति न करके उसका अपनी कृति में सृजन करता है।साहित्य और कला के सन्दर्भ में मार्क्सवादी विचारकों की दो मान्यताएँ हैं। पहली, साहित्य और कला यथार्थ का दर्पण नहीं है और

दूसरी, साहित्य एवं कला में चित्रित यथार्थ अपने तात्कालिक या वर्तमान सन्दर्भ से युक्त यथार्थ ही नहीं होता, बल्कि वह अतीत एवं भविष्य की संभावनाओं से पुष्ट समग्र यथार्थ भी होता है। यानी वर्तमान के साथ–साथ अतीत एवं भविष्य को भी संकेतिक करता है। यथार्थ को साहित्य एवं कला के लिए प्राण तत्व मानते हुए उसका सबसे सशक्त विवेचन जार्ज लुकाच ने किया है।

मार्क्सवादी इतिहास–दृष्टि का एक प्रमुख पक्ष है–परंपरा का विश्लेषण और मूल्यांकन–पुनर्मूल्यांकन। मार्क्सवाद के अनुसार परंपरा के वैज्ञानिक विश्लेषण से ही इतिहास–दृष्टि प्रामाणिक बन पाती है। परंपरा के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान मनुष्य का भी आकलन होना चाहिए। अतीत और वर्तमान की गतिशीलता से समाज और मनुष्य को संपूर्णता में देखा–समझा जा सकता है, और इसमें ऐतिहासिक विवेक और द्वन्द्वात्मक दृष्टि से पर्याप्त सहायता मिलती है। इसलिए मार्क्सवादी आलोचना मानती है कि साहित्य की पुनर्व्याख्या में परंपरा का सार्थक मूल्यांकन और विकास होता है।

मार्क्सवादी चिंतकों ने सौन्दर्य तत्व का विवेचन उसकी समग्रता में, प्रकृति तथा मानव जीवन के ही एक अंग के रूप में किया है जबकि इसके विपरीत भाववादी कला–चिंतकों ने सौन्दर्य तत्व की चर्चा एक निरपेक्ष सत्ता के रूप में प्रकृति तथा मानव जीवन से पूरी तरह काटकर की है। मार्क्सवादी चिंतकों ने सौन्दर्य को जीवन तथा कला के दूसरे बुनियादी प्रश्नों से जोड़कर देखने की कोशिश की है। प्लेखानोव का मानना है कि सौन्दर्य–चेतना का विकास श्रम के पश्चात् हुआ। श्रम के दौरान मनुष्य ने सर्वप्रथम अपनी उपयोगिता की वस्तुएँ निर्मित की। यानी उपयोगिता सौन्दर्य–चेतना से पहले की चीज है। मार्क्सवाद मानता है कि सौन्दर्य का वस्तुगत आधार होता है। अर्थात् सौन्दर्य की स्थिति सुन्दर वस्तु में होती है। क्योंकि सुन्दरता वस्तु का गुण है और गुण को वस्तु से अलग नहीं किया जा सकता है। सुन्दरता की स्थिति वस्तु में होती है। इसी कारण सुन्दर वस्तु सुन्दर लगती है। वस्तुगत आधार होने से सौन्दर्य व्याख्येय है अर्थात् उसकी व्याख्या की जा सकती है, वह शाश्वत और अपरिवर्त्तित नहीं होता। चूँकि सौन्दर्य वस्तुगत होता है

और वस्तु परिवर्तनशील होती है इसलिए सौन्दर्य भी अनिवार्यतः परिवर्तनशील होता है। मार्क्सवाद सौन्दर्य की स्थिर, सार्वभौमिक और शाश्वत अवधारणा का विरोध करता है।

एंगेल्स की स्थापना है कि सौन्दर्यबोध मानवीय श्रम, उपयोगिता, इन्द्रियबोध तथा तथा जटिल विचारों का संश्लिष्ट रूप होता है। वह कोई दैवीय वस्तु न होकर मानवीय जीवन में विकसित होने वाली धारणा होती है। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र को द्वन्द्वात्मक दृष्टि से देखने की आवश्यकता इसलिए पड़ती कि वह पुराणपंडितों के इस भाववादी भ्रम का निवारण कर सके जो बताता है कि सौन्दर्य स्थिर, स्थायी, आत्मिक, व्यक्तिनिष्ठ है। परंपरागत सौन्दर्य–दृष्टि यह मानती है कि जो आँखों को सुन्दर न लगे, वह असुन्दर है और जो सुन्दर लगे वहीं सौन्दर्य है। यानी सौन्दर्य देखने वाले की आँखों में होता है। मार्क्सवाद सौन्दर्य का स्रोत जन–जीवन अथवा लोक–जीवन में मानता है। इसलिए उसकी लोक संबन्धी धारणा लोकबद्ध ही होती है। वह सौन्दर्य की लोकोत्तर धारणा को अस्वीकार करता है। जिस प्रकार मनुष्य से बाहर मनुष्य की सत्ता नहीं होती है उसी तरह सुन्दर वस्तुओं से बाहर सौन्दर्य की सत्ता नहीं होती है।

द्वन्द्ववाद की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके द्वारा वस्तु को एक विशेष सत्ता या अस्तित्व के रूप में न देखकर वस्तु के अन्तर्संबन्धों तथा अन्तर्विरोधों के साथ जाँचा–परखा जाता है। द्वन्द्ववाद के नियमानुसार कोई भी उत्पादन कार्य–कारण संबन्धों और अन्तर्विरोधों के कारण होता है। वस्तु रूप को अनुकूलित, नियमित और प्रभावित जरूर करता है। लेकिन रूप को केवल निष्क्रिय रूप से प्रभाव ग्रहण करने वाला ही स्वीकार नहीं करना चाहिए। वह भी बदले में वस्तु को प्रभावित करता है। 'वस्तु' और 'रूप' में मार्क्सवादी आलोचना वस्तु को अधिक महत्वपूर्ण मानती प्रतीत होती है। रूप की अपनी अलग से कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं दिखाई देती है। इसलिए मार्क्सवादी रचनाकार की वास्तविक चिंता रूप की न होकर वस्तु की होती है। हालांकि मार्क्सवाद मानता है कि 'रूप' में परिवर्तन से वस्तु बदल जाती है। (जैसे पहिया (Wheel) को चौकोर बना दिया जाय तो वह 'पहिया'

नहीं रह जाता) फिर भी मार्क्सवादियों में 'रूप' को लेकर हिचक बनी रहती है। वे रूपगत प्रयोग को कलावाद बताते नहीं थकते हैं।

पाश्चात्य–साहित्य में मार्क्सवादी आलोचना का प्रारम्भ मार्क्स–एंगेल्स के साहित्य, संस्कृति, और कला–संबंधी विचारों से होता है। इन दोनों ने साहित्य एवं कला को विचारधारा के एक ऐसे रूप में स्वीकार किया है जो समाज के आर्थिक–भौतिक जीवन से उत्पन्न एवं उसी के ऊपर आधारित होती है। जब आर्थिक–भौतिक धरातल पर परिवर्तन होता है, तभी साहित्य, कला (विचारधारा) के अन्य रूपों में भी कमोवेश उसी तेजी से परिवर्तन होता है, तथा ऐसे परिवर्तनों पर विचार करते समय उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों (जिन्हें पदार्थ–विज्ञान की भाँति ठीक से आँका जा सकता है, एवं विचारधारा के रूपों–जिनमें मनुष्य इस संघर्ष के प्रति सचेत रहता है।) के बीच भेद करना चाहिए।[8] इस तरह यह स्पष्ट है कि मार्क्स–एंगेल्स ने साहित्य, कला का जन्म समाज के आर्थिक या भौतिक जीवन (आधार) से माना है तथा उस पर आधारित (अधिरचना) होते हुए भी उन्हें निष्क्रिय रहकर प्रभावित होने वाला स्वीकार न कर उनकी अपनी विशिष्ट प्रभाव–क्षमता को महत्व दिया। दोनों (आधार और आधेय) का द्वन्द्वात्मक रिश्ता होता है।

मार्क्स ने कलाकार के धर्म (कर्त्तव्य) और दायित्व को बहुत अधिक महत्व दिया है। उसका कहना है कि ''अस्तित्व की रक्षा के लिए अपनी सर्जना को जारी रखने के लिए कलाकार का जीविकोपार्जन करना स्वभावतः अनिवार्य है, परन्तु महज इस कारण जीना और लिखना नहीं है ताकि वर जीविकोपार्जन कर सके। रचनाकार का कृतित्व साधन न होकर उसके लिए साध्य होता है। यहाँ तक कि उसके लिए रचनाकार अपने अस्तित्व का बलिदान कर देता है।''[9] मार्क्स के लिए साहित्य अभिव्यक्ति का साधन–भर नहीं है, वह काफी हद तक आत्मनिर्णय का साधन भी है। उन्होंने बौद्धिक और नैतिक अन्तर्दृष्टि के साथ–साथ कला–प्रतिभा होने की जरूरत पर बल दिया है। उनके लिए साहित्यिक कृतियाँ उत्पाद हैं। साहित्यकार उत्पादक हैं और साहित्य जिस समाज में और समाज के

लिए उत्पादित हुआ है, उसमें प्रभावी उत्पादन और उपभोग की पद्धतियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

उपन्यास के जन्मकाल से ही उसके सामाजिक आधार, और अभिप्राय, की खोज होती आ रही है क्योंकि उपन्यास के रूप और अन्तर्वस्तु का सामाजिक, ऐतिहासिक स्वरूप साहित्य–चिंतकों को आकर्षित करता रहा है। मादाम स्तेल और हेगेल के चिंतन से उपन्यास के सामाजिक आधार के खोज की जो प्रक्रिया शुरू हुई, वह भी उपन्यास के विकास के साथ–साथ विकसित होती रही है।

उपन्यास के मूल्यांकन की कई दृष्टियाँ और पद्धतियाँ हैं, जिनमें सबसे पुरानी पद्धति विधेयवाद की है। विधेयवाद दृष्टि में एक तरफ उपन्यास के सामाजिक अस्तित्व को प्रभावित करने वाली आर्थिक–भौतिक परिस्थितियों का विवेचन विश्लेषण होता है तो दूसरी तरफ उपन्यास के पाठकीय ग्रहण का विवेचन–विश्लेषण होता है। उपन्यास के मूल्यांकन का सबसे सशक्त रूप मार्क्सवादी आलोचना में मिलता है। मार्क्सवादी आलोचना उपन्यास के अन्तर्वस्तु और रूप में निहित सामाजिक यथार्थ, चेतना, विचारधारा आदि की खोज मार्क्सवादी सिद्धांतों के आधार पर करती है।[10]

आरम्भ में उपन्यास मुख्यतः शिक्षित मध्यवर्ग द्वारा शिक्षित मध्यवर्ग के लिए ही लिखा जाता था। वह अनिवार्यतः उसी के प्रमुख जीवन–मूल्यों, विचारधारा और भौतिक अस्तित्व को प्रतिबिम्बित करता था, उपन्यास को बुर्जुआ समाज की बुनियादी संरचना के धरातल पर उतार दिया गया। उसका स्वरूप और कथ्य उन बाह्य शक्तियों द्वारा यांत्रिक रूप में निर्धारित होने लगा जिनको वह प्रतिबिम्बित करता था। इन्हीं सब तथ्यों को ध्यान में रखकर मार्क्स ने 'ए कन्ट्रीव्यूशन टु दी क्रिटिक ऑफ पोलिटिकल इकोनॉमी' पुस्तक में लिखा है ''यह तथ्य भली–भाँति विदित है कि कला के उच्चतम विकास के कुछ युगों का समाज के सामान्य विकास से कोई सीधा संबंध नहीं है। यही नहीं, समाज के भौतिक आधार तथा उसके संगठन के ढाँचे से भी उनका कोई प्रत्यक्ष संबंध दिखाई नहीं

पड़ता''[11] इस संबंध में शेक्सपीयर और ग्रीक कला और साहित्य का उदाहरण दिया। 'ईपास' जैसे महाकाव्यात्मक कला–रूप का उदाहरण भी इस तथ्य का प्रतिपादन करने के क्रम में ही है।

साहित्य निश्चित सामाजिक–ऐतिहासिक परिस्थितियों में मनुष्य जीवन की बात करता है और इसकी रचना और आस्वादन सामाजिक रूप से अनुकूलित पाठक, श्रोता और दर्शक करते हैं। इस तरह से साहित्य के निर्माता व्यक्ति ही हैं। मार्क्स किसी भी निर्वैयक्तिक सिद्धांत को नहीं मानता है, तथा कला–कर्म और आर्थिक ढाँचे के बीच के यांत्रिक संबंध का विरोधी है। दीदरो के उपन्यास 'रैमो का भतीजा' (रैमोज नेव्यू) की आलोचना करते हुए उसका कहना था कि दीदरो के प्रतिनायक, दूसरों की सदाशयता पर जीने वाले टुकड़खोर और सनकी व्यक्ति को केवल अलगाव या बेगानेपन की भाषा में समझा जा सकता है क्योंकि वह (दीदरो के उपन्यास) अठारहवीं शताब्दी के अंत में फ्रांस के अभिजात वर्ग के साथ बुर्जुआ वर्ग के संघर्ष का प्रतिबिम्ब मात्र नहीं है।[12]

यद्यपि देखा जाय तो मार्क्स के सामान्य सामाजिक सिद्धांत और विशेष रूप से साहित्य और समाज के आपसी रिश्तों को समझने के लिए अलगाव की यह धारणा अत्यंत महत्वपूर्ण है। जो कलाकार अपनी रचनाओं में प्रत्यक्ष रूप से वर्ग–हितों का वर्णन करते हैं उन्हें मार्क्स सामान्य कोटि के कलाकारों में रखता है क्योंकि आर्थिक और राजनीतिक हितों का तात्कालिक रूपांतरण साहित्य को कोरा सिद्धांतवादी बना देता है। मार्क्स की नज़र में वे सभी लेखक महत्वपूर्ण हैं जो अपने वर्गीय दृष्टिकोण से ऊपर उठकर रचना करते हैं और ऐसे ही रचनाकार समाज तथा मनुष्य के आपसी संबंधों की सच्ची छवि अंकित कर पाते हैं इस नज़रिए पर बालजाक मार्क्स की नज़र में फिट बैठता है। मार्क्स की दृष्टि में बालजाक फ्रांसीसी समाज का सच्चा ऐतिहासिक चित्रण तभी कर सका जब उसने फ्रांसीसी सामंत वर्ग के प्रति अपनी संकीर्ण सैद्धांतिक सहानुभूति से ऊपर उठकर बुर्जुआ वर्ग की विजय को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया।[13] मार्क्स–एंगेल्स ने एक सच्चे कलाकार द्वारा वर्गहितों को साहित्य में सीधे–सीधे रूपांतरित किये जाने का विरोध किया।

इस संबंध में एंगेल्स का कहना है कि 'सामाजिक उपन्यास खुली राजनैतिक प्रतिबद्धता द्वारा अपना लक्ष्य सिद्ध नहीं कर सकता। वह बुर्जुआ समाज का यथार्थ चित्र उपस्थित कर अर्थात् परंपरागत भ्रांतियों को हटाकर तथा वर्तमान व्यवस्था के स्थायित्व में संदेह उत्पन्न करके ऐसा करता है–यह बात अलग है कि लेखक न कोई सुनिश्चित समाधान पेश करता है.....और न किसी पक्ष–विशेष का खुला समर्थन करता है।'[14] स्पष्ट है कि यहाँ एंगेल्स ने यथार्थ की बात करते हुए युग तथा पात्र के यथार्थवादी चित्रण पर जोर दिया है और मार्क्स के साथ यह कभी नहीं स्वीकार करता कि साहित्य वर्गीय हितों को यांत्रिक रूप में प्रतिबिंबित करता है। एंगेल्स ने बालजाक के 'ह्यूमन कॉमेडी' का गहन विश्लेषण करते हुए पाया कि 'बालजाक राजनीतिक दृष्टि से वैधतावादी था.....उसकी सहानुभूति उस वर्ग के साथ है जो सर्वनाश के लिए अभिशप्त है। फिर भी उसका व्यंग्य तभी सबसे ज्यादा तीखा और कटु होता है जब वह उन पुरूषों और महिलाओं का चित्रण करता है जिनके प्रति उसकी गहरी सहानुभूति है–वह वर्ग है सामंत वर्ग। जिन पुरूषों की वह खुलकर प्रशंसा करता है वे हैं उसके घोर राजनीतिक शत्रु ...गणतन्त्र के नेता ...उस समय (1830–36) सही मायने में जनता के प्रतिनिधि।'[15] अपने समय में एंगेल्स ने यथार्थवादी कला की प्रवृत्तिमूलकता तथा उसके व्यक्तिगत पात्रों के चित्रण का प्रश्न उठाया था। उसका मानना है कि ''किसी भी लेखक का अपनी कृति के नायक के प्रति सम्मोहित हो जाना अच्छी बात नहीं है''।[16] यहाँ पर एंगेल्स प्रवृत्यात्मकता (tendeniousness) का विरोध नहीं करता, लेकिन इस बात पर बल देता है कि लेखक की अपनी विचारधारा तथा पक्षपातपूर्ण रूख, बिना किसी संकेत के परिस्थितियों के बीच से ही उद्घाटित होना चाहिए तथा लेखक को सामाजिक संघर्षों के भावी समाधान की ओर संकेत करने की भी चिन्ता नहीं होनी चाहिए।

बालजाक ने अपने राजनीतिक विरोधियों (रिपब्लिकन क्रांतिकारियों) को अपने समय के असली नायकों के रूप में प्रस्तुत किया है। बालजाक के इस अन्तर्विरोध को उजागर करते हुए एंगेल्स ने लिखा है कि ''बालजाक का अपनी वर्गीय सहानुभूति और राजनीतिक

पूर्वग्रहों के खिलाफ बाध्य होकर लिखना, अपने प्रिय कुलीनों के अवश्यंभावी विनाश को देख पाना और उनका चित्रण इस तरह से करना कि गोया इससे बेहतर उनकी नियति हो ही नहीं सकती थी, उनके भविष्य के लोगों को वहाँ देख पाना जहाँ वे सचमुच उनके समय में पाये जा सकते थे, मेरी राय में यथार्थवाद की एक महानतम् विजय है और बूढ़े बालजाक की सबसे शानदार उपलब्धि है।''[17] इस शानदार उपलब्धि को बालजाक की ईमानदारी के रूप में देखा जाना चाहिए। वह समस्त कृत्रिमता से कोसों दूर है। बालजाक ने व्यक्तिगत उद्देश्यों को वास्तविक यथार्थ के ऊपर हावी नहीं होने दिया है। उसके पात्रों का स्वाभाविक रूप में चरित्र–विकास होता है।

मार्क्स जब साहित्य के बारे में सोचते थे तब उनके समक्ष व्यापक आर्थिक, सामाजिक और ऐतिहासिक सन्दर्भ होता था तथा जब वह किसी खास लेखक के बारे में या खास किस्म की रचनाओं के बारे में सोचते थे तब उनके सामने लेखकों का और अनेक भाषाओं की दूसरी रचनाओं का सन्दर्भ मौजूद रहता था। मार्क्स को कृति में मौजूद हर तरह के तथा कथित रूपवाद, सौन्दर्यवाद और अलंकारवाद से चिढ़–सी थी जो कि भावुकता या अज्ञान को सुन्दर शब्दों में प्रस्तुत करता है। इसलिए उन्होंने रूप संबंधी सवालों को अलग से कोई महत्व नहीं दिया है।'हीगेल' की तरह उनका साहित्यिक सौन्दर्यशास्त्र, विषयवस्तु और उद्देश्य को विशेष महत्व देते प्रतीत होते हैं। उनका मानना था कि ''रूप का कोई मूल्य नहीं, अगर वह अपनी अन्तर्वस्तु का रूप नहीं है।''[18] साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करते समय वे इस बात पर अधिक जोर देते हैं कि ''कोई कृति क्या कहती है और कैसे कहती है।''[19] यदि देखा जाय तो मार्क्स का इशारा 'कथ्य' और 'कथन' के मध्य सामंजस्य स्थापित करने की ओर था और यही कारण है कि उन्हें कथाकारों की अपेक्षा कथा पर अधिक भरोसा था।

मार्क्स–एंगेल्स के पश्चात् लेनिन ने यदा–कदा साहित्य एवं कला के सन्दर्भ में अपने विचारों को रखा। लेनिन ने मार्क्सवादी सिद्धान्तों के आधार पर तोल्स्तोय के व्यक्तित्व व कृतिव की उन असंगतियों व विरोधाभासों को सामने लाने की कोशिश की जिनके कारण

वे एक तरफ महान एवं अनुकरणीय माने जाते हैं और दूसरी तरफ प्रतिक्रियावादी, पराजयवादी एवं त्याज्य। लेनिन ने तोल्स्तोय की कमजोरियों को उसके युग के सन्दर्भ में रखकर देखा है जिसका चित्रण उनकी कृतियों में मिलता है। लेनिन तोल्स्तोय की महानता उनके यथार्थ चित्रण में पाते थे और यही कारण है कि उन्होंने तोल्स्तोय की कृतियों को रूसी–क्रांति का दर्पण कहा। तोल्स्तोय ने अपने चित्रण से चर्च, जमींदार, निजी संपत्ति, राज्य इत्यादि शोषक सत्ताओं के जघन्य कृत्यों का पर्दाफाश किया।[20]

लेनिन इस बात के हिमायती थे कि समाजवादी क्रांति के अनुरूप साहित्य एवं कला का विकास हो तथा पतनशील बुर्जुआ संस्कृति एवं विचारधारा के प्रचार–प्रसार पर रोक लगाकर सोवियत जनता की कलाभिरूचि को फलने–फूलने का अवसर दिया जाय। उन्होंने एक स्तर पर साहित्य एवं कला के जनवादी रूप की हिमायत की है और दूसरे स्तर पर उन समस्त कला आंदोलनों एवं प्रवृत्तियों पर कड़ा प्रहार किया, जो तथाकथित आधुनिकता के नाम पर उदीयमान रचनाकारों एवं कलाकारों को अपनी ओर आकर्षित कर क्रांति के उद्देश्यों को गलत साबित करने का प्रयास कर रहे थे। कुल मिलाकर देखा जाय तो लेनिन, साहित्य एवं कला के संबंध में क्रांतिकारी यथार्थ जीवन के चित्रण व जन–सामान्य के हितों की बात करते हैं। वे साहित्य एवं कला को जन–संस्कृति के रूप में देखते हैं और साहित्य–रचना में सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी दृष्टिकोण की हिमायत करते हैं।

कला के सामाजिक उद्‌गम की पहचान करने वाले में एक महत्वपूर्ण नाम गिओर्गी प्लेखानोव का भी है। प्लेखानोव ने सौन्दर्यशास्त्र और कला के आदि स्रोतों को अध्ययन करने के लिए मार्क्सवादी विचारधारा को सामने रखा। आरम्भ में ऐसे लोकप्रिय उपन्यास–लेखन का विरोध किया जो रूसी गाँवों के यथार्थवादी चित्रण के बहाने अतिरंजित और उत्तेजक सामग्री उपस्थित करता है। प्लेखानेव ने अपनी विचारधारा को वैज्ञानिक समीक्षा कहा और 'कला, कला के लिए' वाली अवधारणा का विरोध किया। 'कला, कला के लिए' प्रवृत्ति कलाकारों में उस समय जन्म लेती है जब उनकी अपने युग

के सामाजिक परिवेश से संगति नहीं रह पाती। प्लेखानोव के अनुसार ''समाज कलाकार के लिए नहीं बना है बल्कि कलाकार समाज के लिए बना है। कलाकार का कार्य मानव–चेतना के विकास में सहायता करना है, सामाजिक व्यवस्था को उन्नत बनाना है।''[21]

प्लेखानेव कलात्मक मानदण्ड को रूप और अन्तर्वस्तु की संगति में निहित मानते हैं। उनका कहना है कि ''प्रारम्भिक फ्रांसीसी यथार्थवादियों ने स्वच्छन्दतावादी रचनाओं की मुख्य खामी, यानी उनके नायकों के आडम्बरपूर्ण बनावटी चरित्र को दूर करने की कोशिश की थी। इसलिए फ्लाबेअर के उपन्यासों में (शायद सलाम्बों और कोंत को छोड़कर) स्वछन्दतावादी, बनावटीपन और आडम्बर का लेश भी नहीं मिलता। प्रारम्भिक यथार्थवादी बुर्जुआ के विरूद्ध लगातार विद्रोह करते रहे, लेकिन ऐसा उन्होंने दूसरे ढंग से किया। उन्होंने बुर्जुआ असंस्कृतों के मुकाबले ऐसे नायक नहीं सृजित किए जो यथार्थ में मौजूद नहीं थे, इसके बजाय उन्होंने असंस्कृतों को ही विश्वसनीय कलात्मक प्रस्तुति बनाने की कोशिश की। फ्लाबेअर अपने सामाजिक वातावरण के वर्णन के लिए उसी तरह वस्तुगत होना अपना कर्तव्य समझता था जैसे प्रकृतिविज्ञानी प्रकृति के प्रति होता है।''[22]

वस्तुतः देखा जाय तो प्लेखानेव कला के प्रति उपयोगितावादी दृष्टिकोण का समर्थन करते थे तथा प्रचार साहित्य तथा साहित्य या कला की व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का विरोध भी। उपन्यास के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष को लेकर मार्क्सवादी आलोचकों में सबसे महत्वपूर्ण कार्य जार्ज लुकाच का रहा है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'उपन्यास का सिद्धांत' (थियोरी ऑफ नॉवेल) में लुकाच ने उपन्यास की सैद्धांतिक, ऐतिहासिक और दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है। वैसे यदि देखा जाय तो लुकाच का सबसे महत्वपूर्ण कार्य उपन्यास के यथार्थ को लेकर है।

लुकाच की दृष्टि में ''उपन्यास जीवन में छिपी समग्रता को अनावृत करने और उसका निर्माण करने का प्रयास करता है, उसके नायक को इस ऐहिक संसार में जीवन का लक्ष्य

और अर्थ पाने का प्रयत्न करना पड़ता है, पर जीवन उसे यह सब न देकर निराश करता है।''[23] यदि देखा जाय तो इस निराशा की वजह है नायक और ऐहिक संसार के बीच अनिवार्य तनाव। जिन मूल्यों को नायक प्राप्त करना चाहता है उन्हें इस अनिश्चित संसार में पाना कठिन है। यहाँ यह कहना ठीक होगा कि उपन्यास मानव के विकास की अत्यन्त महत्वपूर्ण विधा है। इसमें बहुत कुछ ऐसा होता है जिसमें मनुष्य का निजी और सामाजिक व्यक्तित्व दिखाई देता है। यह व्यक्तित्व–चित्रण दो रूपों में दिखाई देता है। एक कलाकार के रचनात्मक प्रयत्न में, जब वह बाहरी दुनिया की असंबद्ध प्रतीत होने वाली चीजों के साथ संबद्धता स्थापना की प्रक्रिया में होता है और दूसरा जहाँ उपन्यासकार की रचनात्मकता को बाह्य सत्ता प्रभावित करने लगती है।

लुकाच ने लिखा है कि ''उपन्यास उस युग का महाकाव्य है जिसमें जीवन की विस्तृत संपूर्णता प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान नहीं रह जाती, और जिसमें जीवन अर्थ की अंतर्व्याप्ति एक समस्या बन चुकी होती है, लेकिन फिर भी जो संपूर्णता के ही अर्थों में सोचता है।''[24] लुकाच ने महाकाव्य और उपन्यास को उत्कृष्ट साहित्य की श्रेणी में रखा है। ये दोनों विधाएँ अपने–अपने अभिप्राय को लेकर एक दूसरी से अलग हैं। दोनों को स्पष्ट करते हुए लुकाच ने लिखा है कि ''महाकाव्य एक ऐसी जीवन–समग्रता को रूप देता है जो अपने अन्दर से ही वृत्ताकार होती है, जबकि उपन्यास रूप का प्रयोग करके छिपी हुई जीवन–समग्रता को अनावृत्त और निर्मित करना चाहता है।''[25] महाकाव्य पूर्णता के संसार को रूप प्रदान करना है, तो उपन्यास जीवन के बाह्यन्तर सत्य का उद्‌घाटन। महाकाव्य में बिखरे संसार के एक विशिष्ट खण्ड को उठाकर महाकवि अपनी कृति में रखता है और उसे जीवन–समग्रता के प्रतिनिधि के रूप चित्रित करता है। वहाँ पात्रों व घटनाओं के माध्यम से जीवन की गम्भीर समस्याओं को उठाया जाता है। इस प्रक्रिया में संपूर्णता की ओर बराबर संकेत होता रहता है। महाकाव्य का नायक 'व्यक्ति' नहीं होता क्योंकि महाकाव्य 'व्यक्ति' के भाग्य का नहीं, संपूर्ण जाति का वर्णन करता है।[26] दरअसल, उपन्यास में मुख्यतः परिवेश की चीजों का चित्रण होता है जहाँ समग्रता को उपलब्ध करने

की चुनौती होती है। लुकाच के लिए उपन्यास 'अपने समय की दार्शनिक स्थिति' से अनिवार्यतः जुड़ा होता है और वास्तविक जीवन के अलगाव और विभाजन उपन्यास के रचनाविधान को प्रभावित करते हैं। उपन्यास में जीवनवृत्त के द्वारा अर्थवत्ता से रहित वस्तुओं को प्रभावित किया जाता है। लुकाच का कहना है कि उपन्यास का स्वभाव परिपक्व और सशक्त होता है। यहाँ कोरी आत्मपरक अथवा कोरी वस्तुपरक दृष्टियाँ कारगर नहीं होतीं। उपन्यास के संसार की समग्रता वस्तुपरक ढंग से देखे जाने पर अपूर्ण प्रतीत होती है और आत्मपरक ढंग से देखे जाने पर परित्यक्त लगने लगती है। इसलिए उपन्यास को नियंत्रित करने करने के दो खतरे होते हैं। स्थूल चित्रण से अपेक्षित अर्थ व्याप्ति नहीं हो पाती। कभी–कभी उपन्यासकार में संसार की असंगति को ठीक करने और संगति को आत्मसात करने की इच्छा इतनी बलवती होती है कि वह उपन्यास के संसार के वृत्त को समय से पहले ही बंद कर देती है, जिसके कारण रूप अनेक अलग और असमान भागों में बँट–बिखर जाता है।[27]

उपन्यास और साहित्य की अन्य विधाओं की रचना–प्रक्रिया में अन्तर करते हुए लुकाच ने लिखा है कि ''उपन्यास की रचना–प्रक्रिया में आचरण सिद्धांतों और सौन्दर्य सिद्धांतों के बीच का संबंध एक तरह का होता है, और साहित्य की दूसरी विधाओं में दूसरी तरह का।''[28] अर्थात् उपन्यास का जो 'आचरण सिद्धांत' है वह प्रत्येक विवरण की बुनावट में प्रतिबिम्बित होता है। लुकाच ने लिखा है कि ''उपन्यास की प्रकृति अपनी प्रक्रिया में पूर्णता को वहीं तक नकारती है, जहाँ तक वह विषयवस्तु से संबन्धित होती है। उपन्यास जहाँ तक रूप है वहाँ तक बनने और होने के बीच एक अस्थिर यद्यपि दृढ़ संतुलन स्थापित करता है, बनने के पीछे काम करने वाला, यह विचार एक मूर्त अवस्था बन जाता है। इस प्रकार उपन्यास स्वयं को बनने की स्वाभाविक दशा में ढालता है और स्वयं से ऊपर उठ जाता है।''[29]

लुकाच उपन्यास के बाहरी रूप को आत्मकथा के रूप में देखा है। उसका मानना है कि एक ओर संयोजनबद्ध अवधारणाएँ जीवन को पूर्णता में नहीं पकड़ पाती हैं और दूसरी ओर

संश्लिष्ट जीवन उस पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि पूर्णता अपने में काल्पनिक होती है।[30] इन दानों के बीच के उतार–चढ़ाव में आत्मकथा के उद्देश्य को चिन्हित किया जा सकता है। ''उपन्यास का आन्तरिक रूप व्यक्ति द्वारा अपने निज की ओर की गई यात्रा की प्रक्रिया है, इस यात्रा का मार्ग एक सामान्यतया उपस्थित वास्तविकता के बंधन से प्रारम्भ होकर–वास्तविकता भी ऐसी कि अपने आप में विसंगतिपूर्ण और व्यक्ति के लिए निरर्थक हो–स्पष्ट आत्मबोध की ओर जाता है।''[31] इस आत्मबोध में मिलने वाला आदर्श अपने पूर्ण अर्थ में व्यक्ति जीवन को प्रकाशित करता है। यहाँ 'है' और 'होना चाहिए' के असमाप्त संघर्ष में एक सामंजस्य की स्थिति बनानी होती है।

लुकाच की नज़र में उपन्यास की सीमाओं का न होना अच्छी बात नहीं। ''इसलिए उपन्यास में कुछ ऐसी आरोपित सीमाओं की आवश्यकता पड़ती है जो रूप प्राप्त करने में सहायक हो सके।''[32] आरोपित सीमाओं से आशय है उपन्यास के आत्मकथा वाले रूप से जिसमें नायक के अनुभवों की सीमा होती है और संसार का विस्तार सीमित होता है साथ ही उसमें अनपेक्षित व्यक्तियों तथा निरर्थक घटनाओं की अभिव्यक्ति होती है।

उपन्यास जीवन के स्वाभाविक पक्षों–आरम्भ और अंत, जन्म और मृत्यु–से अनिवार्यतः जुड़ा नहीं होता है फिर भी वह संकेत करता है कि जीवन का वह कौन सा भाग केन्द्रीय समस्या द्वारा नियमित होता है। इस प्रक्रिया में केन्द्रीय समस्या से जुड़ी जुड़ी प्रत्येक वस्तु को वहीं तक केवल छूता है जहाँ तक केन्द्रीयता से जुड़ी होती है।[33] केन्द्रीयता ही उपन्यास का कथ्य और सार है। लुकाच ने लिखा है कि ''उपन्यास की विषयवस्तु उस आत्मा की कहानी होती है जो स्वयं को पाने के लिए सक्रिय होती है, वह साहसिक कार्यों के प्रति इसलिए आकृष्ट होती है कि उनके द्वारा प्रमाणित और परीक्षित हो सके और इस तरह स्वयं को प्रमाणित करके अपना सारतत्व पा सके।''[34] उपन्यास में प्रदत्त विश्व और समाज तथा मानवीय आकांक्षा के बीच सतत द्वन्द्व दिखाया जाता है। बेहतर की खोज में प्रदत्त से संघर्ष करने में विरोधाभास भी दिखाई दे सकता है। लुकाच ने उपन्यास के विरोधाभास पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि ''उपन्यास की विरोधाभासपूर्ण प्रकृति

स्पष्टतम रूप से इस बात में उद्‌घाटित होती है कि विश्वस्थिति और मानव प्रकार जो उपन्यास की रूपगत आवश्यकताओं के समानांतर चलते हैं–जिनके लिए यही एक मात्र उपयुक्त रूप है–लेखक के सामने ऐसी समस्याएँ प्रस्तुत करते हैं जिनका समाधान संभव नहीं है।''[35] लुकाच ने उपन्यास को, एन्द्रिक अनुभवों और कटुता का, पीड़ा और झुंझलाहट का एक सुन्दर व अवास्तविक मिश्रण माना है जो एकीकृत नहीं रह पाता।

रैल्फ फॉक्स ने उपन्यास के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण कार्य किया। फॉक्स मानते हैं कि मानव–जीवन और साहित्य का कभी भी न समाप्त होने वाला अटूट संबंध होता है। उन्होंने लिखा भी है कि ''मैं उपन्यास कला के भविष्य में विश्वास करता हूँ, हालांकि इसका वर्तमान बहुत ही अस्थिर प्रतीत होता है। यह हमारी सभ्यता की महान लोक कला है। हमारे पूर्वजों के महाकाव्य और 'शांशो दा जेस्ट' की उत्तराधिकारी है, और यह बराबर जीवित रहेगी।''[36] उपन्यास आधुनिक युग की एक नवीन कला है। यह साहित्य की अन्य विधाओं से अधिक परिपक्व है। इसके जन्म में लोककथाओं, आख्यायिका, गल्प, कथा–कहानी आदि का विशेष योगदान रहा है। इसमें मानव–जीवन को पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है। इसलिए उपन्यास कोई साधारण कथात्मक गद्य नहीं, मानव–जीवन का गद्य है।

उपन्यास में महान लोक–कला अर्थात् लोक–समूह की युग–युग की वाणी–साधना, लोक–मानस का प्रतिबिंबन तथा व्यक्ति के बदले लोक को केन्द्र में देखने जैसी बातों का स्वीकार होता है।फॉक्स ने उपन्यास को पूँजीवादी युग की एक नवीन विधा के रूप में देखा है। साहित्य का यह नया रूप कला के प्रत्येक मानव–चेतना के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। फॉक्स का मानना है कि उपन्यास, समाज तथा प्रकृति के विरूद्ध व्यक्ति के संघर्ष का महाकाव्य है। जिस समाज में व्यक्ति और समाज का संतुलन नष्ट हो गया हो वहाँ उपन्यास फलता–फूलता है। ऐसा ही पूँजीवादी समाज है। फॉक्स उपन्यास का आरम्भ और विकास महाकाव्य की परंपराओं से मानते हैं। उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य नए मनुष्य की जरूरतों को पूरा करना और उसकी आकांक्षाओं को मुखरित कर उसके समाज

का यथार्थ–चित्रण प्रस्तुत करना है।[37] उपन्यास में यथार्थ चित्रण कला और साहित्य की दूसरी विधाओं–कविता, नाटक, सिनेमा आदि–से बिल्कुल अलग तरीके से होता है। इसमें व्यक्ति के छिपे हुए और गुप्त जीवन को अभिव्यक्ति देने की क्षमता होती है। बहुत–सी विधाएँ यथार्थ के खंडित पक्षों को अभिव्यक्त करती हैं जो उपन्यास की पकड़ से बाहर हैं। लेकिन उपन्यास मानव–जीवन को उसकी संपूर्णता में व्यक्त करता है।

उपन्यास लेखक का अपने देश के वर्तमान तथा अतीत दोनों के प्रति एक विशेष दायित्व होता है। उपन्यासकार को अतीत से जो कुछ प्राप्त होता है उसके सही, गलत और महत्वपूर्ण का बेहतर ज्ञान होता है, इसलिए वह अपने समय के जीवन्त तत्वों के बारे में जो कुछ कहता है उसका भी महत्व होता है। लेकिन उसकी कृति में अभिव्यक्ति भी व्यक्तिगत होती है।[38] यह जरूरी है। अन्यथा उपन्यास लेखन केवल व्यक्तियों और घटनाओं का रोचक वर्णन बनकर ही रह जाता है। ऐसी कृति केवल इतिहास मात्र होगी। किसी भी उपन्यास में समाज का कैनवास प्रमुखता से मौजूद रहता है।

किसी भी उपन्यास–लेखन में जीवन्तता अर्थात् सजीवता का होना बेहद जरूरी है। इसके बगैर उपन्यास के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। फॉक्स ने लिखा है कि ''महान उपन्यासों में स्रष्टा पाठकों के बीच एक प्रकार की सजीव एकता होती है जहाँ यह एकता नहीं होती है, वहाँ लेखक अपनी जनता से पृथक होता है, उसकी उपेक्षा करता है या लेखक की आत्मा इस मामले में अचेत होती है, वहाँ रक्त–शून्यता की संभावना भी सर्वाधिक रहती है।[39] यानी लेखक को अपनी जनता से सहानुभूति रखने के साथ–साथ उसे वहाँ के इतिहास, भूगोल के बारे में भी जानना चाहिए, वहाँ के सांस्कृतिक मूल्यों का उपयोग करना चाहिए।

फॉक्स के अध्ययन में प्रथमतः यूरोप के अंग्रेजी, फ्रांसीसी और रूसी उपन्यास आते थे। उनकी नज़र में उपन्यास का दायित्व है कि जीवन के सत्य को उसी रूप में प्रकट करे जिस रूप में वह उसको देखता है, पर साथ ही में परिवर्तनशील समाज में मनुष्य को

परखे। इसी को उसने वास्तविक जीवन और वास्तविक दुनिया कहा है। इस सन्दर्भ में उसने डेफो, फीलि्डग, हार्डी, सैम्युएल बटलर व एमिली ब्रोंटे के काम के मद्दे–नज़र अठारहवीं सदी को उपन्यास का स्वर्गयुग माना जिसकी अगली कड़ी के रूप में 19वीं सदी के उपन्यासकारों–बालजाक, फलाबेयर व तोल्स्ताय–को देखा।[40]

फॉक्स को 18वीं सदी के उपन्यासकारों में सबसे अधिक पसन्द था हेनरी फीलि्डग जिसकी 'जोनाथन वाइल्ड' औपन्यासिक कृति को वह महान कहता है। उसे वह जीवन की अत्यंत भावपूर्ण और तथा प्रेरणापूर्ण टीका पाता है। फॉक्स का कहना है कि ''जोनाथन वाइल्ड में उसने (फीलि्डग ने) जीवन के इस सत्य को जिस रूप में व्यक्त किया है, वैसे न कोई उसके पहले कर सका है और न बाद में, यहाँ तक 'स्विफ्ट' भी उसकी उँचाइयों को छूने में कभी सफल न हो सका। साथ ही यह अभिव्यक्ति एक ऐसे निर्मम और भयानक आक्रोश के साथ उसने की जो अमर है क्योंकि मानवीय जीवन के अधोपतन के प्रति मानवीय आक्रोश का मूर्त रूप है।''[41] फॉक्स फीलि्डग को उपन्यासकार के इस सर्वोच्च आसन पर बिठाते हुए उसके आलोचकों द्वारा की गई आलोचना को ध्यान में रखते हुए कहता है कि ''फीलि्डग पर यह दोष लगाया जाता है कि उसके उपन्यासों में उपदेशों की भरमार है। किन्तु अगर सब उपदेशों को हटा दिया जाय तो समाज की उनकी आलोचना फिर भी लुप्त न होगी, क्योंकि वह स्वयं उनकी कहानी में निहित है। हाँ, ऐसा करने पर अंग्रेजी भाषा में कुछ श्रेष्ठतम निबंध अवश्य गायब हो जायेंगे।''[42] फॉक्स ने फीलि्डग के उपन्यासों की शिल्पगत कमियों को उसके समय में ही पाया। फीलि्डग के समय तक खास तौर से अंग्रेजी उपन्यास के शिल्प में वैसा निखार नहीं आ पाया था जैसा बाद में फलावेयर व गोन्कार्ट बन्धुओं के फ्रांसीसी उपन्यासों और हेनरी जेम्स के अंग्रेजी उपन्यासों के शिल्प में नज़र आया। इसके बावजूद फॉक्स की दृष्टि में फीलि्डग 18वीं सदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार इसलिए हैं कि उन्होंने अपने समय के समाज और जीवन के सत्य को पहचान और उसे सही अभिव्यक्ति दी।

उपन्यास के विकास में फॉक्स स्टर्न के योगदान को विशेष रूप से रेखांकित करते हैं ''स्टर्न प्रथम लेखक थे जिन्होंने समय या काल को नष्ट किया, उपन्यास में सापेक्षतावाद का सूत्रपात किया।''[43] इस बात से समय और काल की पृष्ठिभूमि में कहानी कहने की परंपरा के विरूद्ध वास्तविकता को बढ़ावा भी मिला। उस समय इंग्लैंड के महत्वपूर्ण उपन्यासकार 'स्कॉट' की यह कहकर आलोचना हो रही थी किवह एक निरा किस्सागो है और उसकी कहानियाँ उसकी कहानियाँ दक्षता से गुंथी हुई और असह्य भावुकता से परिपूर्ण है। फॉक्स ने लिखा है कि ''स्कॉट मानव को उसके वास्तविकता रूप में नहीं देख सका। उसके पात्र इतिहास के वास्तविक पुरूष और स्त्रियाँ नहीं हैं, बल्कि यूँ कहना चाहिए कि वे उन्नीसवीं शताब्दी के आदिकाल के अंग्रेजी उच्च मध्यमवर्गीय तथा व्यापारोन्मुख अभिजात्य वर्ग के लोग हैं, जिनको उसने अपने ही रंग में रँगकर पेश किया है।''[44] हालाँकि बहुत से आलोचकों के अनुसार स्कॉट अपने समय का ऐसा उपन्यासकार है जो मानव–जीवन को देखने के साथ ही उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की जाँच करना भी जरूरी समझता था।

विक्टोरिया काल के उपन्यासकारों में फॉक्स को डिकेंस महत्वपूर्ण लगते हैं। डिकेंस का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि ''उन्होंने अंग्रेजी उपन्यास को निसंदेह नया जीवन दिया, जो पिछली सदी के मध्य में अपनी शानदार विजय के बाद मृतप्राय हो गया था। डिकेंस के रूप में एक ऐसा प्रतिभाशाली लेखक प्राप्त हुआ, जिसने उपन्यास को महाकाव्य का गुण फिर पूर्णतया प्रदान किया, और अपनी प्रचुर कल्पना से ऐसी–ऐसी कहानियों, कविताओं तथा पात्रों की सृष्टि की जो कि अंग्रेजी भाषा–भाषी दुनिया के जीवन का अभिन्न अंग बन चुके हैं। उनके कुछ पात्र तो कहावतों की भाँति जीवित हैं और हमारे आधुनिक लोक–साहित्य में उन्हें घर का लिया है।''[45] इन्हीं विशेषताओं की वजह से तोल्स्तोय भी डिकेंस से प्रभावित था, ऐसा फॉक्स का मानना है।

फॉक्स ने प्रसिद्ध उपन्यासकार बालजाक की तुलना नेपोलियन से की है। बालजाक ने साहित्य के क्षेत्र में सामंती विचारों को उतनी ही पूर्णता के साथ नष्ट किया, जितनी पूर्णता

के साथ राजनीतिक क्षेत्र में नेपोलियन बोनापार्ट ने सामंती व्यवस्था को नष्ट किया था।[46] बालजाक मानव को सामाजिक सृष्टि के रूप में तथा ऐतिहासिक पृष्ठिभूमि में देखता था। उसका मानना था कि मानव का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से सच्चे अर्थों में यथार्थवादी दृष्टिकोण से होना चाहिए है। बालजाक मानव–समुदाय का उसके संघर्ष में विकास देखता था। फ्लॉबेयर के विषय में फॉक्स का कहना है कि ''वह एक ईमानदार आदमी और महान कलाकार थे। उनके उत्तराधिकारियों ने जहाँ अपने युग की वास्तविकता पर काबू पाने के कार्य से बचकर उसकी जगह जीवन की फाँक या अपनी निजी चेतना की धारा में ही संतोष कर लिया, वहाँ वह इतनी आसानी से हथियार डालने को तैयार न हुए। फ्लॉबेयर के सामने एक ऐसे जीवन और एक ऐसी वास्तविकता के साथ उनके अत्यंत भयानक संघर्ष की आत्मस्वीकृति है, जो उनके लिए दुस्सह हो उठे थे। फ्लॉबेयर–जैसी घृणा के साथ बुर्जुआ वर्ग के विरूद्ध अन्य किसी का प्रकोप न फूटा होगा।''[47] यह घृणा समाज द्वारा पतित, सताए और छले गए मानव के प्रति प्रेम का एक अन्तर्मुखी रूप थी। वह समाज सम्पत्ति को ही मानवीय मूल्यों की एकमात्र कसौटी मानता था।

समाजवादी उपन्यासकारों से फॉक्स की यह शिकायत थी कि ''वे अपनी समूची प्रतिभा और शक्ति किसी एक हड़ताल, सामाजिक आन्दोलन, समाजवाद के निर्माण, क्रांति या गृहयुद्ध का चित्रण करने में खर्च कर देते और यह नहीं सोचते कि सर्वोच्च महत्व की चीज सामाजिक पृष्ठभूमि नहीं, बल्कि उस सामाजिक पृष्ठभूमि में स्वंय अपना पूर्ण विकास करने वाला मानव है।''[48] जीवन में परिवर्तन व आत्मसृष्टि होती रहती है। फॉक्स ने उपन्यास में कल्पना की उड़ान और व्यंग्य–दृष्टि को अधिक महत्वपूर्ण माना।

अर्न्स्ट फिशर के यहाँ ''कलाकार होने के लिए अनुभव को पकड़ना, उस पर अधिकार करना, उसे स्मृति में रूपांतरित करना, और स्मृति को अभिव्यक्ति में, वस्तु को रूप में रूपांतरित करना आवश्यक है।''[49] यहाँ स्पष्ट है कि फिशर कला पर कलाकार का

नियंत्रण लाना चाहता है। जहाँ तनाव तथा द्वन्द्वात्मक अंतर्विरोध होते हैं, वहाँ कला को वस्तुपरकता में से अपना रूप ग्रहण करना चाहिए।

फिशर बालजाक का मूल्यांकन करते हुए पाता है कि ''बाद के अपने उपन्यासों में बालजाक पूँजीवादी जगत की विजय को स्वीकार करने लगा था, लेकिन उसके प्रतिनिधियों के प्रति उसकी नफरत ज्यों की त्यों रही। बालजाक बार–बार ऐसे लोगों को, जो अपने काम में खोए रहते हैं। यानी, 'ली कूसीन वेट' के वेंचस्लौस जैसे लोगों को, जो उसकी नज़र में स्वयं को किसी उच्छृंखल कल्पना के हवाले कर देने वाली वेश्या का सा जीवन बिताते थे, पूँजीपति वर्ग के प्रतिनायकों के रूप में दिखाता है।''[50] स्पष्ट है कि बालजाक का महान जगत से आशय उस यथार्थवादी परिवेश से है जहाँ वह पूँजीवादी जगत से समझौता नहीं करना चाहता है। इसी तरह वह स्तेंदल के उपन्यास 'लूसिएँ ल्यूवें' को सबसे अधिक निर्भीक तथा सुसंगत उपन्यासों में से एक मानता है। अपनी सामाजिक अन्तर्दृष्टि और आलोचना की निर्भीकता के कारण इस अधूरे उपन्यास ने स्वच्छन्दतावाद की दीवारों को तोड़ा। यह बॉलजाक की रचनाओं को भी पीछे छोड़ देता है।[51]

इसी क्रम में फिशर आगे लिखता है कि ''लूसिएँ ल्यूवें में हमे एक निर्भ्रांत और निर्मम परिपक्वता मिलती है, एक अंतर्विरोधी आलोचना मिलती है, जो न केवल नैतिक है बल्कि सौन्दर्यात्मक भी है। उपन्यास वहाँ जाकर अधूरा छूट गया है, जहाँ वह 'ला नूवेल हेलोईज' द्वारा प्रसिद्ध बनाए गए स्थलों की सैर करता है, और फिर इटली जाता है जहाँ एक शांति, उदासी उसकी आत्मा को कला की ओर प्रेरित करती है।''[52] कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि फिशर की परिपक्व आलोचना के बावजूद उसकी उपन्यास–संबंधी आलोचना का दायरा बहुत ही सीमित है। फिशर का सबसे अधिक जोर कला और कलाकार दोनों को ही महत्वपूर्ण माना है।

कला को एक सामाजिक कार्य–व्यापार के रूप में देखने वालों में सबसे अधिक जोर क्रिस्ट्रोफर कॉडवेल का रहा है। उसने कला को समाज की सीपी से उत्पन्न मोती की संज्ञा दी है। कहने की जरूरत नहीं है कि साहित्य की उपमा मोती से देकर कॉडवेल ने उसके सौन्दर्य–पक्ष को स्वीकार किया है। कॉडवेल का स्पष्ट मानना है कि ''कला का सामूहिक संसार यथार्थ सामाजिक जीवन के सामूहिक संसार द्वारा पोषित होता है, कारण उसका निर्माण उन उपकरणों से हुआ है जो अपना गठन तथा अपने संवेदनात्मक संबंध सामाजिक प्रयोगों से ही प्राप्त करते है।''[53] अतीत के साथ नए विचारों का स्वागत होना चाहिए। कॉडवेल के लिए कलाकार, कला के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त नहीं करता बल्कि अपने आत्म की खोज करता है।

यदि देखा जाय तो कॉडवेल मुख्य रूप से कविता के आलोचक हैं। कविता के बरक्स उपन्यास को रखते हुए उन्होंने लिखा है कि ''उपन्यास पहले यथार्थ के एक निर्वैयक्तिक विवरण के साथ ही उभरता है। उपन्यासकार और उसकी रचना का पाठक–दोनों इससे बाहर होते हैं जो कुछ घट रहा है उसको वे देखते रहते हैं। वे पात्रों के प्रति सहानुभूतिशील होते जाते हैं। पात्र परिचित दृश्यों के बीच डोलते रहते हैं और ये ही उनके आवेगों को उभारते हैं। ऐसा लगता है जैसे वे एक दुनिया में विचर रहे हैं और अपने निर्णयों का प्रयोग कर रहे हैं, जबकि कवि जिस दुनिया को प्रस्तुत करता है वह पहले से भावना के रंग में डूबी होती है। उपन्यास का पाठक तत्काल अपना तादात्म्य उस तरह उपन्यासकार के साथ कायम नहीं कर लेताजैसे कि कविता का पाठक कर लेता है।''[54] कविता में कवि की अभिव्यक्ति पाठक की अनुभूति होती है और उपन्यास अथवा कहानी में पाठक कहानी को जीता हुआ महसूस करता है।

कॉडवेल ने लिखा है कि ''उपन्यास का विकास निश्चित था.....पूँजीवाद में श्रम–विभाजन के फलस्वरूप उत्पादक की शक्तियों की वृद्धि से समाज में न केवल विभेदीकरण बढ़ा अपितु अपने आधार को निरन्तर बदलते रहने के फलस्वरूप जीवन में अनंत परिवर्तन और गति आई। जैसे–जैसे पूँजीवाद का ह्रास हुआ, उपन्यास ने मनुष्यों के

इस अनुभव को अभिव्यक्ति प्रदान की कि आर्थिक विभेदीकरण स्वातंत्र्य का साधन न रहकर व्यक्ति को कुचलने वाली रबड़ की मुहर बनकर रह गया है।.... अतः ऐसे युग में क्रांतिकारी उथल–पुथल के साथ उपन्यास का अनिवार्यतः ह्रास होता है।''[55] यानी, पूँजीवाद में रचनात्मक साहित्य की शक्ति है तथा साथ ही वह अपने अपरिहार्य पतन में अलगाववादी अमानवीकृत कला की रचना भी करती है।

लूसिएँ गोल्डमान ने उपन्यास के समाजशास्त्रीय अध्ययन के अन्तर्गत उपन्यास के स्वरूप की सामाजिकता पर विचार किया तथा कुछ महत्वपूर्ण उपन्यासकारों का मूल्यांकन भी। उपन्यास के संबंध में गोल्डमान का विचार है कि ''उपन्यास एक प्रकार की अधम (जिसे लूकाच ने 'आसुरी' कहा है) खोज है–एक गिरे हुए संसार में सच्चे या प्रामाणिक मूल्यों की खोज। किन्तु इस खोज का स्तर कुछ ऊँचा होता है। इसकी पद्धति भिन्न होती है।''[56] यहाँ गोल्डमान का प्रामाणिक मूल्यों से आशय उन मूल्यों से है ''जो उपन्यास में प्रकट रूप से मौजूद न रहते हुए भी उसके संसार को मिलाकर अंतर्निहित पद्धति के अनुसार संगठित करते हैं।''[57]

गोल्डमान ने उपन्यास को महाकाव्यात्मक विधा के रूप में देखा है जो लोककथा एवं महाकाव्य से इसलिए भिन्न है कि यहाँ नायक और चित्रित संसार के मध्य एक दुर्लक्ष्य दरार होती है। गोल्डमान ने लिखा है कि ''चूँकि उपन्यास एक अप्रामाणिक विश्व में प्रामाणिक मूल्यों की विकृत खोज की कहानी है। अतः यह अनिवार्यतः जीवनी के साथ–साथ सामाजिक इतिवृत्त भी है। एक विशेषरूप से महत्वपूर्ण तथ्य यह हैं कि एक लेखक की अपने द्वारा सर्जित जगत के सन्दर्भ में जो स्थिति होती है वह उपन्यास में अन्य किसी विधा की तुलना में, एकदम भिन्न होती है।''[58] ऐसा इसलिए होता है कि यहाँ उपन्यासकार द्वारा अपने नायकों की चेतना का अतिक्रमण होता है और यह अतिक्रमण ही कथा–सर्जना का विधायक तत्व होता है। गोल्डमान इससे सहमत है कि उपन्यास अपने ऐतिहासिक विकास के प्रारम्भिक दिनों में मूलतः जीवनी और सामाजिक इतिवृत्त था। यह सामाजिक इतिवृत्त कमोवेश उस युग के समाज को चित्रित करता है। गोल्डमान के लिए

उपन्यास विधा बाज़ार–उत्पादन से निर्मित व्यक्तिवादी समाज में दैनिक जीवन का ऐतिहासिक धरातल पर रूपांतरण है। उपन्यास के साहित्यिक रूप और आमतौर पर व्यक्ति तथा पण्य वस्तुओं के मध्य रोजमर्रा के संबंध के बीच वास्तविक सजातीयता है।[59] गोल्डमान ने लिखा भी है कि ''एक साहित्यिक विधा के रूप में उपन्यास की सृष्टि असाधारण घटना नहीं प्रतीत होती। इसका ऊपर से अतिशय जटिल प्रतीत होने वाला रूप वस्तुतः लोगों के रोजमर्रा के अनुभव का हिस्सा होता है।''[60] गोल्डमान, उपन्यास को आलोचनाधर्मी और विरोधमूलक मानने के पक्ष में है क्योंकि उपन्यास विकासशील बुर्जुआ समाज के खिलाफ प्रतिरोध का एक रूप है–एक प्रकार का व्यक्तिगत प्रतिरोध। यदि देखा जाय तो उपन्यास जैसी साहित्यिक विधा के समानांतर किसी ऐसी साहित्यिक विधा का विकास नहीं हुआ जो बुर्जुआ वर्ग के सचेतन मूल्यों तथा वास्तविक आकांक्षाओं के अनुरूप हो।

बालजाक की कृतियों का अध्ययन करते हुए गोल्डमान पाता है कि ''विश्व की ऐसी एक मात्र महान साहित्यिक अभिव्यक्ति है जिसे बुर्जुआ वर्ग के सचेतन मूल्यों के अनुसार गढ़ा गया था। इन मूल्यों का समन्वित नाम है व्यक्तिवाद, सत्ता, मुद्रा तथा काम–वासना की प्यास जो परोपकारिता, उदारता और प्रेम के प्राचीन सामंती मूल्यों पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है।''[61] गोल्डमान का 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद' एक नया प्रयास है, जिसमें साहित्य को विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भ वाली स्वायत्त ईकाई के रूप में देखा गया है और साहित्य दृष्टि समष्टि–चेतना की अवधारणा पर केन्द्रित है। गोल्डमान ने उपन्यास को विशिष्ट सामाजिक संरचना से जोड़ा है और लिखा है कि ''जैसे–जैसे उन्नीसवीं सदी में उपन्यास का विकास होता गया, समस्याधर्मी नायक की अवधारणा उपन्यास की विशेषता बन गयी क्योंकि मध्यवर्ग की उदार विचारधारा का सार था व्यक्तिवाद की कठोर संहिता तथा स्वतंत्रता, समानता और सहिष्णुता के सार्वभौम मूल्यों के प्रति आकर्षण–वे मूल्य जो व्यक्ति के विकास में सहायक होते हैं। इन्हीं मूल्यों से उपन्यास के संघटक तत्व के रूप में व्यक्ति की जीवनी जन्म लेती है पर उसका नायक समस्याधर्मी व्यक्ति होता है।''[62]

समस्याधर्मी नायक वाला, यानी बुर्जुआ यथार्थवादी, उपन्यास पूँजीवादी समाज में विनिमय मूल्य की अवधारणा से घनिष्ट रूप से जुड़ी साहित्यक विधा है, परन्तु वह उस वर्ग की वास्तविकता अथवा संभाव्य चेतना की अभिव्यक्ति नहीं है''[63] वस्तुतः यदि देखा जाय तो गोल्डमान समाज और उपन्यास के बीच कार्य–कारण संबंध को स्वीकार करता है और उपन्यास के संदर्भ में तीन ऐतिहासिक युग की बात करता है जिसमें पहले युग (1880–1914) में उत्पादक संघों तथा उपनिवेशों का विकास–विस्तार हुआ और उपन्यास में नायक का पतन हुआ। दूसरे युग (1918–1939) को गोल्डमान पूँजीवाद पर संकट का युग कहता है जिसमें उपन्यास से नायक अदृश्य हो गया तथा तीसरा युग (1945के बाद) उपभोक्ता पूँजीवाद का है।[64]

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि उपन्यास को लेकर गोल्डमान का चिंतन उन आलोचकों के अधिक निकट है जिनकी नज़र में उपन्यास व्यक्तिवादी तथा उदारवादी दृष्टि से मानव–अनुभव की जटिल विविधता का चित्रण करता है।

रेमेण्ड विलियम्स ने उपन्यासों व नाटकों के विश्लेषण के दौरान अनुभूति की अवधारणा के व्यावहारिक रूप की खोज की है। उन्नीसवीं सदी के कुछ उपन्यासों का विश्लेषण करते हुए औद्योगिक क्रांति के परिणाम स्वरूप ब्रिटेन के समाज में आए बदलाव व उसकी चेतना का स्वरूप जानना चाहा। विलियम्स के अनुसार अनुभूति की संरचना का निर्माण समाज की संवेदनशीलता तथा कल्पनाशीलता के माध्यम से होता है। श्रीमती गास्केल, चार्ल्स डिकेन्स और जार्ज इलियट के उपन्यास पूँजीवाद के प्रभावों की आलोचना की बजाय अनुभूति की संरचना के लिहाज से महत्वपूर्ण हैं। विलियम्स नयी यथार्थवादी धारणा का प्रयोग करते हैं जो परंपरा से भिन्न रूप में है। अपनी पुस्तक 'लंबी क्रांति' (The long Revolution) में उन्होंने लिखा है कि जब मैं उपन्यास की यथार्थवादी परंपरा के बारे में बात करता हूँ तो मेरा मतलब उन उपन्यासों से होता है जिनमें व्यक्तियों के गुणों के माध्यम से समाज के जीवन की समग्र पद्धति के गुणों और विशेषताओं का सृजन और मूल्यांकन

होता है। 'वार एंड पीस', 'मिडिल मार्च' और 'दी रेनबो' जैसे उपन्यासें में इस विशेषता को देखा जा सकता है।[65]

विलियम्स के लिए यथार्थवादी उपन्यासों में समाज और व्यक्ति में से कोई एक गौण और दूसरा प्रमुख नहीं होता है। व्यक्तिगत जीवन का प्रत्येक पहलू समाज के सामान्य जीवन में और सामाजिक नितांत व्यक्तिगत प्रसंगों में व्यक्त होता है। इस बात को तोल्स्तोय और जार्ज इलियट के उपन्यासों में देखा जा सकता है।[66] विलियम्स के यहाँ उपन्यास की आलोचना में इस धारणा का विशेष महत्व है। उनका मानना है कि यथार्थवादी उपन्यास की रचना के लिए एक सच्चे समुदाय की आवश्यकता है। विलियम्स का समुदाय से तात्पर्य ऐसे मानव–समूह से है जिसमें व्यक्ति का आपस में अनेक स्तरों का संबन्ध हो। इसका स्वरूप उन उपन्यासों में मिलता है जहाँ प्रभावशाली ढंग से व्यापक सामाजिक अनुभवों की अभिव्यक्ति होती है। जैसे हार्डी के उपन्यासों में।[67] उपन्यास की आलोचना का विस्तृत और बेहतर रूप उनकी पुस्तक 'अंग्रेजी उपन्यास : डिकेन्स से डी. एच. लारेन्स तक' में देखा जा सकता है। जब इस पुस्तक का लेखन हो रहा था तब उस समय उनके सामने लीविस की 'द ग्रेट टेडिशन' नामक पुस्तक थी, जिसमें अंग्रेजी उपन्यास की परंपरा का मूल्यांकन किया गया था। विलियम्स ने अधिकांशतः परंपरा, इतिहास–दृष्टि व मूल्य–चेतना की दृष्टि से अंग्रेजी उपन्यासों का मूल्यांकन किया। उन्होंने डिकेन्स, जार्ज इलियट, हार्डी, एच. जी. वेल्स, हेनरी जेम्स इत्यादि उपन्यासकारों का मूल्यांकन किया। विलियम्स के लिए डिकेन्स, हार्डी, एच. जी. वेल्स आदि अधिक महत्वपूर्ण हैं।[68]

यदि देखा जाय तो साहित्य की सभी विधाओं में उपन्यास ही वह महत्वपूर्ण विधा है जिसमें मानव–जीवन अपनी समस्त भावनाओं एवं चिन्ताओं के साथ पूर्ण रूप में प्रकट होता है। इसलिए स्वाभाविक है कि यथार्थवाद की जितनी व्यापक एवं सशक्त अभिव्यक्ति इस विधा में संभव हुई है उतनी अन्य में नहीं। कहना न होगा कि ''उपन्यास और यथार्थवाद का नाभिनाल संबन्ध है। हालांकि यथार्थवाद का विस्तार साहित्य की सभी

विधाओं की आलोचना में दिखाई पड़ता है लेकिन कथा–आलोचना के संदर्भ में तो यथार्थवाद ने एक प्रकार से साहित्यिक आधिपत्य (Hegemony) ही प्राप्त कर ली है।''[69]

18वीं सदी से पूर्व पश्चिमी लेखकों की कृतियों में यथार्थ के हलके प्रमाण जरूर मिलते हैं लेकिन उस समय यथार्थवाद की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था। समाज तथा मनुष्य के जीवन को उनकी समूची जटिल भूमिकाओं के साथ जानने और व्यक्त करने का प्रयास यथार्थवाद के उदय के साथ हुआ। यथार्थवाद का पूर्वाभास कराने वाली कृतियों में समाज का जो चित्रण हुआ है वह रचनाकार के सहज बोध अथवा जीवन के वस्तुमुखी चित्रण के प्रति उसकी ईमानदारी है। यदि यथार्थवाद के उद्‌भव को किसी निश्चित काल–सीमा में रखा जाय तो कहा जा सकता है कि साहित्य और कला की महत्वपूर्ण प्रेरक दृष्टि और एक सशक्त आन्दोलन के रूप में इसका विकास 'फ्रांस की क्रांति' (1830) के बाद हुआ। इसके सैद्धांतिक आधार को पुष्ट करने में मुख्य भूमिका मार्क्सवादी साहित्य चिंतकों की रही है, जिन्होंने इसे न केवल सिद्धांत के क्षेत्र में बल्कि रचनात्मक निर्माण के क्षेत्र में भी एक आधार भूमि दी। यानी, उपन्यास की आलोचना में यथार्थवाद का प्रयोग मार्क्सवादी और गैर–मार्क्सवादी दोनों तरह के आलोचक करते रहे हैं लेकिन यथार्थवाद का सबसे अधिक विकास मार्क्सवादी आलोचना में ही हुआ है।

19वीं और 20वीं सदी का साहित्य मूलतः यथार्थवादी दृष्टि को प्रेरणा के रूप में अपनाकर रचा गया। यथार्थवाद की जो उपलब्धियाँ हैं वह इन्हीं शताब्दियों में प्राप्त हुई। विश्व की श्रेष्ठतम रचनाओं का प्रस्फुटन इसी के माध्यम से संभव हुआ। यथार्थवादी विचारधारा के अभ्युदय की पृष्ठभूमि में दार्शनिक, सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक आदि दृष्टियों का समन्वित योगदान रहा है। विज्ञान ने मनुष्य के दृष्टिकोण को तथ्यवादी बनाया। डार्विन के विकासवादी सिद्धांत ने धार्मिक मान्यताओं को झटका दिया। फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद ने मानव–जीवन की वास्तविकताओं–तज्जन्य, विद्रूपता, कुंठा, अतृप्ति, क्षोभ इत्यादि की ओर ध्यान आकर्षित किया तो वहीं दूसरी तरफ कार्ल

मार्क्स की चिंतनधारा ने पददलितों, शोषितों के जीवन–संघर्ष की ओर लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया।[70]

यथार्थ चित्रण के सन्दर्भ में ''मार्क्सवादी साहित्य चिंतन साहित्य एवं कलाओं को मात्र दर्पण नहीं मानता जिसमें वस्तुगत यथार्थ अपने प्राकृत रूप में प्रतिबिंबित होता है। वह साहित्य एवं कला को एक रचनात्मक इयत्ता के रूप में स्वीकार करता है, जहाँ बाह्य यथार्थवाद अपनी सारी प्रामाणिकता के साथ पुनर्रचित होता है।''[71] क्योंकि यह यथार्थवाद मात्र अपने तात्कालिक या वर्तमान संदर्भ से युक्त यथार्थ नहीं होता वरन् अतीत एवं आगत की संभावनाओं से युक्त तथा सत्य को समग्रता और संपूर्ण वस्तुपरकता में प्रस्तुत करता है।

हावर्ड फॉस्ट का कहना है कि ''लेखक कलाकृति के अन्तर्गत यथार्थ का चित्रण यांत्रिक विधि से न करके, उसी जीवंत सृजन–प्रक्रिया के आधार पर करे, जो जीवन के विशाल कैनवास से प्रभावशाली छवियों का सही आकलन करके कलाकृति को एक सार्थक रूप देती है। प्रकृति का यथातथ्य चित्रण भर कर देना केवल यथार्थवादी कला नहीं हो सकता जरूरी एवं महत्वपूर्ण का विवेकपूर्ण चयन ही यथार्थवादी कला की प्राणशक्ति है।''[72] यहाँ फॉस्ट का विवेकपूर्ण चयन से तात्पर्य जीवन व समाज के चित्रण से है जहाँ किसी भी तरह का लाग–लपेट नहीं होना चाहिए। यथार्थवाद के विषय में तरह–तरह की धारणाएं भी हैं। फॉस्ट ने लिखा है कि ''यथार्थवाद के बारे में सबसे भ्रांत धारणा उसे कथ्य की बजाय रूप का सवाल मान लेने की है। रूपवाद की इस प्रवृत्ति ने यथार्थवाद के सवाल को जितना उलझाया है उतना और किसी चीज ने नहीं। इस गलत धारण के चलते यथार्थ की पूरी अवधारणा ही विकृत हो गई। ऊपर से देखने पर कोई कृति यथार्थवादी लग सकती है, लेकिन जरूरी नहीं कि उसका यथार्थ से कोई गहरा संबन्ध हो ही।''[73] यानी फॉस्ट का मानना है कि यथार्थवाद में कथ्य का जितना महत्व है उतना रूप का नहीं।

अर्न्स्ट फिशर ने यथार्थवाद की असफलता को लेकर लिखा है कि ''कला में यथार्थवाद की धारणा दुर्भाग्यवश बड़ी ही लचीली और अस्पष्ट है। कभी तो यथार्थवाद एक रवैये के रूप में–यानी वस्तुपरक यथार्थवाद की पहचान के रूप में–पारिभाषित किया जाता है, और कभी एक शैली पद्धति के रूप में। इन दोनों के बीच विभाजक रेखा अक्सर धुँधली हो जाती है।''[74] फिशर इस बात से सहमत है कि संपूर्ण यथार्थ विषय और वस्तु के समस्त संबन्धों का कुल योग होता है और संबन्ध न केवल अतीत के बल्कि भविष्य के भी होते हैं। इसमें न केवल घटनाएँ बल्कि व्यक्तिगत अनुभव, स्वप्न, पूर्वाभास और कल्पनाएँ भी होती हैं।

यथार्थवाद के संबन्ध में लियो ट्राटस्की का मानना है कि यथार्थवाद के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं और सब में उसकी अलग–अलग व्याख्याएँ मिलती हैं और उसमें भी महत्वपूर्ण यह है कि सभी इस बाह्य जगत से जुड़े हुए हैं। जीवन जैसा है, उसे सबने स्वीकार किया है। यथार्थवाद के इन विविध रूपों में जीवन का जिस तरह से चित्रण हुआ है चाहे वह सकारात्मक रूप में हो या नकारात्मक रूप में। सब में जीवन के महत्व को स्वीकृति है। इसी को ट्राटस्की कला का विषय मानता है।[75]

कहना न होगा कि 18वीं–19वीं शताब्दी में यथार्थवादी लेखकों ने बुर्जुआ समाज–व्यवस्था की क्रमशः उभरने वाली असंगतियों को अपने ढंग से पहचाना और तत्कालीन सामाजिक जीवन में मनुष्य के स्वरूप और उसके क्रिया–कलापों का मार्मिक चित्रण किया। तभी नायक की मृत्यु और उसके स्थान पर नये मनुष्य का जन्म हुआ। 18वीं सदी के यथार्थवादी लेखकों की यह उपलब्धि रही है कि उन्होंने सामंतवादी समाज के भ्रष्ट आदर्शो एवं उसके पतनशील रूप को सच्चाई के साथ उजागर किया, उन्हें इस बात का श्रेय है कि वे विकसित होते हुए पूँजीवाद के नकारात्मक रूख को पहचान सके और उसे भी अपनी कट्टर आलोचना का पात्र बना सके। किन्तु उसकी यह सीमा भी है कि वे अपने युग को आधारभूत संघर्ष की वैज्ञानिक पड़ताल करने में असमर्थ थे।

19वीं सदी में यथार्थवादी आन्दोलन ने मानव इतिहास को क्रांतिकारी मोड़ दिया, परंपरा से चल रहे चिंतन तथा कर्म को एक नई दिशा दी। इस सन्दर्भ में हीगेल, फायरबाख, न्यूटन, डार्विन, मार्क्स तथा एंगेल्स जैसे मनीषियों के चिंतन विचारणीय हैं। इसके अतिरिक्त इस सदी के यथार्थवादी लेखकों में–बालजाक, स्तेंढल, थैकरे, डिकेंस, गोगोल, दोस्तोवस्की, कुछ अंशों तक फ्लाबेयर, टामस हार्डी, तोल्सतोय, मोपांसा, जार्ज इलियट, जार्ज मेरेडिथ, सेमुअल बटलर, विक्टर ह्यूगो इत्यादि ने अपने साहित्य में पूँजीवाद की असंगतियों का उद्‌घाटन तथा जीवन सत्यों की खोज की और बुर्जुआ समाज के प्रति निर्मम आलोचना का रूख अपनाया। जिससे इस युग के यथार्थवाद को आलोचनात्मक यथार्थवाद के नाम से जाना जाता है।[76] यह नाम मार्क्सवादी आलोचकों द्वारा दिया गया है जिसमें जीवन को उसकी वस्तुपरकता में और सच्चाई के साथ देखा–परखा गया। साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास में इसकी अभिव्यक्ति बेहतर ढंग से हुई है। आलोचनात्मक यथार्थवाद एक ऐसी शैली और दृष्टिकोण हैजिसके अन्तर्गत समाजवादी दृष्टि की सक्रियता नहीं है, और यह युग, जीवन तथा समाज–विकृतियों एवं कुरूपताओं के प्रति सहज एक आलोचनात्मक रूख अख्तियार करता है।

आलोचनात्मक यथार्थवाद को मार्क्सवादी साहित्यचिन्तकों ने बुर्जुआ यथार्थ का नाम दिया है जिसके अन्तर्गत दो तरह के लेखक आते हैं। एक तो वे जो अपने वर्ग–चरित्र को न छोड़ सकने के कारण अपने वर्ग–हितोंसे जुड़े रहे हैं और अपनी रचनाओं में अपने वर्ग का गौरव करते हैं। दूसरी तरह के वे बुर्जुआ लेखक हैं, जिन्होंने अपने वर्ग–स्वार्थों तथा वर्ग–हितों का अतिक्रमण करते हुए अपने वर्ग की खरी आलोचना की है।[77]

वस्तुतः आलोचनात्मक यथार्थवाद, यथार्थवाद का वह रूप है जो इन्द्रिग्राह्य बोध को आधार मानकर व्यक्ति और समाज के वास्तविक रूप का विश्लेषण करता है। वह व्यक्ति और समाज के निम्न ऋणात्मक, निन्दनीय और गर्हित पक्षों के साथ–साथ जीवन के उज्ज्वल और उदात्त पक्षों पर भी बल देता है। आलोचनात्मक यथार्थवाद को पुष्ट करने में बालजाक, स्तेन्दल, मोपांसा, गोनकार्ट बन्धु तोल्स्तोय, टामस मान, जार्ज इलियट, टामस

हार्डी, तुर्गनेव, डिकेन्स, जार्ज मूर इत्यादि लेखको का नाम लिया जा सकता है। लेकिन इनमें से बालजाक और स्तेन्दल का योगदान अन्य लेखकों के मुकाबले में बहुत अधिक रहा है।

बालजाक ने अपने उपन्यासों में तीव्र अन्तर्दृष्टि तथा अति मानवीय संवेदना के साथ तत्कालीन जमींदार–अभिजात्य वर्ग का पतन और पूँजीवादी व्यवस्था का चित्रण किया। वह दिखाता है कि किस प्रकार से भद्र समाज–जो उसका आदर्श समाज है–क्रमशः अभद्र, असंस्कृत, कुरूचि सम्पन्न, पैसे के लिए नये धनिकों के सामने घुटने टेकता है तथा उसके प्रभाव में भ्रष्ट होता है। बालजाक ने अभिजात्य समाज पर नव–बुर्जुआ समाज की विजय ही नहीं दिखलायी अपितु, बुर्जुआ समाज की अमानवीय प्रकृति, उससे पैदा हुए सामाजिक विखंडीकरण, पूँजीवादी विकास के ऋणात्मक पक्षों का, उसके वास्तविक अन्तर्विरोधों का भी चित्रण किया। बालजाक के नायक अपने निजी स्वार्थों के लिए ही प्रयत्नशील दिखते हैं, उन्हें अन्य व्यक्तियों के हितों की कोई चिन्ता नहीं होती।[78] बालजाक के यथार्थ चित्रण की विशेषता इस बात में है कि उसने व्यक्ति, जीवन, समाज और इतिहास को संश्लिष्टता में परखने और प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उसने यथार्थवादी ढंग से जीवन के सत्य रूप को उसकी गतिशीलता और संपूर्णता में अभिव्यक्त किया। अभिजात वर्ग के अलावा छोटे किसानों की ट्रेजडी का भी चित्रण किया है जो कि सूदखोर महाजन के कर्ज में पिसता रहता है। इस प्रकार का चित्रण विशेषकर उसके 'द पीजेण्टस' उपन्यास में देखने को मिलता है।

स्तेन्दल बालजाक का समकालीन दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यासकार है जिसने मनुष्य को नैतिक, मनोवैज्ञानिक और शरीर शास्त्रीय विशेषताओं के रूप में देखा। मनुष्य के आत्मिक और नैतिक संसार पर सामाजिक परिवेश के प्रभाव का विश्लेषण करने के क्रम में स्तेन्दल ने अपना पूरा ध्यान अपने नायकों के चरित्र–निर्माण पर केन्द्रित किया। उसके यहाँ सामाजिक स्थितियों और परिवेश का वर्णन नाम मात्र का है। उसने अपने पात्रों की निजी जिन्दगी में ही समस्त युग की मूलभूत प्रवृत्तियों को केन्द्रित करने का प्रयास किया है।[79]

देखा जाय तो इस युग के लेखकों का पूँजीवादी सभ्यता के खिलाफ विद्रोह उनके अपने अहं का अपने परिवेश के विरूद्ध विस्फोट भी था। अर्न्स्ट फिशर ने लिखा है कि ''आलोचनात्मक यथार्थवाद पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ इसी अकेले अहं के रोमानी विद्रोह तथा बुर्जुआ मूल्यों के प्रति एक ऐसे विलक्षण अस्वीकार का प्रतिफल है जिसमें अभिजात तथा गँवारू या सामान्य (ऐरिस्टाक्रेटिक एंड प्लेवियन) दोनों प्रकार की मानसिकता घुली–मिली है।[80]

हिन्दी में आलोचनात्मक यथार्थवाद का वास्तविक आरम्भ प्रेमचन्द के कथा–साहित्य से होता है। अपनी कहानियों तथा उपन्यासों में प्रेमचन्द के अतिरिक्त जयशंकर प्रसाद, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, शिवपूजन सहाय आदि ने इसका प्रयोग किया है, लेकिन प्रेमचन्द ने अपने युग के जीवन–यथार्थ को उसकी समग्रता में देखने, पहचानने और विश्लेषित करने की कोशिष की है। अपने उपन्यासों में उन्होंने जमींदारों, महाजनों और सरकारी अमलों द्वारा किसानों के क्रूर, निर्लज्ज और अमानवीय शोषण का बहुत ही व्यापक, वैविध्यपूर्ण और दर्दनाक चित्रण किया।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में उत्तर भारत के समकालीन जीवन–यथार्थ के पहलुओं को प्रस्तुत किया है। उन्होंने भारतीय जीवन के नकारात्मक और सकारात्मक दोनों पक्षों का संतुलित चित्रण किया है। उनके लिए यथार्थ के तथ्यांकन से अधिक महत्व उसके भीतरी स्तरों के उद्‌घाटन और विश्लेषण का था। समस्याओं के समाधान तथा समकालीन यथार्थ की भावी दिशा की ओर भी उन्होंने संकेत किया। प्रेमचन्द के यहाँ जो यथार्थ मिलता है उसको 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' नाम दिया गया।

समग्रतः कहा जा सकता है कि 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' की उपलब्धियों का क्षेत्र न केवल विस्तृत है कि बल्कि वह बहुआयामी भी है। सत्य के प्रति निष्ठा, सूक्ष्म पर्यवेक्षण, समग्र आकलन, वस्तुगत यथार्थ का मार्मिक विश्लेषण, अंतर्भेदी दृष्टि, व्यवस्थाजन्य

विकृतियों का निर्मम उद्‌घाटन पारदर्शी चित्रण, अकृतिम मानवीय संवेदना, मानव–चरित्रों का चित्रण आदि उसकी विशेषताएँ हैं।

हिन्दी में 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' की धारा 20वीं सदी में बहती रही। इस सदी में पूँजीवादी समाज व्यवस्था की समाप्ति और नई समाजवादी एवं प्रजातांत्रिक व्यवस्था के लिए प्रयास प्रारम्भ हुए। 20वीं सदी की यथार्थवादी कथा–रचनाओं में इस रूपान्तरण की दिशाओं, प्रयासों और संघर्षों का चित्रण किया गया। बीसवीं सदी में तोल्स्तोय, जार्ज बर्नार्ड शॉ, अनातोले फ्रांस, रोम्या रोलां, तुर्गनेव, चेखव इत्यादि लेखकों ने अपनी कृतियों में पूँजीवादी अंतर्विरोधों का चित्रण किया। समाजवादी विचारधारा के आने से जो साहित्य–समझ पैदा हो रही थी उसको भी कथा–साहित्य में जगह मिली। मैक्सिम गोर्की जैसे कथाकार के यथार्थवादी साहित्य में समाजवादी प्रेरणा तथा वैज्ञानिक दृष्टि के कारण इसे समाजवादी यथार्थवाद के नाम से पुकारा गया। मैक्सिम गोर्की का यथार्थवादी प्रस्तुतीकरण व्यक्ति को उसके समूचे विकास क्रम में देखने के साथ ही उसके भविष्य की दिशा का भी चित्रण करता है। गोर्की में पहले के रूसी उपन्यास की विकासधारा से अलग एक नया मोड़ मिलता है। गोर्की ने बराबर मनुष्य की आत्मिक शक्तियों के अनवरत विकास पर जोर दिया। मानवीय चेतना के निरंतर उन्नयन तथा परिष्करण पर उसकी परिपूर्ण आस्था रही है।[81] आलोचनात्मक यथार्थवाद की तुलना में समाजवादी यथार्थवाद को स्पष्ट हुए गोर्की का कहना है कि समाजवादी यथार्थवाद जीवन को प्रवाहमान सक्रियता तथा सर्जना के रूप में स्वीकार करता है। जीवन की संपूर्ण मूल्यवान वैयक्तिक क्षमताओं को उभारते हुए जीवन की चरितार्थता को इस रूप में दिखाता है कि नये मनुष्य, नये जीवन तथा नयी समाजवादी वास्तविकता प्रकट हो सके। जहाँ मनुष्य प्रकृति की शक्तियों को जीतकर अपने जीवन को सुखी–संपन्न बनाये तथा संपूर्ण मनुष्यता को परिष्कार के रूप में देखे।[82]

कहना न होगा किकि समाजवादी यथार्थवाद विषयवस्तु तथा उसकी अभिव्यक्ति में लेखक को एक खास विचार–दृष्टि से बाँधकर रखता है। यह जरूर है कि एक नए

समाज के निर्माण में मानवीय क्षमताओं को मूर्त करने वाला यह यथार्थवाद मानवीय क्षमताओं को संपूर्णता में प्राप्त करना चाहता है, जिससे पाठक के मन में जीवन के प्रति नई आस्था भी पैदा होती है। ''समाजवादी यथार्थवाद यांत्रिक तथा सरलीकृत निष्कर्षों से परे यथार्थ को द्वन्द्वात्मक विधि से देखने का हिमायती है।[83] यहाँ मानव–चरित्र इतिहास की गतिमानता तथा परिस्थितियों के विकासक्रम के साथ ही चित्रित होना चाहिए। गोर्की ने आलोचनात्मक यथार्थवाद के बारे में लिखा है ''यद्यपि उसने समाज की बुराइयों का भंडाफोड़ किया..... वह मनुष्य को उनकी लपेट से निकालने का रास्ता न दिखा सका। हर बात की आलोचना करना आसान था। किन्तु आलोचकों के पास कहने के लिए कोई सकारात्मक बात नहीं थी, सिवा इसके कि सामाजिक जीवन और मोटे तौर पर सामाजिक अस्तित्व का कोई अर्थ नहीं रह गया है। वाइस से टामस हार्डी और अनतोले फ्रांस तक जिसका संदेहवाद निराशावाद से काफी नजदीक था, सभी लेखकों ने इन भावनाओं को ऊँचे स्वर से और स्पष्ट रूप में व्यक्त किया है।''[84]

गोर्की का प्रसिद्ध उपन्यास 'माँ' (1906) केवल एक सामाजिक संघर्षों का महाकाव्य ही नहीं है बल्कि वह नये परिवर्तित मानव का चित्र भी हमारे सामने पेश करता है। इस उपन्यास में रूस की सदियों से पीड़ित दलित जनता के संघर्ष की मुखर रूप में अभिव्यक्ति हुई है। इस उपन्यास की प्रमुख विशेषता इस बात में है कि इसमें 'माँ' (पेलागेया निलोवना) अपने बेटे 'पावेल' के प्रति प्रेम के माध्यम से धीरे–धीरे हर उस चीज को पहचानने और समझने का प्रयास करती है जो जीवन में सुन्दर एवं मूल्यवान है। वह एक नई दुनिया का स्वप्न देखती है, ऊँचे आदर्शों के लिए लड़ने वालों के सक्रिय देश–प्रेम से प्रेरणा लेती है। गोर्की के पात्र निराशावादी नहीं, घोर आशावादी हैं। वे आत्म–समर्पण नहीं करते वरन् कठिन से कठिन बाधाओं के बीच भी अपने धैर्य एवं साहस का परिचय देते हैं।

अपने से पहले के साहित्यकारों के यथार्थवाद से अपने यथार्थवाद का भेद बताते हुए गोर्की ने लिखा है कि ''हमारे यथार्थवाद को कुछ सकारात्मक बात कहनी है और किसी

चीज की रक्षा करनी है।''[85] गोर्की ने समाजवादी यथार्थवादी कला के दो कार्यों की बात की है। पहला मनुष्य की प्रगति में बाधा डालने वाली सभी ताकतों को बेपर्दा करना और दूसरा नये यथार्थ की सफलताओं को कलात्मक रूप देकर समेटना–सँजोना तथा भविष्य की ओर अथक अविराम गति से आगे बढ़ते हुए नये नायक को आदर्श पुरूष के रूप में ऊँचा उठाना।

19वीं शताब्दी में यथार्थवाद से मिलती–जुलती एक नई प्रवृत्ति (प्रकृतवाद) को प्रतिष्ठा देने और अपनी सर्जनात्मक चिंतन से उसे संयत्न करने वालों में फ्रांस के प्रसिद्ध उपन्यासकार'एमिल जोला' का नाम अविस्मरणीय है। यथार्थवाद की ही भाँति प्रकृतवाद (नेचुरलिज्म) भी दर्शन का ही शब्द है जिसे यथार्थवाद की ही तरह साहित्यिक अर्थ देकर एक विशिष्ट प्रकार की साहित्य–चिंतन तथा सर्जना से जोड़ दिश गया। प्रकृतवाद मानता है कि ''प्रकृति ही परम सत्य है। प्रकृति के कार्यों को समझने के लिए किसी प्रकृति–बाह्य सत्ता की मदद की जरूरत नहीं होती, क्योंकि प्रकृति ही संपूर्ण वास्तविकता है। किसी अति–प्राकृतिक अथवा अलौकिक तत्व की सत्ता नहीं है।''[86]

दरअसल, प्रकृतवाद शब्द का प्रयोग उन दार्शनिक विचारणाओं के लिए किया गया है जिनका जन्म डार्विनवाद से हुआ जो यथार्थ को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में अपने चिंतन का विषय बनाता है। जहाँ उन मूल्यों का उदय हुआ जो परंपरा से, प्रकृति से ऊँचे, उसके परे तथा उसके विपरीत समझे जाते हैं।[87] प्रकृतवाद के उदय में न्यूटन के यांत्रिक सिद्धांत (जिसने मानवीय प्रकृति की यंत्रवादी व्याख्या की), डार्विन के विकासवादी सिद्धांत (जिसने मनुष्य को जीवों का विकसित रूप मानते हुए उसे प्रकृति से परिचालित बताया) तथा हर्बर्ट स्पेंसर के समाजवादी सिद्धांत का सामूहिक प्रभाव है। यह एमिल जोला, जार्ज मूर, थियोडर ड्रीजर जैसे लेखकों की उन रचनाओं से संबन्धित है जिनमें मनुष्य के संबन्ध में मानवतावादी या धार्मिक धारणा के विपरीत प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से प्रकृतवादी धारणा की अभिव्यक्ति की गई है, जो स्वच्छन्दतावादी एवं आदर्शवादी धारणाओं के विरोध से अपनी

पहचान बनाती है। प्रकृतवादी लेखक का जीवन के प्रति दृष्टिकोण भौतिकवादी, निराशाजनक तथा नियतिवादी होता है।

जोला ने अपने विस्तृत निबंध 'द एक्सपेरीमेंटल नॉवेल' में विचार तथा रचना दोनों धरातलों पर प्रकृतवाद का चरित्र प्रस्तुत किया है। जोला अपने समय की बुर्जुआ पूँजीवादी व्यवस्था से बहुत असंतुष्ट था, इसलिए उसने अपनी कृतियों में व्यवस्था की असंगतियों तथा अविचारों का खुलकर पर्दाफाश किया है। जोला चरित–नायकों की सृष्टि को मानने से इंकार करता है। वह प्रकृतवाद को यथार्थवाद से अलग मानता है। उसके अनुसार ''जहाँ यथार्थवादी रचनाकार प्रयास करके अपने चरित्रों को बड़ा या महान बताकर प्रस्तुत करने का आग्रही होता है वहाँ प्रकृतवादी रचनाकार ऐसे किसी प्रयास पर विचार नहीं करता। वह औसत आदमी की औसत जिन्दगी का चित्रण ही अपना लक्ष्य मानता है।''[88] यहीं कारण है कि बालजाक, स्तेंढल और टामस मान जैसे बड़े यथार्थवादी रचनाकारों से जोला प्रत्येक आयाम पर अलग दिखता है। बालजाक ने अपने समय की जिन पूँजीवादी असंगतियों का चित्रण किया है वह जोला के लिए अवैज्ञानिक और रोमानी लगता है। क्योंकि जोला के अनुसार सामाजिक वृत्त और जीवनवृत्त समान हैं।[89] सन् 1880 ई. में जोला के द्वारा प्रयोगात्मक उपन्यास की बात उठाने से यथार्थवाद संबंधी बहस में तेजी आयी। इसी समय जोला ने प्रकृतवाद का सिद्धांत दिया। जोला का विचार था कि ''उपन्यास को केवल समकालीन वास्तविक अनुभवों तक सीमित रहना चाहिए। जहाँ तक संभव हो मनुष्य के प्रकृत जीवन को दिखाना चाहिए–बनावटी रोचकता और सहानुभूति जगाने की कोशिश किए बगैर–लोग जैसे हैं (न कि जैसा उन्हें होना चाहिए।) का यह चित्रण विश्लेषणात्मक होना चाहिए, काव्यात्मक नहीं।''[90]

जोला ने कला, विज्ञान और यथार्थ जीवन को एक साथ रखा है। उसका यथार्थवाद (प्रकृतवाद) 'फोटोग्राफी' से प्रभावित है, जिसकी समय–समय पर आलोचना भी हुई है। मोपासाँ (जोला का अनुयायी) जोला से सहमत नहीं हो पाता है। उसका मानना है कि यथार्थ तत्वों का दुहराना मात्र कला में न तो वांछनीय है और न संभव। इसी तरह रूसी

लेखकों–तुर्गनेव, चेखव–ने भी प्रकृतवादियों के दृष्टिकोण से असहमति प्रकट की है तथा उच्चतर उद्देश्यों के सम्मिश्रण पर बल दिया। चेखव के लिए यथार्थवाद केवल बाह्य जगत का अनुकरण नहीं करता वरन् वह उच्चतर उद्देश्यों से प्रेरित हेाता है।[91]

वास्तव में प्रकृतवादी यथार्थवाद तत्कालीन चित्रकला के प्रभाववाद का ही एक रूप था। जिस प्रकार प्रभाववादी चित्रकार प्रकाश एवं वातावरण की परिस्थितियों में हुई वस्तुओं का चित्रण करते थे, उसी प्रकार प्रकृतवादी उपन्यासकार मानव का उसके प्ररिवेश की परिस्थितियों में निरूपण करते थे। प्रकृतवादियों ने विज्ञान द्वारा सथापित सत्य को साहित्यिक रूप देने की चेष्टा की। फलस्वरूप उनके उपन्यासों में शारीरिक अंगों के सूक्ष्म वर्णन एवं नग्न, निम्न व तुच्छ यथार्थ का बाहुल्य हो गया। जोला ने अपने 'नाना' नामक उपन्यास में कामुकता द्वारा मनुष्य के पतन का चित्र दिया। किन्तु 'नाना' के शारीरिक सौन्दर्य का इतना मनोरम वर्णन किया कि उपन्यास में नैतिक पक्ष का लोप हो गया है। जोला के यहाँ यह सब प्रयोग जीवविज्ञान के सिद्धांत पर आधारित है। शायद इसलिए हावर्ड फॉस्ट ने प्रकृतवाद को यथार्थवाद का अंश न मानकर यथार्थ से पलायन माना है।[92] क्योंकि फॉस्ट को प्रकृतवाद में यथार्थवाद की तरह उस साहित्यिक संश्लेष का अभाव दिखता है जो चयन तथा रचना के क्रम में पाठक की यथार्थ के प्रति समझ को साफ करता है उसे उत्कर्ष प्रदान करता है। इसी तरह प्रकृतवाद की आलोचना में अर्न्स्ट फिशर ने भी लिखा है कि ''प्रकृतवाद के यथार्थ के अन्दर प्राथमिकताओं का कोई क्रम नहीं था। आकस्मिक और विशिष्ट दोनों प्रकार के विवरणों पर समान रूप से ध्यान दिया जाता था। एक निर्णायक वार्तालाप या घटना और उसमें विघ्न डालने वाली मक्खी की भिनभिनाहट अथवा अंडे बेचने वाली किसी औरत का प्रवेश, सब चीजें समान रूप से 'यथार्थ' और इसलिए महत्वपूर्ण मानी जाती थी। परिस्थितियों का यह फोटोग्राफिक अंकन–जिस पर द्वन्द्वात्मक ढंग से साचने के बजाय संख्यात्मक ढंग से सोचा जाता था–एक अर्थ हीनता की भावना पैदा करता था और इसे जड़ता के असहनीय तथा निरूत्साहित करने वाले वातावरण का निर्माण होता था।''[93] यानी, इसमें पूँजीवादी जगत

की बुराइयों का फोटोग्राफिक चित्रण तो हुआ लेकिन पूँजीवाद के विनाश व समाजवाद लाने के लिए जो मेघखंड इकट्ठे हो रहे थे उन पर प्रकृतवाद की दृष्टि नहीं पड़ी। जोला के लिए साहित्यकार का दायित्व जीवन के यथार्थ का प्रस्तुत करना है जिसका अनुरूप प्रभाव पाठकों पर पड़े। वह यथार्थ कितना ही नग्न, कुरूप, वीभत्स, अश्लील तथा गंदा क्यों न हो उसका विश्वास था कि मानवीय सत्य ही निरावृत सत्य होता है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि जोला तथा अन्य प्रकृतवादी विचारकों का दृष्टिकोण नियतिवादी, भौतिकवादी तथा निराशावादी था। वह प्रकृति और समाज की उन बाहरी तथा आन्तरिक शक्तियों पर अंकुश लगाना चाहता था जो मनुष्य के ऊपर विवेक और नैतिक दायित्व को थोपकर उसकी प्राकृतिक स्वतंत्रता को सीमित करते हैं।

पुनः जार्ज लुकाच के यथार्थवाद की बात करें तो लुकाच के लिए ''यथार्थवाद इस तथ्य का साक्षात्कार है कि एक साहित्यिक कृति न तो एक निर्जीव औसत पर आश्रित हो सकती है जैसा कि प्रकृतवादी अनुमान करते हैं और न ही किसी व्यक्तिवादी सिद्धांत पर आश्रित हो सकती है, जो अपने आप को शून्य में विलीन कर देता है। यथार्थवादी साहित्य का केन्द्रीय प्रवर्ग और माने तो प्रतिनिधि है जो चरित्रों और परिस्थितियों दोनों का विशिष्ट तत्व है।''[94] सच तो यह है कि लुकाच के लिए वास्तविक यथार्थवाद किसी एक या दूसरे पक्ष को दिखाना नहीं, बल्कि मनुष्य और समाज को पूर्णता में चित्रित करता है। यथार्थवाद प्रतिनिधि चरित्रों के बावजूद मानव–संबन्धों को इस प्रकार संयुक्त करता है कि किसी तरह की भावात्मक या बौद्धिक गत्यात्मकता का तिरस्कार नहीं होता। यथार्थवाद आधुनिक संसार के साथ विकसित होता है।

लुकाच यथार्थवाद के इस सत्य को स्वीकार करता है कि ''यथार्थवादी साहित्य का मापदण्ड 'औसत' नहीं बल्कि 'टाइप' है जो चरित्र–चित्रण और घटनाओं में विशेष और सामान्य दोनों का समन्वय प्रस्तुत करता है।''[95] यहाँ लुकाच का 'टाइप' (प्ररूपों) से अभिप्राय है समाज की उस आन्तरिक शक्ति से, जो ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे अधिक

महत्वपूर्ण एवं प्रगतिशील होती है, जिसे यथार्थवादी लेखक जैविक घटनाओं के बीच से उभरने वाले मनुष्य के जीवन्त क्रिया–कलापों के रूप में चित्रित करता है।

लुकाच, यथार्थवाद को सत्य का साक्षात्कार करने वाला माध्यम मानता है–''यथार्थवाद मिथ्या वस्तुपरकता तथा मिथ्या व्यक्तिपरकता के बीच का कोई मध्यमार्ग नहीं है, वरन् इसके विपरीत वह हमारे समय की भूल–भूलैया में बिना किसी नक्शे के भटकने वाले लोगों के द्वारा गलत रूपों में प्रस्तुत किये गये प्रश्नों के फलस्वरूप उत्पन्न समस्त प्रकार के झूठे असामंजसो के विरूद्ध सत्य तथा सही समाधानों तक पहुँचाने वाला एक तीसरा रास्ता है।''[96] लुकाच के लिए प्रकृतवादियों की वस्तुपरकता (आब्जेक्टिविटी) तथा मनोविश्लेषणवादियों की व्यक्तिपरकता (सब्जेक्टिविटी) दोनों गलत हैं। इसलिए उसने यथार्थवाद को दोनों से अलग करके समझने पर जोर दिया है। यथार्थवाद का लक्ष्य समाज–जीवन तथा मनुष्य के यत्र–तत्र बिखरे अंशों को केवल मूर्त करना नहीं होता, बल्कि, उसकी दृष्टि इनके संपूर्ण रूप को उभारने की ओर रहता है। लुकाच का संपूर्णता पर अधिक जोर रहा है। लुकाच के लिए यथार्थवादी साहित्य का उद्देश्य केवल विचारों में परिवर्तन करना नहीं है बल्कि मनुष्य की समग्र भावात्मक सत्ता का परिवर्तन करना है और इसके लिए वह रूसी साहित्य को आदर्श मानता है। उसका विचार है कि ''बालजाक जैसे महान यथार्थवादियों की कृतियों में हम आधुनिक साहित्य के दोनों मिथ्या अतिवादों के विरोधी तीसरे समाधान को देख सकते हैं, जो जीवन की सच्ची पद–रचना को एक अमूर्तता के रूप में या एक दूषण के रूप में प्रस्फुटित करते हैं जो अच्छे उद्देश्य वाले तथा ईमानदार प्रचारवादी उपन्यासों के दुर्बल आत्म–प्रसंगों तथा निजी जीवन के विवरण के प्रति तल्लीनता की झूठी समृद्धि दोनों का विरोधी है।''[97]

लुकाच को बालजाक इसलिए श्रेष्ठ लगता है कि उसके यहाँ पूँजीवादी समाज में मनुष्य की सर्वग्रासी पतनशीलता के बावजूद सामंती निरंकुशता का विरोध और संघर्ष है।लुकाच फ्रांज काफ्का को यथार्थवादी लेखक नहीं मानता क्योंकि काफ्का ने आधुनिक पूँजीवादी समाज का नरकपूर्ण जीवन और उसमें फँसे असहाय मनुष्य का जैसा चित्रण

किया है वह लुकाच के अनुसार यथार्थवाद का भ्रम ही खड़ा करता है। यथार्थ के प्रति उसका दृष्टिकेण अस्तित्ववादियों की तरह है। लुकाच मानता है कि अस्तित्ववादी कला प्रारूप की रचना में समर्थ नहीं है।[98] लुकाच ने पूँजीवादी व्यवस्था तथा समाजवादी व्यवस्था में रचित समस्त उपन्यासों को तीन भागों में विभक्त किया है। पहला, बुर्जुआ समाज में रचित अवांगार्द उपन्यास। दूसरा, समाजवादी समाज में समाजवादी यथार्थ के सन्दर्भ में रचित उपन्यास और तीसरा बुर्जुआ एवं समाजवादी दोनों व्यवस्थाओं में रचित आलोचनात्मक यथार्थ के धारक–वाहक उपन्यास। लुकाच ने अवांगार्द उपन्यास प्रतिनिधि लेखक के रूप में फ्रांज काफ्का का नाम लिया है। उसने जेम्स जॉयस का सबसे अधिक विरोध किया है। इस धारा के उपन्यासकारों में लुकाच ने जर्मन औपन्यासिक मुसिल, बेकेट, फाकनर, मार्शल प्रूस्त की आलोचना की है। लुकाच की दृष्टि में लेखक जीवन के समग्र रूपों, उसके द्वन्द्वों, उसकी नित्य परिवर्तशीलता के प्रति अनभिज्ञ बने हुए हैं। इनमें इतिहास–चेतना का अभाव है। इस अभाव को उसने व्यक्ति–सर्वस्वता का नाम दिया है। वह उनकी आधुनिकता को यथार्थ–विरोधी मानता है। इन लेखकों की अपेक्षा लुकाच की नज़र में वे लेखक अधिक महत्वपूर्ण हैं जिन्होंने अपनी कृतियों में आलोचनात्मक यथार्थ का वर्णन किया है और जीवन को समग्रता में स्वीकार करते हुए उसे गतिशील माना है।

लुकाच के अनुसार यथार्थवाद का इतिहास यूटोपिया के परित्याग का इतिहास है। 'फ्लाबेयर' ने इस परित्याग की शुरूआत की थी। 'टामस मान' ने इस प्रवृत्ति को दफना ही दिया।[99] टामस के उपन्यास 'रायल हाइनेस' की आलोचना करते हुए लुकाच ने बुर्जुआ क्रिटिकल रियलिज्म का प्रश्न उठाया था और आलोचनात्मक यथार्थ का प्रतिनिधि होने का श्रेय फ्रांज काफ्का को न देकर टामस मान को दिया है। लुकाच ने 'टामस मान' को 'बालजाक' और 'तोल्स्तोय' के उत्तराधिकारी के रूप में देखा है। उसके मुताबिक 'तोल्स्तोय' ने प्रमुख बुर्जुआ समाज का जितना चित्रण किया है उससे और आगे बढ़कर'टामस मान' ने समकालीन बुर्जुआ जीवन और जगत की अन्तनिर्हित समस्याओं को समग्रता में संप्रषित किया है। लुकाच के यहाँ यथार्थवाद में केवल शुद्ध सौन्दर्य के लिए

स्थान नहीं है उसमें सामाजिक और नैतिक मानवीय समस्याएं अवश्य रहती हैं। कभी–कभी व्यक्ति की निजी धारणा और सामाजिक दशा के चित्रण में विरोध भी पाया जाता है। यह संभव है कि लेखक का दृष्टिकोण आदर्शवादी हो किन्तु उसने सामाजिक दशा का यथार्थ चित्रण किया हो। लुकाच की इस कसौटी पर बालजाक और तोल्स्ताय खरे उतरते हैं। क्योंकि दोनों ने आदर्शवादी लेखक होते हुए भी अपने समय के समाज का यथार्थ चित्रण किया है। दोनों की सहानुभूति अपने आस–पास के मनुष्यों और उन वर्गों के लिए है जो सबसे अधिक दुःखी थे।

जादुई यथार्थवाद अंग्रेजी के मैजिक रियलिज्म (Magic Realism) की तर्ज पर हिन्दी में आया है। जर्मन कला आलोचक फ्रेंज रोह (Franz Roh) ने बीसवीं सदी के तीसरे दशक के कुछ जर्मन चित्रों के सन्दर्भ में ने 'मैजिक रियलिज्म' शब्द का प्रयोग किया है। जैसा कि ''अलेजो कारपेन्तियर ने जादुई यथार्थवाद शब्द पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले 1925 ई. में एक जर्मन कला आलोचक फ्रेंज रोह ने कुछ जर्मन कुछ अभिव्यजंनावादी चित्रों के सन्दर्भ में किया। इन्हीं चित्रों में से एक चित्र है जहाँ गायें आकाश में उड़ रही हैं और आदमी एकदम सीधे सिर के बल सड़क पर चल रहे हैं। साधारण को विलक्षण रूप में पेश करने को ही जादुई यथार्थवाद कहा गया है।''[100] जादुई यथार्थवाद, यथार्थवाद की अन्य अवधारणाओं–आलोचनात्मक यथार्थवाद, समाजवादी यथार्थवाद और प्रकृतवादी यथार्थवाद–से अलग हटकर है। यह ऐसा यथार्थ होता है जो अपनी आँखों से देखा, समझा हुआ होता है। यहाँ यथार्थ की अभिव्यक्ति मिथक, फैंटेसी, जादू–टोना, परिकथाओं आदि के माध्यम से होती है।

जादुई यथार्थवाद के जन्म में दक्षिण अमेरिकी देशों की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, संस्कृतियों का विशेष योगदान रहा है। दक्षिण अमेरिकी देश–क्यूबा, ब्राजील, कोलम्बिया, पेरू, ऊरूग्वे, चीली–उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, गरीबी, गन्दगी एवं शोषण के शिकार रहे हैं। उपनिवेशवादी पराधीन देश के वर्तमान को ही बर्बाद नहीं करते, वरन् अतीत को विकृत और भविष्य को अंधकारमय भी बनाते हैं। दक्षिण अमेरिका के देशों के साथ भी

ऐसा ही हुआ। ऐसी परिस्थितियों में सन् 1950–1971 के बीच दक्षिण अमेरिकी देशों में परंपरागत स्वरूप से भिन्न विचित्र प्रकार के उपन्यास लिखे गये। जैसे कार्पेन्तिय का 'इस दुनिया की बादशाहत' (1949), ग्रेवियल ग्रार्सिया मार्क्वेस का 'सौ सालों का एकांत' (1967), ईसाबल अलंदे का 'भूतो का घर'।[101]

दक्षिण अमेरिका के उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में जिस तरह से यूटोपिया, मिथक और फैंटेसी का प्रयोग किया है, वैसा प्रयोग हिन्दी के उपन्यासों में कम ही देखने को मिलता है। दरअसल फैंटेसी मात्र कोरी कल्पना नहीं होती, बल्कि वह व्यक्ति के जीवानुभवों की उपज होती है। फैंटेसी के माध्यम से रचनाकार अपनी भावनाओं का अभिव्यक्त करता है। यह यथार्थ को प्रस्तुत करने की एक कला होती है। भारतीय साहित्य के पंचतंत्र और जातक कथाओं में इसका सफल प्रयोग हुआ है। दक्षिण अमेरिका के उपन्यासों में यूटोपिया, फैंटेसी और मिथकों का प्रयोग वहाँ की राजनीतिक परिस्थितियों के कारण हुआ। क्योंकि उपनिवेशवाद के समय से लेकर एक लम्बे समय तक दक्षिण अमेरिका की जनता ऐसी शासन–व्यवस्थाओं का सामना करती रही, जो यथार्थ को भ्रम और भ्रम को यथार्थ बनाकर पेश किया है। फलतः उपन्यासों में इन स्थितियों की जटिलता और भ्रामकता को मूर्त रूप देने के लिए जादुई यथार्थवाद के रूपक और बिंबों का प्रयोग किया गया है।[102] अपने उपन्यास 'एकांत के सौ वर्ष' के बारे में मार्क्वेस ने कहा है कि ''उपन्यास में एक भी ऐसा वाक्य नहीं है जो यथार्थ पर आधारित न हो। लेकिन उपन्यास में यथार्थ सरल–सीधे ढंग से नहीं आता। उपन्यास में जो यथार्थ होता है वह दैनिक–जीवन के यथार्थ से जुड़ा होकर भी उससे भिन्न होता है। उपन्यास में यथार्थ का कलात्मक विपर्याय होता है।''[103] जिस तरह से यूरोप में उपन्यास को पूँजीवाद की देन कहा गया है ठीक उसी तरह से जादुई यथार्थवाद को उपनिवेशवाद की देन कहा जा सकता है। यूरोप के साहित्य में जादुई यथार्थवाद को लेकर खूब बहसे हुई हैं, लेकिन अभी भारतीय साहित्य में जादुई यथार्थवाद पर अपेक्षित चर्चा नहीं हो पाई है। यदि कहीं उस पर चर्चा हुई भी है तो उसकी स्थिति भ्रामक ही रही है। डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने लिखा

है कि ''यह विडम्बना ही है कि उपन्यास रचना की जो प्रवृत्ति दक्षिण अमेरिका के उपन्यासों की जीवन शक्ति बनी हुई है और भारतीय उपन्यास में जिसके रचनात्मक उपयोग की अपार संभावनाएँ हैं, वह हिन्दी में विचार के स्तर पर दुर्गति का ही शिकार है। भारत से दक्षिण अमेरिका के अनेक देशों की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ मिलती हैं। जादुई यथार्थवाद जिन ऐतिहासिक सांस्कृतिक अनुभवों की उपज है, वैसे अनुभवों की भारत में भी कमी नहीं है। भारत के आदिवासियों और किसानों के जीवन में वे अधिकांश बाते मौजूद हैं जिनसे जादुई यथार्थवाद जुड़ा हुआ है लेकिन अभी हिन्दी साहित्य या हिन्दी उपन्यास में आदिवासियों की चिंता बहुत ही कम है।''[104] स्पष्ट है कि भारतीय कथा–साहित्य में किसानों और आदिवासियों के जीवन की समग्रता को जब तक कलात्मक रंग देकर चित्रित नहीं किया जायेगा तब तक जादुई यथार्थ को समझने दिक्कतें होंगी। जादुई यथार्थ की एक डोर लोक–साहित्य से जुड़ती है और लोक–साहित्य की महान पंरपरा को किसानों–आदिवासियों के जीवन में बखूबी देखा जा सकता है।

फैंटेसी और यूटोपिया यथार्थ–विरोधी न होकर, सामाजिक जीवन के यथार्थ को सही रूप में प्रस्तुत करने का एक माध्यम है। जादुई यथार्थवाद में मिथक और इतिहास के महत्व को बताते हुए डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है कि ''जादुई यथार्थवाद के उपन्यासों की कला में मिथक और इतिहास का संबन्ध भी ध्यान देने लायक है। इन उपन्यासकारों ने मिथक को उपन्यास का विषय नहीं बनाया है, बल्कि यथार्थ को मिथकीय दृष्टि से देखा और व्यक्त किया है। मिथकीय दृष्टि यथार्थबोध की संघटना और अभिव्यक्ति की संरचना में सक्रिय रही है।''[105]

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि 'जादुई यथार्थवाद' के आगमन से यूरोप के कथा–साहित्य को एक नई दिशा मिली। भारतीय साहित्य में अभी इस तरह का कोई साहित्यिक–आन्दोलन नहीं हुआ है जिससे जादुई यथार्थवाद को कथा–साहित्य में स्थापित

किया जा सके। यद्यपि भारतीय–साहित्य में यूटोपिया, फैंटेसी और मिथकों की कोई कमी नहीं है।

l UnHk xUFk&l ph

1. जर्मन दार्शनिक फायरबाख ने हेगेल के समर्थ भाववादी चिंतन से अभिभूत जर्मनी में भौतिकवादी चिंतन को प्रतिष्ठत किया। आरम्भ में भौतिकवाद भाववादी दर्शन से प्रभावित था। बाद में फायरबाख ने अपने को न केवल हेगल के चिंतन से मुक्त किया बल्कि अपनी दार्शनिक मान्यताओं द्वारा हेगेल का खंडन भी किया।
2. हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना – जनेश्वर वर्मा (ग्रन्थम प्रकाशन, रामबाग कानपुर प्र. सं. 1974) पृ. 33 पर उद्धृत
3. वैज्ञानिक भौतिकवाद – राहुल सांस्कृत्यायन (सोशलिस्ट लिटरेचर पब्लिशिंग हाउस, आगरा, सं. 1942) पृ. 46
4. मार्क्सवादी साहित्य चिंतन : इतिहास तथा सिद्धांत – शिवकुमार मिश्र (मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रथ अकादमी, सं. 1973) पृ. 67
5. दे. मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र – संपा. कमला प्रसाद व अन्य (संभावना प्रकाशन, हापुड़, प्र. सं. 1977) अतुलवीर अरोड़ा का लेख 'मार्क्सवाद के परिप्रेक्ष्य में रचना और विचार : स्वातंत्र्य का सवाल' पृ. 113
6. . वही, लुनार्चास्की का लेख –'मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएँ', अनु. अनिल कुमार श्रीवास्तव, पृ. 197
7. मार्क्सवादी साहित्य चितन : इतिहास और सिद्धांत – शिवकुमार मिश्र, पृ. 356)
8. लिटरेचर एन्ड आर्ट (कला और साहित्य)– कार्ल मार्क्स और एंगेल्स (करेन्ट बुक हाउस, बाम्बे, 195) पृ. 01
9. वही, पृ. 55
10. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका – मैनेजर पाण्डेय (हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, तृतीय सं. 2006) पृ. 228–229
11. मार्क्सवादी साहित्य–चिंतन : इतिहास तथा सिद्धांत– शिवकुमार मिश्र, पृ. 198 पर उद्धृत,
12. लिटरेचर एन्ड आर्ट (कला और साहित्य) –कार्ल मार्क्स और एंगेल्स, पृ. 37–40
13. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन– संपा. निर्मला जैन (हिन्दी माध्यान कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्र. सं. 1986) पृ. 94
14. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन– संपा. निर्मला जैन, पृ. 95

15. वही पृ. 95

16.It is Always bad for an Author to be infatuated with his hero....लिटरेचर एन्ड आर्ट– कार्ल मार्क्स–एंगेल्स, पृ. 39

17. कला और साहित्य–चितंन– संपा. नामवर सिंह, अनु. गोरख पाण्डेय, पृ. 51

18. वही, पृ. 204

19. वही, पृ. 204

20.मार्क्सवादी साहित्य चिंतन : इतिहास तथा सिद्धांत – शिवकुमार मिश्र, पृ. 208

21.पाश्चात्य काव्यशास्त्र : मार्क्सवादी परंपरा – संपा. मक्खनलाल शर्मा, पृ. 131

22. वही, पृ. 163

23. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन – संपा. निर्मला जैन, पृ. 109

24. उपन्यास का सिद्धांत – जार्ज लुकाच, संपा./अनु. आनंद प्रकाश (मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, बंबई, मद्रास, कलकत्ता, प्र. सं. 1981) पृ. 71

25. वही, पृ. 75

26. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन, पृ. 108

27. उपन्यास का सिद्धांत, पृ. 84

28. वही, पृ. 85

29. वही, पृ. 86

30. वही, पृ. 86

31.वही, पृ. 89

32. वही, पृ. 93

33. वही, पृ. 93–94

34. वही, पृ. 101

35. वही, पृ. 128

36. उपन्यास और लोक जीवन –रैल्फ फॉक्स, अनु. नरोत्तम नागर (पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा. लिमिटेड, नई दिल्ली) पृ. 01

37.पाश्चात्य काव्यशास्त्र : मार्क्सवादी परंपरा, पृ. 190

38. उपन्यास और लोक जीवन, पृ. 07

39. वही, पृ. 142

40. दे. आलोचना, जनवरी–मार्च, 2001 में सुरेश सलिल का संकलित लेख, 'विचार, विचारधारा और रैल्फ फाक्स', पृ. 47

41. उपन्यास और लोक जीवन, पृ. 45

42. वही, पृ. 44

43. वही, पृ. 49

44. वही, पृ. 54

45. वही, पृ. 56

46. वही, पृ. 69

47. वही, पृ. 73

48. वही, पृ. 102

49. कला की जरूरत – अर्न्स्ट फिशर, अनु. रमेश उपाध्याय, (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1990) पृ. 11

50. वही, पृ. 113

51. वही, पृ. 113

52. वही, पृ. 114

53. विभ्रम और यथार्थ – क्रिस्ट्रोफर कॉडवेल, अनु. भगवान सिंह, (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1990) पृ. 63,

54. वही, पृ. 242

55. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन, पृ. 104–105

56. वही, पृ. 67

57. वही, पृ. 67

58. वही, पृ. 70

59. वही, पृ. 73

60. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन, पृ. 75

61. वही, पृ. 82

62. वही, पृ. 109 पर उद्धृत

63. वही, पृ. 111 पर उद्धृत

64. वही, पृ. 111 पर उद्धृत

65. द लांग रेवॉल्यूशन – रेमेण्ड विलियम्स (चाट्टो विन्डुज, लन्दन, सं. 1967) पृ. 304

66. वही, पृ. 278–279

67. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका – मैनेजर पाण्डेय (हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, तृतीय सं. 2006) पृ. 186

68. वही, पृ. 187

69. गल्प का यथार्थ : कथालोचन के आयाम – सुवास कुमार (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रं. सं. 2010) पृ. 28

70. हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2009) पृ. 411

71. मार्क्सवादी साहित्य–चिंतन : इतिहास तथा सिद्धांत, पृ. 367

72. साहित्य और यथार्थ – हावर्ड फास्ट, अनु. विजय सुषमा (अरूणोदय प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1993) पृ. 36

73. वही, पृ. 39

74. कला की जरूरत, पृ. 114

75. द माडर्न ट्रेडिशन – लियोन ट्रॉटस्की (आक्सफोर्ड युनिवर्ससिटी, न्यूयार्क, सं. 1965) पृ. 348–49

76. यथार्थवाद – शिवकुमार मिश्र (दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लि. नई दिल्ली, कलकत्ता, बंबई, मद्रास, प्र. सं. 1975 पृ. 31

77. वही, पृ. 40

78. आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचन्द – सत्यकाम (राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रा. लि. नई दिल्ली, सं. 1994) पृ. 51–52

79. आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचन्द – सत्यकाम पृ. 54–55

80. कला की जरूरत, पृ. 111

81. ऑन लिट्रेचर – मैक्सिम गोर्की(फॉरेन, लैग्वेजेस् पब्लिकेशन्स, हाउस, मास्को) पृ. 32

82. वही, पृ. 265

83.मार्क्सवादी साहित्य चिंतन : इतिहास तथा सिद्धांत, पृ. 383

84.दे. समालोचक, फरवरी–जून, 1959 में संकलित लेख 'सोवियत साहित्य में यथार्थवाद पृ. 69

85. वही, पृ. 73 पर उद्धृत

86.वही, पृ. 71

87.वही, पृ. 72

88.वही, पृ. 74 पर उद्धृत

89.वही, पृ. 75

90.गल्प का यथार्थ : कथालोचन के आयाम, पृ. 16

91.दे. समालोचक, फरवरी–जून, 1959 में डॉ. रामअवध द्विवेद्वी का संकलित लेख 'कल्पना और यथार्थवाद' पृ. 35

92.साहित्य और यथार्थ, पृ. 40

93.कला की जरूरत, पृ. 87

94.पाश्चात्य काव्य शास्त्र : मार्क्सवादी परंपरा, पृ. 180

95.दे. समालोचक, फरवरी–जून, 1959, में श्री कुन्दनलाल उप्रैति का संकलित लेख 'लुकाच की यथार्थवाद संबन्धी मान्यताएँ', पृ. 94 पर उद्धृत

96.स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म – जार्ज लुकाच, (मर्लिन प्रेस, लन्दन, 1978) पृ. 32

97.पाश्चात्य काव्यशास्त्र : मार्क्सवादी परंपरा, पृ. 183

98.दे. वर्तमान साहित्य, फरवरी 2010 में रवि श्रीवास्तव का संकलित लेख 'लुकाच एवं ब्रेख्त : यथार्थवाद की समस्या, पृ. 15

99.दे. आलोचना जुलाई–सितम्बर 1974, में जार्ज लुकाच का संकलित लेख 'समकालीन यथार्थ प्रतिफलन के तत्व और परिदृश्यबोध' पृ. 20

100. दे. हंस, जून–1987 में डॉ. विभा मौर्य का लेख–अद्भूत यथार्थवाद या जादुई यथार्थवाद, पृ. 90

101. दस्तावेज–4 जुलाई–सितम्बर 1990 में संकलित अभय कुमार सिंह का लेख 'जादुई यथार्थवाद' पृ. 36

102. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ. 274

103. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ. 273 पर उद्धृत

104. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ. 271

105. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ. 274

nwljk v/;k; %

fgUnh esa mi U;kl dk fodkl vkj ekDlcknh vkykpuk nf"V

उपन्यास, आधुनिक युग–पूँजीवादी समाज–व्यवस्था–की लोकप्रिय साहित्यिक विधा है। जैसा कि रैल्फ फॉक्स ने लिखा भी है ''उपन्यास विश्व की कल्पना–प्रसूत संस्कृति को बुर्जुआ अथवा पूँजीवादी सभ्यता की सबसे महत्वपूर्ण देन है।''[1] इसका साहित्य में वही महत्व है जो सामंती युग में महाकाव्य का था, इसलिए इसे आधुनिक जीवन का महाकाव्य भी का जाता है। जीवन और समाज का सर्वांगीण चित्रण उपन्यास की लचीली विधा में बड़ी खूबी से इसलिए भी होता है क्योंकि इस विधा में न केवल सभी विधाओं के बल्कि, सभी कलाओं के समन्वित गुण भी उपलब्ध होते हैं।

सामान्यतः उपन्यास को श्रव्यकाव्य के अन्तगर्त रखा गया है। विश्व की लगभग सभी आधुनिक भाषाओं में उपन्यास का लेखन हुआ है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उपन्यास का जीवन के साथ निकट सम्बंध होता है। यह मानव जीवन को संपूर्णता एवं व्यापकता में प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। जीवन की वास्तविकता को आकर्षक ढंग से उपन्यास व्यक्त करता है।[2] मानव–जीवन का विविध रंगी रूप कलात्मकता से उपन्यास में प्रस्तुत होता है। इस चित्रण के लिए समय और समाज का सार्थक उपयोग उपन्यासकार करता है। अतः उपन्यास में तत्कालीन युग की झॉकी स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। उपन्यास का सत्य, यथार्थ जीवन के सत्य की तरह स्वाभाविक होता है।

उपन्यास मानव–जीवन की नियति और उसके बहुआयामी संघर्षों को लेकर आगे बढ़ता है। अतः इसमें स्वतः ही विषय–वैविध्य आ जाता है।जीवन की ही तरह उपन्यास के अनेक आकर्षक पहलू होते हैं जो इसकी लोकप्रियता को बढ़ाते हैं। प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द कहते हैं–''अगर आपको इतिहास से प्रेम है तो आप अपने उपन्यास में गहरे ऐतिहासिक तत्वों का निरूपण कर सकते हैं। अगर आप में कवित्व शक्ति है तो उपन्यास में उसके लिए भी अधिक गुंजाइश है, समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्व आदि सभी विषयों के लिए

उपन्यास में स्थान है। यहाँ लेखक को अपनी कलम का कमाल दिखाने का जितना अवसर मिल सकता है, उतना साहित्य की और किसी विधा में नहीं मिल सकता''[3] यानी, उपन्यास में सुख–दुखादि जीवन के विविध रंग उभरते हैं। इसमें जीवन के अनुभवों का कलात्मक प्रस्तुतीकरण होता है। उपन्यास एक साथ अतीत की प्रतिध्वनि, वर्तमान का प्रतिबिंब और भविष्य का संकेत होता है।

उपन्यास का अर्थ और स्वरूप बहुत कुछ समय के साथ बदलता रहा है। उपन्यास शब्द में ही अर्थ की विविधता है। जीवन, जगत, प्रकृति, समाज आदि के बीच बड़े सरल और जटिल सम्बंध होते हैं जिन्हें उपन्यास उद्‌घाटित करता है। किस्सागोई के अनेक रूप आज उपन्यास में घुल–मिल गए हैं। उपन्यास को पारिभाषित करते हुए 'न्यू इंग्लिश डिक्शनरी' में लिखा गया है कि 'नॉवेल वह विस्तृत गद्यात्मक आख्यान प्रधान रचना है जिसमें वास्तविक जीवन का अनुकरण करने वाली घटनाओं और पात्रों का एक व्यवस्थित कथावस्तु के रूप में वर्णन रहता है।'[4] यानी, उपन्यास के अत्यन्त व्यापक क्षेत्र में समाज की यथार्थपरक घटनाओं तथा पात्रों का जीवन्त चित्रण होता है।

क्लारा रीव के अनुसार उपन्यास यथार्थ–जीवन तथा तत्कालीन सामाजिक व्यवहार का चित्र है। उपन्यास की कसौटी यह कि वह हमारी परिचित वस्तुओं और दृश्यों का चित्रण इस ढंग से करे कि वह सामान्य हो जाय और कम–से–कम उपन्यास पढ़ते समय पाठक को यथार्थ का भ्रम हो जाय, पाठक उन्हें अपना समझने लगे।[5] इस परिभाषा में क्लारा रीव ने यथार्थ को महत्व दिया है और उपन्यास में वस्तुओं और दृश्यों के सामान्यीकरण होने की बात की है जिससे पाठक उपन्यास को पढ़ते समय वास्तविकता का अनुभव करे।

हेनरी जेम्स के विचार से उपन्यास का पृथक वैशिष्ट्य इसमें भी है कि वह सभी साहित्यांगों से सर्वाधिक बहुग्राही एवं सर्वाधिक लचीली विधा है।[6] स्पष्ट है कि हेनरी जेम्स ने उपन्यास को सबसे महत्वपूर्ण विधा माना है क्योंकि इसमें सभी विधाओं के तत्व

समाहित कर लेने की क्षमता है। उपन्यास में जिस प्रकार से व्यक्ति तथा समाज रूपान्तरित होकर आते हैं वैसा और किसी विधा में संभव होना कठिन है।

लूसिएँ गोल्डमान की नज़र में ''उपन्यास एक अप्रामाणिक विश्व में प्रामाणिक मूल्यों की खोज की कहानी है। अतः यह अनिवार्यतः जीवनी के साथ–साथ सामाजिक इतिवृत्त भी है।''[7] एक समाजशास्त्री होने के नाते गोल्डमान उपन्यास को एक सामाजिक दस्तावेज के रूप में देखते हैं जिसमें मानव–जीवन की पूरी कथा निहित रहती है। एक रचनाकार का जीवन–जगत के विषय में जो अनुभव होता है वह उपन्यास में, अन्य विधा की तुलना में बिल्कुल अलग और विशिष्ट होता है।

रैल्फ फॉक्स ने उपन्यास को कला के एक ऐसे नये रूप में देखा है जो बुर्जुआ समाज और साहित्य की देन है। उसने लिखा है कि ''उपन्यास बुर्जुआ साहित्य की न केवल सबसे प्रतिनिधि उपज है, बल्कि उसकी श्रेष्ठतम रचना भी है। यह कला का एक नया रूप है।''[8] स्पष्ट है कि उपन्यास में बुर्जुआ सामाजिक जीवन की जय–पराजय, आशा–निराशा, सुख–दुख, कुंठा, अन्तर्द्वंद्व इत्यादि का यथार्थपरक चित्रण होता है। लेकिन समय गुजरने के साथ उपन्यास में बुर्जुआ (मध्यवर्गीय) पात्र ही नहीं, निम्नवर्गीय पात्र और नायक भी प्रतिष्ठित होने लगे। इस तरह उपन्यास की परिधि में मनुष्य का संपूर्ण सामाजिक जीवन आ गया।

जार्ज लुकाच का मानना है कि ''उपन्यास जीवन की छिपी हुई समग्रता को उद्‌घाटित और निर्मित करता है।''[9] यानी, उपन्यास में प्रजाति और परिवेश की समस्त संबंधित वस्तुओं को प्रकाश में लाया जाता है।

उपन्यास के परिभाषा और स्वरूप के सन्दर्भ में भारतीय विद्वानों के विचारों को भी देखना समीचीन है। प्रेमचन्द ने उपन्यास को पारिभाषित करते हुए लिखा है कि ''मैं उपन्यास को मानव–चरित का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव–चरित पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल है।''[10] स्पष्ट है कि प्रेमचन्द उपन्यास

में मानव–चरित्र के रहस्यों पर विशेष जोर देते हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्य का सामाजिक व्यवहार महत्वपूर्ण है।

बाबू श्यामसुन्दर दास की नज़र में ''उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।''[11] यहाँ काल्पनिक कथा से तात्पर्य उस कलात्मकता से है जिसकी सहायता से रचना अधिक मार्मिक और ग्राह्य बना दी गयी हो जिसमें सुन्दर चयन–शक्ति की सहायता से जीवन का चित्रण प्रभावशाली ढंग से हो।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के यहाँ ''मानव–जीवन के अनेक रूपों का परिचय कराना उपन्यास का काम है। यह उन सूक्ष्म घटनाओं को प्रत्यक्ष करने का प्रयास करता है जिनसे मनुष्य का जीवन बनता है और जो इतिहास आदि की पहुँच से बाहर हैं।''[12] स्पष्ट है कि उपर्युक्त परिभाषा में समग्रतावादी दृष्टिकोण अपनाया गया है। उपन्यास की नज़र से मानव–जीवन का भीतरी–बाहरी कोई भी पक्ष अछूता नहीं रहता। वह अपने भीतर सभी मानवीय अनुभूतियों, स्थितियों को समाहित कर लेने की शक्ति रखता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि ''उपन्यास के अध्ययन का मतलब होना चाहिए किसी जाति या समाज के बढ़ते हुए विचारों और निरंतर उत्पन्न होती रहने वाली जीवन की यथार्थ परिस्थितियों से संपर्क स्थापित करते रहने के प्रयत्नों का अध्ययन। जन्म से ही उपन्यास यथार्थ जीवन की ओर उन्मुख रहा है।''[13] द्विवेदी जी उपन्यास को जीवन में गति देने वाले तत्वों को पहचानने वाली विधा के रूप में देखते हैं जिसमें मानव जीवन का सच्चाई से चित्रण होता है।

डॉ. रामविलास शर्मा उपन्यासकार के लिए यथार्थ जीवन का गहन ज्ञान, सुलझा हुआ दृष्टिकोण तथा गम्भीर वैचारिक क्षमता का समाहार आवश्यक मानते हैं जो गतिशील यथार्थ के प्रगतिशील तत्वों को देख–परख पाये, पात्र, परिवेश और घटनाओं के सापेक्षिक महत्व को पहचानकर उसका आकलन करे। उन्होंने लिखा है ''उपन्यास की विशेषता है, विस्तृत प्रत्यक्षीकरण। उपन्यास में जितने विस्तार से समाज की गतिविधि का चित्रण किया

जा सकता है उतने ही विस्तार से न ही कविता में संभव है, न नाटक में। यही कारण है कि साहित्य में यथार्थवाद कि विकास के साथ–साथ उपन्यास भी उसका मुख्य रूप बन गया है।''[14]

कहा जा सकता है कि उपन्यास को समझने के लिए न तो कोई नित्य और निश्चित मानदण्ड है और न ही कोई निश्चित पहचान। परिभाषाएं व मान्यताएं उपन्यास की विविध प्रवृत्तियों को स्पष्ट करती हैं। यदि सारी दृष्टियों को मिलाकर उपन्यास के समग्र रूप की पहचान की जाय तो भी वह अधूरी ही होगी। बात यह है कि उपन्यास समय के साथ चलने वाली लचीली साहित्यिक विधा है। समाज की वास्तविकता को सही तरह से उजागर करने का सशक्त माध्यम है। संपूर्ण जीवन के पक्षों को कलात्मक ढंग से उद्‌घाटित करना उपन्यास का कार्य है जिसके लिए वह कविता, नाटक, संस्मरण, रेखाचित्र, आत्मकथा, जीवनी, निबंध, डायरी आदि सभी विधाओं के गुणों को अपने समाहित कर लेता है।

माना जाता है कि उपन्यास का उदय यूरोप में लगभग तीन–चार सौ वर्ष पूर्व हुआ था। उस समय वहाँ पूँजीवाद का आरंभिक दौर था। उपन्यास के जन्म की प्रक्रिया भी पूँजीवाद के उदय के साथ ही शुरू हुई। साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा यूरोप में उपन्यास ने अधिक देर से प्रौढ़ता प्राप्त की। इससे पहले वहाँ प्रगीत, नाटक, महाकाव्य, निबन्ध इत्यादि साहित्य विधाओं की बड़ी धूम थी। यह कहना गलत न होगा कि उपन्यास के जन्म व विकास में रोमांस, मिथक, काव्य, नाटक, महाकाव्य आदि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, जो मध्यकाल में वहाँ साहित्यांग के रूप में प्रचलित थे और जिनकी नींव पौराणिक कथाओं में दिखाई देती है।

भारत में उपन्यास के उदय की परिस्थितियाँ यूरोप जैसी नहीं थी। यूरोप में जिस समय उपन्यास का जन्म हुआ वह समय वहाँ औद्योगिकरण का था। ऐसे में पूँजीपति वर्ग (बुर्जुआ वर्ग) का जन्म हुआ जो तत्कालीन समय को हर स्तर पर प्रभावित कर रहा था।

इस पूँजीपति वर्ग की क्रांतिकारी भूमिका के बारे में कार्ल मार्क्स और एंगेल्स ने लिखा है कि ''पूँजीपति वर्ग (बुर्जुआ वर्ग) ने जहाँ पर भी शक्ति प्राप्त की, वहाँ सामंतवादी, पितृसत्तावादी भावुकता के सभी संबंधों का उसने अन्त कर दिया 'जन्म से ही उच्च कहलाने वाले लोग जिन नाना सामंती शृंखलाओं से मनुष्य को बाँधकर गुलाम बनाए रखते थे, उन सबको निष्ठुरता से तोड़कर उसने अलग कर दिया। स्थूल स्वार्थ और नगद पैसे–कौड़ी के हृदय –शून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच और कोई दूसरा संबंध उसने बाकी नहीं रहने दिया। ऊँची से ऊँची धार्मिक भावनाओं वीरोचित उत्साह और भोली से भोली भावुकताओं, सब पर उसने आना–पाई का मुलम्मा चढ़ा दिया है। मनुष्य के गुणों को उसने बाज़ार की बिकाऊ चीज बना दिया।''[15]

लेकिन भारत में ऐसी स्थिति नहीं थी। यहाँ सामन्ती व्यवस्था के समानांतर एक ऐसी जाति–व्यवस्था भी थी जो हर तरह से भारतीय समाज का दोहन कर रही थी। फलस्वरूप भारत में जिस मध्यवर्ग का जन्म हुआ, वह न तो पश्चिम से तालमेल बिठा पा रहा था और न भारतीय–संस्कृति से पूरी तरह जुड़ पा रहा था। वह केवल पश्चिमी संस्कृति के प्रचार–प्रसार का माध्यम बना रहा। आगे चलकर अंगेजी सरकार ने सामंती–व्यवस्था के प्रभुत्व को नष्ट करना शुरू किया, जिससे भारतीय मध्यवर्ग ने स्वयं को तेजी से बदली हुई भारतीय परिस्थितियों में ढालना शुरू किया। इस मध्यवर्ग की सबसे बड़ी विडम्बना यह थी कि न तो पूरी तरह से वह पश्चिम से जुड़ पाया और न ही भारतीय संस्कृति से।

यानी, उपनिवेशवादी व्यवस्था में भारत में जिस मध्यवर्ग का जन्म हुआ था वह पश्चिम के मध्यवर्ग से बिल्कुल अलग था। इस मध्यवर्ग के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए डी. पी. मुखर्जी ने लिखा है कि ''उपनिवेशी व्यवस्था के कारण यहाँ एक ओर सुख–सुविधा और फुर्सत की जिन्दगी जीने वाले जमींदारों का एक नया वर्ग सामने आया और दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा में पला–बढ़ा वह समुदाय विकसित हुआ, जो भारतीय समाज से लगभग विच्छिन और अंग्रेजी राज का समर्थक था। इन्हीं दोनों के मेल से उस समय का भारतीय मध्यवर्ग बना था जो न पश्चिम के बुर्जुआ वर्ग जैसा था और न पुराने भारतीय व्यापारी

वर्ग की तरह। यह मध्यवर्ग अपनी जड़ों से कटा हुआ आधारहीन वर्ग था। इनमें से पश्चिमी शिक्षा में पला–बढ़ा समुदाय पश्चिमी संस्कृति के आयात का माध्यम बना।''[16] इस तरह का पहला मध्यवर्ग बंगाल में पैदा हुआ। क्योंकि बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा, छापाखाने आदि की शुरूआत पहले हुई। वहाँ अखबारों, पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन सबसे पहले शुरू हुआ था जिससे यूरोप की हलचलों का सीधा प्रभाव पड़ता था। अगर हिन्दी का तत्कालीन कथा–साहित्य बंगला साहित्य से प्रभावित रहा है तो इसमें आश्चर्य नहीं।

उपन्यास के उदय और विकास के सन्दर्भ में मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है कि ''उपन्यास के उदय और विकास के लिए अर्थात् उसके अस्तित्व के लिए कुछ ऐसे भौतिक और विचारधारात्मक आधारों की जरूरत थी, जो आधुनिक युग में ही विकसित हुए। उपन्यास के अस्तित्व के लिए अनिवार्य प्रेस, प्रकाशन, और पत्र–पत्रिकाएँ आधुनिक युग के वैज्ञानिक विकास की देन हैं तो उसके लेखक और पाठक के रूप में क्रियाशील मध्यवर्ग पूँजीवादी सामाजिक संरचना का परिणाम है। भौतिक आधारों के साथ–साथ विचारधारा के स्तर पर व्यक्तिवाद, धर्मनिरपेक्ष जीवन–दृष्टि और यथार्थवादी विश्वदृष्टि की जरूरत थी, जो आधुनिक युग की विवेकवादी चेतना की उपज है। उपन्यास की रचना दृष्टि में मनुष्य की स्वतंत्रता, व्यक्ति की महत्ता और मानवीय संबंधों की गरिमा को तभी केन्द्रीय महत्व मिला, जब आधुनिक मानस अपने अनुभव और तर्क के अलावा किसी अलौकिक शक्ति की सत्ता को स्वीकार करने के लिए तैयार न था। यह मध्ययुग में संभव न था। उपन्यास मध्ययुगीनता के विरूद्ध आधुनिकता के विद्रोह की अभिव्यक्ति करने वाला साहित्य रूप है।''[17]

भारत में उपन्यास के जन्म के सन्दर्भ में दो प्रकार के विद्वानों के मत हैं। जिसमें विद्वानों का पहला वर्ग उपन्यास का जन्म सर्वप्रथम संस्कृत साहित्य की कथा, गल्प, उपकथा, कथानिका, आख्यायिका, परिकथा आदि के विकास के रूप में हुआ मानता है। संस्कृत में उपन्यास शब्द की उत्पत्ति 'उप'–समीप तथा 'न्यास'–थाती के योग से बना है जिसका अर्थ हुआ (मनुष्य के) निकट रखी हुई वस्तु या कृति जिसको पढ़कर ऐसा लगे

कि यह हमारी ही है, इसमें हमारे ही जीवन का प्रतिबिम्बन है, इसमें कथा हमारी ही भाषा में कही गयी है।''[18] आचार्य भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में प्रतिमुख संधि के एक उपभेद के रूप में उपन्यास को 'उपपत्तिकृतोह्यर्थ प्रसादनम्'[19] कहा है। यानी, किसी अर्थ को युक्तिपूर्ण ढंग से उपस्थित करने वाला प्रसन्नता प्रदान करने वाला। प्राचीन संस्कृत साहित्य में उपन्यास का प्रयोग जिस अर्थ में होता था, वैसा आज नहीं हो रहा है। उपन्यास अत्याधुनिक साहित्य विधा है और अंग्रेजी के 'नॉवेल' शब्द के पर्याय के रूप में अब इसका प्रयोग किया जा रहा है। ''अंग्रेजी के नॉवेल को गुजराती में 'नवल कथा', मराठी में 'कादम्बरी', बंगला तथा हिन्दी में 'उपन्यास' कहते हैं।''[20] विद्वानों का दूसरा वर्ग भारत में उपन्यास का नाम तथा स्वरूप अंग्रेजी नॉवेल की नकल पर हुआ मानता है। भारतीय साहित्य में अंग्रेजी ढंग के उपन्यास का इतिहास लगभग 150 वर्ष पुराना है। यानी, 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उपन्यास अस्तित्व में आ चुका था। भारतीय कथा–साहित्य के सामने पाश्चात्य उपन्यास साहित्य अवश्य रहा होगा किन्तु उसकी नकल पर भारतीय उपन्यास नहीं लिखे गये। इस सन्दर्भ में नामवर सिंह का कहना है कि ''उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से पहले ही भारतीय उपन्यास अपनी अस्मिता प्राप्त कर चुका था। उसने इस अस्मिता का निर्माण किया था। इस अस्मिता का निर्माण अंग्रेजी उपनिवेशवाद के विरोध की प्रक्रिया में हुआ था, अंग्रेजी ढंग के नॉवेल की नकल से नहीं। अंग्रेजी नॉवेल ने भारतीय उपन्यास के विकास क्रम में उल्टे बाधा ही डाली है।''[21] स्पष्ट है कि नामवर जी के लिए हिन्दी के सभी उपन्यास या दूसरी भाषाओं के सभी उपन्यास अंग्रेजी नॉवेल की नकल नहीं हैं। इस सन्दर्भ में उनकी यह टिप्पणी ध्यान देने योग्य है ''कभी–कभी यह ख्याल भी आता है कि यदि सभी भारतीय भाषाओं में मराठी की तरह 'नॉवेल' के लिए 'कादम्बरी' संज्ञा स्वीकार कर ली गई होती तो शायद अपनी जातीय स्मृति अधिक सुरक्षित रहती और अपनी परंपरा का प्रत्यभिमान हमारी कलात्मक सर्जनात्मक में कुछ और रंग लाता।''[22]

हिन्दी के प्रारम्भिक दौर में तीन तरह के उपन्यास लिखे गये–'अंग्रेजी ढंग का नॉवेल' (परीक्षा गुरू), रोमांस (लवंगलता वा आदर्शबाला) तथा अद्‌भुत व चमत्कार प्रधान घटनाओं पर आधारित उपन्यास (चन्द्रकांता संतति, अद्‌भूत लाश)।

हिन्दी उपन्यास का आरम्भ हिन्दी के उदयकाल से जुड़ा हुआ है। 19वीं सदी के आरम्भ में हिन्दी गद्य के चार उन्नायकों–मुंशी सदासुखलाल, इंशाअल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र–ने अपनी रचनाओं के माध्यम से हिन्दी गद्य की शुरूआत की। यद्यपि इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' को छोड़कर अन्य सभी संस्कृत भाषा से अनूदित हैं। 'रानी केतकी की कहानी' की कथा पूर्णतः मौलिक है जिसमें उपन्यास का प्रारम्भिक रूप झलकता है। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु युग में हिन्दी उपन्यास का जन्म भारतीय कथा–परंपरा के स्वाभाविक विकास के ढंग पर हुआ। इस युग में भारतेन्दु के सहयोगी लेखकों ने उपदेशात्मक, सामाजिक, जासूसी, तिलस्मी, ऐतिहासिक एवं प्रेमपरक उपन्यासों की रचना की। इस युग के लगभग सभी उपन्यासों पर नवजागरण का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।

दरअसल, भरतेन्दु युग राष्ट्रीय जागृति का काल था। जन–जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जहाँ एक ओर परिवर्तन हो रहे थे, वहीं दूसरी ओर पाश्चात्य संपर्क में आने से हिन्दी साहित्य भी प्रेरणा और प्रभाव ग्रहण कर रहा था। हिन्दी में इसी कारण मौलिक उपन्यासों की रचना के साथ ही बड़ी संख्या में बंगला व पाश्चात्य भाषाओं के उपन्यासों का अनुवाद हिन्दी में किया गया। वैसे देखे तो हिन्दी में 'नॉवेल' तथा 'उपन्यास' शब्दों का सबसे पहला प्रयोग भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया था। (हालांकि बंगला से 'उपन्यास' नाम आया है। बंगला में भूदेव मुखर्जी के 'ऐतिहासिक उपन्यास' 1862 पुस्तक में 'उपन्यास' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हुआ है। बाद में बंकिम ने अपनी कृतियों को उपन्यास कहा।) उन्होंने ''हरिश्चन्द्र मैगजीन के प्रवेशांक में (15 अक्टूबर 1873 ई.) नॉवेल शब्द का उल्लेख किया था। मैगजीन के आवरण पृष्ठ पर जिन विषयों पर प्रकाशित होने वाली रचनाओं की घोषणा की गई थी उनमें नॉवेल भी था। फरवरी 1875 में प्रकाशित 'मालती' को उन्होंने

उपन्यास नाम दिया।''[23] स्पष्ट है कि आरम्भिक उपन्यास लेखन भारतीय कथा–साहित्य (पंचतत्र, हितोपदेश, कादम्बरी आदि) का विस्तार था। 'अंग्रेजी ढंग का पहला नॉवेल' (परीक्षा गुरू) लिखने का श्रेय लाला श्रीनिवास दास को है। लेकिन 'परीक्षा गुरू' से पूर्व कई मौलिक कथाएँ लिखी गईं जिनमें प्रमुख रूप से पं. गौरीदत्त कृत 'देवरानी–जेठानी की कहानी''(1870 ई.), ईश्वरी प्रसाद और मुन्शी कल्याण राय कृत 'वामाशिक्षक' (1872 ई.) तथा श्रद्धाराम फिल्लौरी कृत 'भाग्यवती' (1877 ई.) हैं जिनके लिए 'उपन्यास' शब्द का उल्लेख नहीं किया गया और ये रचनाएँ 'अंग्रेजी ढंग के नावेल' की कोटि में भी नहीं गिनी गयीं। इन कथाओं पर भारतीय नवजागरण का प्रभाव होने से स्त्री–शिक्षा के विकास और आदर्श स्त्री के निर्माण पर अधिक बल दिया गया। यह भी नवजागरण के उद्देश्यों में एक था।

पं. गौरीदत्त कृत 'देवरानी–जेठानी की कहानी' कथ्य की दृष्टि से सशक्त रचना है। लेखक ने कथा को विश्वसनीय और यथार्थवादी बनाने के लिए बिल्कुल नई शैली का प्रयोग किया है। कथा के केन्द्र में काशी नगर और वहाँ का समाज है। लेकिन शिल्प–कथोपकथन, चरित्र–चित्रण, भाषा आदि की दृष्टि से यह कमजोर लगती है। इसकी कथा इकहरी है और रहस्य, जिज्ञासा व कौतूहल जैसे औपन्यासिक तत्वों का इसमें अभाव है। 'देवरानी–जेठानी की कहानी' पर लेखक को सरकार की ओर से सौ रूपये का पुरस्कार मिला था और उसकी दो सौ प्रतियाँ खरीदी गई थीं। शायद इसी से प्रेरित होकर ''मेरठ के उर्दू मदरसे दस्तूर तालीम के अध्यापक–द्वय मुंशी ईश्वरीप्रसाद मुदर्रिस रियाजी (गणित) और मुंशी कल्याण राय मुदर्रिस अव्वल (प्रधानाध्यापक) ने 'वामाशिक्षक अर्थात दो भाई और चार बहनों की कहानी' की रचना की।''[24]'देवरानी–जेठानी' की तुलना में 'वामाशिक्षक' का चरित्र–चित्रण और कथोपकथन मजबूत है। इसमें भी दैनिक जीवन की बोलचाल की भाषा को अपनाया गया है और देश–काल का यथार्थ चित्रण हुआ है जिसमें उपदेशों की भरमार है।

इसी कड़ी में श्रद्धाराम फिल्लौरी की 'भाग्यवती' वह तीसरी महत्वपूर्ण कथा–रचना है जिसमें गृहस्थ धर्म की शिक्षा को केन्द्र में रखा गया है। 'भाग्यवती' में 19वीं सदी के आठवें दशक के समाज का अपेक्षाकृत प्रभावशाली ढंग से चित्रण हुआ है। फिल्लौरी ने ''लगभग दो दर्जन मुख्य व गौण पुरूष तथा स्त्री पात्रों के माध्यम से अपने समय का पूरा चित्रण प्रस्तुत कर दिया है। इन पात्रों में अधिकांश पुराने विचारों के लकीर के फकीर दिखाएँ गये हैं। लेकिन लेखक की सहानुभूति इन पुराने विचारों के लोगों के साथ नहीं है। लेखक की स्पष्ट सहानुभूति नये सुधारवादी विचारों के पोषक पात्रों के साथ उमड़कर सामने आती है।''[25]

भाग्यवती इस कथा की नायिका है। उसको केन्द्र में रखकर सारी कथावस्तु की बुनावट हुई है। लेखक ने भाग्यवती को एक ऐसी आदर्श स्त्री के रूप में चित्रित किया है जो पढ़ी–लिखी तथा परंपरा से जुड़ी हुई है। एक कुशल गृहिणी के सभी गुण उसके भीतर हैं। अपने पूर्ववर्ती कथाकारों की तुलना में श्रद्धाराम फिल्लौरी अधिक यथार्थवादी हैं। कहीं–कहीं उन्होंने हिन्दू समाज की बुराइयों, काशी के समाज तथा हरिद्वार के कुम्भ मेले की अच्छी तस्वीर खींची है। पुलिस विभाग की रिश्वतखोरी, बेईमानी, स्त्री–शिक्षा की समस्याओं के साथ–साथ स्त्री–स्वालम्बन की जरूरत पर बल दिया है एवं नवजागरण के कई अन्य पक्षों को भी प्रस्तुत किया है। लेकिन शिल्प की दृष्टि से इसमें कोई नयापन नहीं है। अपने पूर्ववर्ती उपन्यासों की भाँति इसमें भी कथा–शिल्प का सम्यक् निर्वाह नहीं हो पाया है। गोपाल राय के अनुसार ''भाग्यवती के कथा–संसार की सबसे बड़ी कमजोरी इसकी आदर्शोन्मुख अविश्वसनीयता है। इसकी केन्द्रीय पात्र भाग्यवती और अन्य प्रमुख पात्र जीते–जागते मनुष्य न होकर विचारों के उदाहरण हैं।''[26] श्रद्धाराम फिल्लौरी ने भाग्यवती में विचारों को इसलिए अधिक महत्व दिया है क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य स्त्रियों को पढ़ने–पढ़ाने तथा गृहस्थ धर्म की शिक्षा देना था। कुल मिलाकर देखा जाय तो इन कथा–पुस्तकों का हिन्दी साहित्य में अपना एक अलग ही महत्व है, क्योंकि नवजागरण के फलस्वरूप जो नई चेतना हिन्दी पट्टी में फैल रही थी उसके चित्र यहाँ हैं। हिन्दी में

उपन्यास के शिल्प का विकास जिस क्रमिक रूप में हुआ उसका भी एक रूप इन कथा–पुस्तकों में दिखाई देता है।

ज्ञातव्य है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी सन् 1976 ई. में 'एक कहानी : कुछ आप बीती कुछ जग बीती' नाम से एक उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया था जो कि ज्ञानचन्द्र जैन के अनुसार ''धारावाहिक रूप में 'कविवचन सुधा' भाग–8 संख्या–22, वैशाख कृष्ण–4, संवत् 1933 में प्रकाशित हुआ।''[27] लेकिन इसके दो पृष्ठ ही प्रकाशित हुए। चरित्र–चित्रण, कथोपकथन, देशकाल की दृष्टि से इसमें नवीनता है। इसमें स्वयं भारतेन्दु के जीवन की कथा है। इसके दो पृष्ठ से ही भारतेन्दु की औपन्यासिक प्रतिभा का पता चलता है। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है कि ''चित्रण की यह चुस्ती और सफाई देखकर हर किसी को अफसोस होगा कि भारतेन्दु का अधिक समय उपन्यास लिखने में न लगा। उनकी प्रतिभा जिस बुलन्दी पर यहाँ दिखाई देती है, उस बुलन्दी पर नाटकों और निबन्धों में भी नहीं दिखाई देती।''[28]

नवंबर 1879 ई. में हिन्दी प्रदीप' के जिल्द 3, सं. 3 में बालकृष्ण भट्ट ने धारावाहिक रूप में 'रहस्यकथा' नामक उपन्यास को प्रकाशित किया जो मई 1982 ई. तक प्रकाशित होता रहा, लेकिन पूर्ण नहीं हो सका। 'रहस्यकथा' कथ्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें अवध के एक गाँव तथा लखनऊ के जमींदार परिवार की कथा है। उन्नीसवीं शताब्दी के सामंत वर्ग के ह्रास, उसके पारिवारिक खड्यन्त्र, प्रेम–विवाह की समस्या आदि उपन्यास के केन्द्र में हैं। भाषा की दृष्टि से यह सफल रचना है। इसमें सरल बोलचाल की भाषा के साथ अवधी, अंग्रेजी, अरबी–फारसी के शब्दों का प्रयोग हुआ है।

राधाकृष्णदास[29] ने सन् 1881 ई. में 'निःसहाय हिन्दू' उपन्यास लिखा, लेकिन वह लम्बे समय बाद 1990 में प्रकाशित हुआ। कथ्य की दृष्टि से 'निःसहाय हिन्दू' में थोड़ी नवीनता यह है कि यहाँ गो–वध निवारण और काशी का समाज व परिवेश है। यह उन्नीसवीं सदी का प्रथम उपन्यास है जहाँ मुस्लिम पात्रों एवं उनके समाज का चित्रण हुआ है। गोपाल

राय ने लिखा है कि ''शिल्प की दृष्टि से भी निःसहाय हिन्दू में अद्‌भुत नवीनता है। यह हिन्दी का पहला पूर्ण उपन्यास है जिसमें नाटकीय पद्धति पर प्रसंगों के निर्माण तथा कथाओं के युगवत् संकमण की प्रविधि अपनाई गई है।''[30] इसमें बोलचाल की भाषा को अपनाते हुए अवधी–भोजपुरी–मिश्रित खड़ी बोली का प्रयोग हुआ है।

सन् 1882 ई. में लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षागुरू'[31] उपन्यास प्रकाशित हुआ जिसे स्वंय लेखक ने अनुभव के आधार पर लिखी गई 'एक संसारी वार्ता' कहा है। क्योंकि उस समय तक नॉवेल के लिए उपन्यास शब्द स्वीकृत नहीं हो पाया था। हालांकि 'हिन्दी प्रदीप' में परीक्षागुरू की समीक्षा करते हुए बालकृष्ण भट्ट ने उसे उपन्यास कहा था।[32] परीक्षागुरू के कथा–शिल्प, चरित्र–निर्माण तथा भाषा के ऊपर अंग्रेजी उपन्यासों का प्रभाव है। उपन्यास की कथा केवल पाँच दिनों की है जिसमें स्वदेशी और विदेशी वस्तुओं एवं विचारों के माध्यम से राष्ट्रीयता को उजागर किया गया है तथा भौतिकता का विरोध हुआ है। उपन्यास के केन्द्र में दिल्ली के रईस साहूकार लाला मदनमोहन हैं जो पश्चिमी सभ्यता की नकल एवं अपने स्वार्थी मित्रों की संगत में दिवालियेपन की हद तक पहुँच जाते हैं लेकिन अपनी पत्नी व एक सच्चे मित्र ब्रजकिशोर की मदद से अपनी पूर्व स्थिति में आते हैं। इस उपन्यास के कथ्य एवं शिल्प की नवीनता को देखते हुए इसे हिन्दी का प्रथम उपन्यास मानना गलत न होगा।

इस दशक के सबसे सक्रिय उपन्यासकार के रूप में बालकृष्ण भट्ट का नाम आता है। उन्होंने तीन अपूर्ण (गुप्त वैरी, उचित दक्षिणा, सदभाव का अभाव) और दो पूर्ण उपन्यासों (नूतन ब्रह्मचारी, सौ अजान और एक सुजान) की रचना की। 'नूतन ब्रह्मचारी' सन् 1886 ई. में प्रकाशित हुआ जिसमें पचास वर्ष पूर्व की स्थिति का चित्रण हुआ है। कथानक की भूमि नासिक (महाराष्ट्र) है। 'नूतन ब्रह्मचारी' कथ्य और शिल्प की नज़र से औपन्यासिक खाँचे में फिट नहीं बैठता है क्योंकि इसमें नैतिक उपदेशों व प्रकृति वर्णन को विशेष महत्व दिया गया है तथा अलंकृत, कृत्रिम भाषा का प्रयोग हुआ हुआ है जिससे कथानक बाधित हाता है। कुल मिलाकर यह शिक्षाप्रद उपन्यासों की कोटि में आता है। इसी तरह 'सौ

अजान और एक सुजान' भी शिक्षाप्रद उपन्यासों की श्रेणी में आता है लेकिन इसमें अंग्रेजी शासन के हाकिमों का यथार्थ चित्र देखने को मिलता है। अपने युग के समाज के विभिन्न स्तरों का चित्रण हुआ है। भट्ट जी के सभी उपन्यासों में यह कथ्य और शिल्प की दृष्टि से सबसे अधिक प्रभावशाली उपन्यास है।

ठाकुर जगमोहन सिंह ने सन् 1885 ई. में 'श्यामा स्वप्न' नामक उपन्यास की रचना की जो 1888 ई. में प्रकाशित हुआ। उपन्यास के मुख्य पृष्ठ पर लेखक ने इसे ''गद्यप्रधान चार खण्डों में एक कल्पना (हिन्दी में) और 'एन ओरिजिनल नॉवेल इन हिन्दी प्रोज' (अंग्रेजी और रोमन अक्षरों में) की संज्ञा दी है।''[33] यानी सन् 1888 तक हिन्दी में नॉवेल के लिए उपन्यास शब्द प्रयोग में नहीं आया था। 'श्यामा स्वप्न' के शीर्षक से ही यह मालूम हो जाता है कि यह एक स्वप्न–कथा है। लेखक ने रात्रि के चार पहर के स्वप्नों को बुनकर एक प्रेम कथा का निर्माण किया है जो एक कोरी कल्पना है। इसे शिल्पगत प्रयोग के रूप में देखा जा सकता है।

इस युग में इस तरह के बहुत सारे उपदेशात्मक, आदर्शवादी, सामाजिक उपन्यासों की रचना हुई जैसे–'जया' (कार्तिक प्रसाद खत्री), 'लंवग लतिका', 'कुसुम–कुमारी', 'लीलावती वा आदर्शसती', 'पुनर्जन्म वा सौतिहा डाह', 'अंगूठी का नगीना' (किशोरीलाल गोस्वामी), 'सास पतोहु', 'बड़ा भाई', 'नये बाबू' (गोपालराम गहमरी), 'धूर्त रसिकलाल', स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी', (लज्जाराम मेहता), 'अधखिला फूल', ठेठ हिन्दी का ठाठ', (अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध') 'सौन्दर्योपासक', 'राधाकान्त' (ब्रजनंदन सहाय), 'रामलाल' (मन्नन द्विवेदी), 'वन जीवन वा प्रेमलहरी' (राधिकारमण प्रसाद सिंह) इत्यादि का नाम विशेष रूप से आता है। इन उपन्यासों में घटनाओं और परिस्थितियों के माध्यम से व्यक्ति जीवन के उतार–चढ़ाव एवं उसके समाज का यथार्थ चित्रण किया गया है। जहाँ कई तरह की समस्याएँ हैं लेकिन इन समस्याओं का हल भी है। इन उपन्यासों के अन्त में बुराई से बचकर भलाई की ओर अग्रसर होने के उपदेश हैं।

उन्नीसवीं सदी के नवें दशक तक हिन्दी में बहुत सारे उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे लेकिन उपन्यास के पाठकों का अभाव था। हिन्दी में इस तरह का कोई ऐसा उपन्यास नहीं था जो हिन्दी पाठकों की संख्या में वृद्धि करता। यद्यपि इस समय तक 'सिंहासन बत्तीसी', 'तिलिस्म होशरूबा', 'हातिमताई के किस्से' इत्यादि का अनुवाद हिन्दी में हो चुका था। पाठक संख्या के लिहाज से इन कृतियों की तुलना में हिन्दी के उपदेशात्मक, सामाजिक उपन्यास बहुत पीछे थे। इसलिए उस समय ऐसे उपन्यासों की जरूरत महसूस की गई जिनमें कौतूहल, आश्चर्य, मनोरंजन आदि गुण अधिक मात्रा में हों। ऐसी परिस्थितियों के बीच देवकीनंदन खत्री ने 1987 ई. में 'चन्द्रकांता' नामक उपन्यास की रचना की। यह उपन्यास प्रेम, तिलिस्म, ऐयारी और चमत्कारपूर्ण घटनाओं पर आधारित था। हिन्दी के अधिकांश आलोचकों की नज़र में यह उपन्यास केवल शुद्ध मनोरंजन करता है। खत्री जी के जीवन–संघर्ष, परिवेश तथा देशकाल को समझने की कोशिश की जाय तो लगेगा कि खत्री जी ने इसमें मिथक व प्रतीकों के माध्यम से अपने तत्कालीन समय व समाज का चित्रण भी किया है।

'चन्द्रकांता' की कथा का विस्तार 'चन्द्रकांता संतति' और 'भूतनाथ' में हुआ है। 'चन्द्रकांता संतति' की कथा 29 भागों में है जिसके अन्तिम 14 भागों की रचना खत्री जी के पुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने की। इसमें प्रेम, साहस और शौर्य की प्रधानता है। 'भूतनाथ' उपन्यास में भूतनाथ नामक पात्र केन्द्र में है जिसकी मनोस्थितियों तथा द्वन्द्वों का मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। इसके अतिरिक्त देवकीनंदन खत्री ने 'वीरेन्द्रवीर अथवा कटोरा भर खून' (1895), 'नौलखाहार' (1899), 'काजर की कोठरी' (1902) और 'गुप्त गोदना' (अपूर्ण) नामक उपन्यासों की रचना की।

तिलिस्म उपन्यास लिखने वालों में हरिकृष्ण जौहर का नाम भी उल्लेखनीय है। उनके प्रमुख उपन्यास हैं–'कुसुमलता' (1899), 'भयानक भ्रम' (1900), 'नारी पिशाच' (1901), 'जादूगर' (1901), 'कमल कुमारी' (1902), 'भयानक खून' (1903) इत्यादि। जासूसी उपन्यासकारों में गोपालराम गहमरी अग्रणी हैं। इन्होंने 'जासूस' नाम का एक मासिक पत्र

भी निकाला था जिसमें जासूसी उपन्यास और कहानियाँ छपती थी। गहमरी ने लगभग दो सौ के आसपास जासूसी उपन्यास लिखे जिनमें प्रमुख हैं 'अद्‌भुत लाश' (1896), 'गुप्तचर' (1899), 'बेकसूर की फाँसी' (1900), 'सरकटी लाश' (1900), 'जासूस की भूल (1901), 'गुप्तभेद' (1913) इत्यादि। जासूसी व तिलिस्म उपन्यासों में घटना को प्रमुखता मिलती है। लेकिन इन उपन्यासों के कथानक प्रायः उलझे हुए मिलते हैं जिसमें नैतिक दृष्टिकोण के साथ–साथ उपन्यास के अंत में आदर्शवादी बातें कही गई हैं।

इस युग में ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गये। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वालों में किशोरीलाल गोस्वामी का नाम सबसे आगे है। उन्होंने 'तारा वा क्षात्र कुल कमलिनी' (1909), 'कनक कुसुम वा मस्तानी' (1903), 'सुल्तान रजिया बेगम वा रंगमहल में हलाहल' (1904), 'हृदय हारिणी वा आदर्श रमणी' (1904), 'लवंगलता वा आदर्शबाला' (1909) आदि उपन्यासों की रचना की। इन उपन्यासों में प्रायः औपन्यासिक तत्वों का अभाव दिखाई देता है। गोस्वामी जी ने अपने उपन्यासों में नायिकाओं के नखशिख, विरह तथा प्रकृति के काव्यात्मक वर्णनों को अधिक जगह दी है, जिससे भाषा काव्यात्मक हो गई है। ऐतिहासिक उपन्यासों की कसौटी यह है कि उसमें इतिहास और कल्पना के समन्वय के साथ–साथ तत्कालीन समाज का चित्रण होता है। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों में न तो इतिहास का समन्वय हुआ है और न ही उस समाज की सामाजिक स्थितियों, मनुष्य मन की आकांक्षाओं आदि का सफल चित्रण हुआ है।[34] गोस्वामी जी ने सुनी–सुनाई ऐतिहासिक घटनाओं के चित्रण के साथ रहस्यमय घटना–प्रसंगों की सृष्टि की है जिनका इतिहास से कोई खास संबन्ध नहीं है।

किशोरीलाल गोस्वामी के पश्चात् ऐतिहासिक उपन्यास लेखकों में गंगाप्रसाद गुप्त, जयरामगुप्त, मथुरा प्रसाद शर्मा, बाबू ब्रजनंदन सहाय और मिश्रबन्धु का नाम जाता है। गंगाप्रसाद गुप्त ने 'नूरजहाँ' (1902), 'वीर पत्नी' (1903), 'कुमार सिंह सेनापति' (1903), 'हमीर' (1903) जैसे कई उपन्यासों की रचना की। जयराम दास गुप्त के प्रमुख उपन्यासों में 'कश्मीर पतन' (1907), 'मल्का चाँदबीबी' (1909), 'रंग में भंग' (1907), 'मायारानी'

(1908) इत्यादि का नाम लिया जाता है। मथुराप्रसाद शर्मा ने 'नूरजहाँ बेगम व जहाँगीर' (1905) नामक उपन्यास लिखा जिसमें ऐतिहासिक तत्वों की उपस्थिति है। बाबू ब्रजनंदन सहाय ने 'लालचीन' नाम से एक उपन्यास लिखा जिसमें गयासुद्दीन बलबन के संघर्ष की कहानी है। मिश्रबन्धुओं ने 'वीरमणि' नामक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा। इसमें कान्यकुब्ज के ब्राह्मणों का विशेष उल्लेख हुआ है।[35]

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इस काल के लेखकों की दृष्टि इतिहास से दूर हटकर केवल, प्रणय कथाओं, विलासिता, रहस्यमय प्रसंगों, कौतूहलपूर्ण घटनाओं की ओर अधिक रही है। उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों को खोजने की कोशिश नहीं की। केवल पाठकों के मनोरंजन के लिए उपन्यास लिखे।

प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यासकारों ने बड़ी संख्या में, बंगला, अंग्रेजी, मराठी, गुजराती, उपन्यासों का हिन्दी अनुवाद किया। देखा जाय तो हिन्दी भाषा में सबसे पहला अनुवाद बाणभट्ट कृत 'कादम्बरी' का हुआ। ज्ञानचन्द जैन के अनुसार ''कादम्बरी भारतेन्दु के अनुरोध और उत्साह से अनुवादित हिन्दी का पहला उपन्यास था।''[36] बंगला के बंकिमचन्द्र कृत 'दुर्गेश नन्दिनी' तथा रमेशचन्द्र दत्त कृत 'बंगविजेता' का हिन्दी अनुवाद गदाधर सिंह ने किया। राधाकृष्ण दास ने तारकनाथ गांगुली के 'स्वर्णलता' का हिन्दी अनुवाद किया। प्रताप नारायण मिश्र ने बंकिमचन्द्र के 'राजसिंह', 'राधारानी', 'इंदिरा' और 'युगलांगुरीय' का हिन्दी अनुवाद किया। राधाचरण गोस्वामी ने दामोदर मुखर्जी के 'मृण्मयी' का हिन्दी अनुवाद किया। बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'इला' (1895), 'प्रमिला'(1896), 'जया' और 'मधुमालती' का अनुवाद किया। गोपालराम 'गहमरी' ने 'चतुर चंचला', 'भानमती', 'नये बाबू', 'बड़ा भाई' आदि उपन्यासों का अनुवाद किया। भारतेन्दु की महिला मित्र मल्लिका देवी ने बंगला से 'चन्द्रप्रभा और पूर्ण प्रकाश' का हिन्दी अनुवाद किया।

अन्ततः कहा जा सकता है इस काल के अनूदित उपन्यासों का हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास में अपना एक अलग महत्व है। इस युग में हिन्दी पाठकों को दूसरी

भाषाओं के उपन्यासकारों से परिचित होने के अवसर मिला। यह कहना गलत न होगा कि प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यासों की एक समृद्ध परंपरा है जिसमें कई तरह के उपन्यास लिखे गये। यह एक अलग शोध का विषय होगा कि उसमें से कितने उपन्यास के अन्तर्गत आते हैं और कितने मनोरंजन के अर्न्गत। यह भी एक सच्चाई है कि हिन्दी में उपन्यास का आरम्भिक समय सामाजिक मूल्यों एवं नवजागरण से प्रेरित था। यह युग हिन्दी पाठकों के निर्माण का था जिससे प्रेमचन्द को एक उर्वर भूमि मिली जहाँ हिन्दी उपन्यास पुष्पित–पल्लवित हुआ।

प्रेमचन्द के हिन्दी कथा साहित्य में आगमन से पूर्व बड़ी संख्या में रचे गये मनोरंजन–प्रधान उपन्यासों का कई दृष्टि से महत्व है। इन कथाकृतियों के माध्यम से एक तो हिन्दी गद्य का रूप का तैयार हो रहा था, हिन्दी गद्य भाषा अपना व्याकरण प्राप्त कर रही थी और साथ–साथ उपन्यास का ढाँचा भी तैयार हो रहा था। उपन्यास कला की दृष्टि से लेखकों में कथानक, कथोपकथन, वातावरण–अंकन, चरित्र–चित्रण, रचनात्मक उद्देश्य आदि बातों की समझ धीरे–धीरे विकसित हो रही थी। यह ठीक है कि सभी उपन्यास लेखक अपनी रचनाओं के विषय को अपने समय और समाज से जोड़कर देखने में पूरी तरह सक्षम नहीं हो पा रहे थे, फिर भी धीरे–धीरे उनमें ऐसी क्षमता का विकास भी हो रहा था। यहाँ गौर करने की बात है कि इन्हीं रचनाओं का अध्ययन करके भविष्य में प्रेमचन्द की औपन्यासिक प्रतिभा बनने और निखरकर सामने आने वाली थी।

प्रेमचन्द को हिन्दी साहित्य में 'उपन्यास सम्राट' के नाम से भी पुकारा जाता है। हिन्दी में प्रेमचन्द के उपन्यास लेखन की यात्रा 'सेवासदन' (1918) से होकर 'गोदान' (1936) और अपूर्ण 'मंगलसूत्र' तक जाती है। इससे पहले वे उर्दू में लिख रहे थे। प्रेमचन्द के हिन्दी में आने से हिन्दी उपन्यास को एक नई दिशा मिली और कथा साहित्य में एक नए युग (प्रेमचन्द युग) का आरम्भ हुआ। प्रेमचन्द के यहाँ यथार्थ की जो पकड़ है वह उन्हें उनके पूर्व के उपन्यासकारों से अलग करता है। इसलिए जरूरी है कि प्रेमचन्द की यथार्थवादी मान्यताओं पर पहले विचार किया जाय।

हिन्दी के आलोचकों ने प्रेमचन्द के यथार्थवाद के संबन्ध में अलग–अलग मत जाहिर किए हैं। जहाँ एक तरफ नगेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रेमशंकर और शिवनारायण श्रीवास्तव जैसे आलोचक उन्हें आदर्शवादी उपन्यासकार मानते हैं तो वहीं दूसरी ओर डॉ. रामविलास शर्मा ने उन्हें यथार्थवादी उपन्यासकार के रूप में देखा है। वैसे प्रेमचन्द सहीं अर्थों में अपने को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' उपन्यासकार मानते थे। इससे जर्नादन, राजेश्वर गुरू और त्रिभुवन सिंह जैसे विद्वान सहमत भी हैं। देखा जाय तो कोई भी श्रेष्ठ साहित्य न तो शुद्ध आदर्शवादी होता है और न ही शुद्ध यथार्थवादी। यही बात उपन्यास पर भी लागू होती है।

प्रेमचन्द का कहना था–''मैं उपन्यास को मानव–चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।''[37] प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों की रचना केवल चरित्र–चित्रण के उद्देश्य से नहीं की है बल्कि अपने चारों ओर के जीवन और लोगों को उसमें व्यक्त किया है जिसमें मनोजगत का भी प्रभावशाली चित्रण हुआ है। प्रेमचन्द इस ओर भी संकेत करते हैं कि मानव चरित्र में उज्ज्वलता ही नहीं होती उसमें कालिमा भी रहती है। मनुष्य के यथार्थ चित्रण के लिए इसका भी चित्रण करना होता है लेकिन इसका अत्यधिक चित्रण अवांछनीय है, क्योंकि यह मानव सामज को प्रेरित नहीं कर पाता। मानव–दुर्बलताओं का अतिरंजित वर्णन होने से नग्न यथार्थवाद सामने आता है। प्रेमचन्द के अनुसार ''यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही नज़र आने लगती है।''[38] प्रेमचन्द उपन्यासकार से यह आशा करते हैं कि वह केवल जीवन की बुराईयों को चित्रित न करे, बल्कि उसमें अपनी भावना का रंग देकर उसे अधिक आकर्षक रूप में प्रस्तुत करे, किसी उपन्यास में आदर्श जब यथार्थ का सहायक होकर आता है तब वह समाज के लिए उपयोगी एवं कल्याणकारी होता है। इसी को प्रेमचन्द आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहते हैं।[39] दरअसल, प्रेमचन्द ने अपने

समय में प्रचलित उस प्रकृतवादी यथार्थवाद का विरोध किया जो पश्चिम की नकल पर हिन्दी में आया था। इस यथार्थ की अभिव्यक्ति एक ब्यौरे के रूप में होती थी जिसमें जो वस्तु जैसी थी उसको उसी रूप में साहित्य में रख दिया जाता था।

प्रेमचन्द बताते हैं कि जब किसी उपन्यास में आदर्श ही आदर्श प्रमुख होता है तब वह अस्वाभाविक और अग्राह्य हो जाता है, जिसे प्रेमचन्द स्वीकार नहीं करते हैं, इसलिए उनकी कला अधिकतर आदर्श और यथार्थ का समन्वय करती है। उनका आदर्श कल्पना की उड़ान न होकर यथार्थ की ठोस धरातल पर स्थित है, जो कभी–कभी अविश्वसनीय भी लगता है, जिस पर कई आलोचकों को आपत्ति है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के अस्तित्व से इंकार करते हैं। उनके अनुसार ''कोई कलाकार या यथार्थवादी हो सकता है या आदर्शवादी ही। ये दोनों परस्पर विरोधी विचारधाराएँ और कला शैलियाँ हैं। इनका मिश्रण किसी एक रचना में संभव नहीं। साहित्यिक निर्माण में यथार्थोन्मुख आदर्शवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद नाम की कोई वस्तु नहीं हो सकती।..... आदर्श और यथार्थ को मिलाने वाला कोई पृथकवाद नहीं है। यह तर्क संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दो परस्पर–विरोधी जीवन–दर्शनों और कला–परिस्थितियों में एकत्व की कल्पना ही कैसे की जा सकती है।''[40] इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यथार्थ और आदर्श दोनों अलग–अलग विचार है लेकिन इसका यह कतई अर्थ नहीं निकलता कि यथार्थवादी रचनाकार यथार्थ की समस्याओं का आदर्शवादी सुझाव नहीं दे सकता। किसी भी रचना में आदर्श और यथार्थ में से कोई एक प्रमुख होता है और दूसरा गौण। इसलिए वाजपेयी जी के विचारों से पूर्णतः सहमत नहीं हुआ जा सकता है।

नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रेमचन्द को आदर्शवादी लेखक मानने के साथ ही उनके उपन्यासों, घटनाओं एवं चरित्रों पर आदर्शवादी होने का लेबल लगाया है। उनके अनुसार ''प्रेमचन्द के उपन्यासों में सबसे प्रमुख विशेषता है उनकी आदर्शवादिता। चरित्रों और उनकी प्रवृत्तियों का निर्देश करने में वे आदर्शोन्मुखी हैं। घटनावली का निर्माण और

उपसंहार करने में आदर्श का सदैव ध्यान रखते हैं। उद्देश्य की अत्यधिक प्रमुखता प्रेमचन्द जी को उपदेशात्मक लेखक की श्रेणी में पहुँचा देती है।''[41]

यह सत्य है कि प्रेमचन्द के अधिकांश उपन्यासों के चरित्रों को उपन्यास के अन्त में आदर्शवादी रूप दिया गया है जहाँ वे अपनी सारी बुरी प्रवृत्तियों को त्याग देते हैं। इसी तरह से घटनाक्रम को भी आदर्श की ओर मोड़ा जरूर गया है, लेकिन समस्याओं के चित्रण में उनका यथार्थ बना हुआ है। अतः प्रेमचन्द को केवल आदर्शवादी लेखक मान लेना उचित नहीं है। प्रेमचन्द ने लिखा है कि ''भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद ही का समर्थक है। हमें भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिए। हाँ यथार्थ का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिए कि सत्य दूर न जा पड़े।''[42] यथार्थ और आदर्श के संबन्ध में प्रेमचन्द का जो विचार है वह विशुद्ध साहित्यिक स्तर पर साहित्य को जीवन्त बनाता है और यथार्थवाद की एक नई दिशा का निर्धारण करता है। जहाँ यथार्थ आदर्श की ओर उन्मुख होता है।

प्रेमचन्द ने सामाजिक उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए अपने उपन्यासों में यथार्थ को अभिव्यक्त किया है। वहाँ भावना तथा आदर्श का समन्वय है। जिस यथार्थ से समाजिक वातावरण छिन्न–भिन्न होता है वह यथार्थ उनकी दृष्टि में त्याज्य है। इसलिए उन्हें यथार्थ के साथ आदर्श को लाना पड़ा। प्रेमचन्द का जितना ध्यान समाज की विसंगतियों पर था उतना ही उन विसंगतियों को दूर करने पर भी था। यही वजह है कि उनका आदर्शवाद कहीं–कहीं उपदेशक तथा समाज–सुधारक की भूमिका में दिखता है। जैसे–'सेवासदन' में सेवासदन की स्थापना द्वारा वेश्यावृत्ति का उन्मूलन। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमाश्रम के निर्माण द्वारा किसान–जमींदारी समस्या का समाधान देना। ये कुछ ऐसे प्रंसग हैं जिनके यथार्थ को लेकर संदेह पैदा होना स्वाभाविक है।

डॉ. राजेश्वर गुरू का विचार है कि ''प्रेमचन्द यथार्थ भी चाहते हैं और आदर्श भी। दोनों के बिना साहित्य उपयोगी नहीं होगा, लेकिन ये दोनों अतियों से अपने को बचाये

रखना चाहते हैं। अब सोचना यह है कि उनका जोर आदर्श और यथार्थ में किस पर अधिक है। आदर्शोन्मुख यथार्थ की चर्चा करने के कारण जान पड़ता है कि प्रधानतः वे यथार्थ पर अपनी दृष्टि रखे हैं। यथार्थ को जीवन और समाजपोषी बनाने के लिए वे आदर्शो का संकेत करते चलते हैं। साहित्य कर्म में प्रेमचन्द यथार्थ का चित्रण करते हुए समस्याओं का आदर्शवादी हल देते चले हैं।'[43] अज्ञेय प्रेमचन्द को यथार्थवाद, आदर्शवाद और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से अलग 'नैतिक संसार की वास्तविकता' का रचनाकार मानते हैं–''सामाजिक वास्तविकता का चित्र खींचते हुए उनका (प्रेमचन्द का) लक्ष्य एक नीति–निरपेक्ष संसार की वास्तविकता प्रस्तुत करना नहीं था, बल्कि एक नैतिक संसार की वास्तविकता प्रस्तुत करना था। वह नैतिक वास्तविक संसार चाहे कितना ही मर्माहत और उपेक्षित क्यों न हो।''[44] 'गोदान' से पहले के उपन्यासों में ऐसा ही हुआ है। प्रेमचन्द 'गोदान' में यथार्थवाद का उत्कृष्ठतम रूप दिखाते हैं। प्रेमचन्द व्यक्ति की मौलिक प्रवृत्ति के चित्रण को विशेष तरजीह देते हैं तथा यह स्वीकार करते हैं कि लेखक के विचारों की अभिव्यक्ति परोक्ष रूप में होनी चाहिए ताकि उपन्यास की स्वाभाविकता बनी रहे।

कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द साहित्य में आदर्श और यथार्थ दोनों का समन्वय करते हैं लेकिन किसी की भी अतिवादिता से साहित्य को दूर रखते हैं। इन दोनों के अभाव में साहित्य उनके लिए अनुपयोगी है। उनके यहाँ कला को जीवनोपयोगी बनाना ही सच्चा यथार्थ है। ऐसा आदर्शवाद की उपस्थिति में ही संभव हो सकता है। इसी को उन्होंने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद नाम दिया है। यह सत्य है कि प्रेमचन्द के कुछ उपन्यासों में यथार्थ समस्याओं का आदर्शवादी हल देने से वे उपन्यास अव्यावहारिक लगते हैं लेकिन प्रेमचन्द के अपने समय की भी एक सीमा थी। गाँधीवादी सत्याग्रह, असहयोग आन्दोलन के जमाने में आदर्शवाद एक वास्तविकता भी था। जिस समय प्रेमचन्द ने उर्दू में उपन्यास और कहानियाँ लिखना आरम्भ किया था उस समय हिन्दी में देवकीनंदन खत्री के ऐयारी–तिलिस्म प्रधान उपन्यासों की धूम मची हुई थी। प्रेमचन्द ने इस लीक से अलग होकर अपने लिए एक नया रास्ता चुना। उन्होंने मंदिरों तथा तीर्थस्थानों में फैले भ्रष्टाचार,

पाखण्ड और प्रवंचना, मध्यवर्ग दलितों की समस्या, साम्प्रदायिकता एवं वेश्याओं के जीवन को अपनी कथा और आलोचना का विषय बनाया।

अपने प्रथम उपन्यास 'सेवासदन' (1918) में प्रेमचन्द ने वेश्या जीवन से सम्बद्ध समस्याओं को चित्रित करने का प्रयास किया है। हिन्दी–उर्दू में इसके पूर्व वेश्या जीवन को लेकर कई उपन्यास लिखे जा चुके थे। उर्दू में मिर्जा हादी रूस्वा ने 'उमराव जान अदा' (1899) नामक प्रसिद्ध उपन्यास लिखा जो कि वेश्या जीवन पर आधारित था। हिन्दी में भी किशोरीलाल गोस्वामी, कुँवर हनुमन्त सिंह रघुवंशी, गिरिजानंद तिवारी, जयरामदास गुप्त आदि ने वेश्या जीवन पर उपन्यास लिखे थे, लेकिन प्रेमचन्द 'सेवासदन' में वेश्या समस्या को रूस्वा और गोस्वामी दोनों से भिन्न रूप में प्रस्तुत किया। 'सेवासदन' को प्रेमचन्द ने पहले उर्दू में 'बाजारे हुस्न' नाम से लिखा था। सेवासदन में स्त्रियों के वेश्यावृत्ति अपनाने के मूल में तिलक–दहेज की प्रथा, पति द्वारा पत्नी की उपेक्षा, उसके प्रति अविश्वास और क्रूर व्यवहार तथा समाज की उपेक्षा और असहानुभूति को कारण माना गया है। सेवासदन के साथ हिन्दी उपन्यास के संसार में एक जबरदस्त बदलाव आया। इसके पहले के उपन्यासों में या तो घटनाओं की बहुलता होती थी या प्रकृति, नारी सौन्दर्य, धार्मिक नैतिक उपदेश आदि से सम्बन्धित वर्णनों की। सेवासदन से ऐसे उपन्यासों की परंपरा का आरम्भ होता है जिनमें घटनाओं का स्थान सामाजिक कार्य व्यापार ले लेते हैं। 'सेवासदन' के पश्चात् प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' (1922), 'रंगभूमि' (1925), 'कायाकल्प' (1926), 'निर्मला' (1927), 'गबन' (1931), 'कर्मभूमि' (1932), 'गोदान' (1936) जैसे उपन्यासों की रचना हुई। इन सभी उपन्यासों में यथार्थ का स्वर मुखर हुआ है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द ने ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के अन्तगर्त किसानों और जमींदारों के संबन्धों का चित्रण किया है। इसमें छोटे किसान और किसान–मजदूर जमींदार द्वारा की गयी लगान–वृद्धि, बेगारी तथा फसल न होने पर भी लगान–वसूली का विरोध करते हैं और एकजुट होकर लड़ते हैं। जमींदारों से किसानों के इस संघर्ष में सरकार जमींदारों के

साथ है। यह स्वाधीनता आन्दोलन की सच्चाई है जो प्रेमचन्द के उपन्यासों में विश्वसनीयता के साथ सुरक्षित है।

प्रेमाश्रम और उसके बाद के उपन्यासों में प्रेमचन्द देश की पराधीनता के यथार्थ को उसके व्यापक आयामों और जटिलताओं के साथ प्रस्तुत करते हैं। देश की आजादी की समस्या प्रेमचन्द के लिए मात्र भावात्मक अथवा राष्ट्र–प्रेम की समस्या नहीं थी, वरन् वह देश के आर्थिक शोषण और दमन से जुड़ी हुई थी जिसका विरोध 'गबन', 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'गोदान' जैसे उपन्यासों में दिखाई देता है।

प्रेमचन्द ने समकालीन मध्यवर्गीयसमाज को, जो अनेक प्रकार के अन्तर्विरोधों, रूढ़ियों, तर्कहीन सामाजिक मान्यताओं तथा परंपरागत नैतिक धारणाओं से ग्रस्त था, आलोचनात्मक दृष्टि से देखा, उसका अध्ययन–विश्लेषण किया तथा उसे कथा के माध्यम से प्रस्तुत किया। प्रेमचन्द के यहाँ मध्यवर्गीय जीवन का आरम्भ सेवासदन के माध्यम से होता है और 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'निर्मला', 'गबन' आदि में विस्तार पाता है। 'सेवासदन' के कृष्णचन्द्र और पद्मसिंह शर्मा, 'रंगभूमि' के ताहिर अली, 'निर्मला' के उदयभानु लाल और मुन्शी तोताराम, 'गबन' के मुन्शी दयानाथ और इन्द्रभूषण आदि की समस्याएँ मध्यवर्गीय जीवन के अन्तर्विरोधों की ही समस्याएँ हैं। 'गबन' की तो पूरी समस्या शहरी मध्यवर्गीय मूल्यों और नैतिकता के अन्तर्विरोध की है। प्रेमचन्द के उपन्यासों के अधिकतर मध्यवर्गीय पात्र चारित्रिक दृष्टि से कमजोर हैं जो मध्यवर्गीय मानसिकता का ही द्योतक है। 'सेवासदन' में पं. उमानाथ की पत्नी द्वारा कृष्णचन्द्र और उनके परिवार की उपेक्षा, 'रंगभूमि' में ताहिर अली के परिवार में उनकी विमाताओं की कपट–लीला, 'कायाकल्प' में मुन्शी बज्रधर की स्वार्थपरता, 'निर्मला' में मुन्शी तोताराम का अपने ही पुत्रों के प्रति टुच्चा रवैया और 'कर्मभूमि' में अमरकांत का चारित्रिक ढुलमुलपना तथा इस तरह के ढेरों प्रसंग और अनेक छोटी–छोटी बातें तत्कालीन मध्यवर्ग की जिन्दगी की सच्ची तस्वीर बनाती हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों का एक महत्वपूर्ण पक्ष समाज और परिवार में नारी की स्थिति से संबन्धित है। प्रेमचन्द के समय में नारी दोहरी दासता की शिकार थी। उसका परिवार और समाज दोनों में शोषण होता था। 'सेवासदन' और 'निर्मला' में प्रेमचन्द ने इस यथार्थ का विशेष रूप से अंकन किया है।

वस्तुतः प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में समकालीन जीवन को उसकी समस्याओं और संघर्षों के साथ प्रस्तुत किया है। कथ्य–वैविध्य, चरित्र सृष्टि, शिल्प और भाषा सभी दृष्टियों से प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास को एक ऐसी ऊँचाई पर पहुँचा दिया जो आज भी एक मंजिल–और मानदण्ड के रूप में भी–स्वीकार किया जाता है। अज्ञेय ने उचित ही लिखा है कि ''.... अंग्रेजी उपन्यास ने डिकेंस से लेकर गार्ल्सवर्दी तक जितना क्षेत्र पार किया था, प्रेमचन्द ने अपने सर्जक जीवन में उसे अकेले पार कर लिया। इस रूप में प्रेमचन्द केवल एक उपन्यासकार नहीं हैं बल्कि आधुनिक हिन्दी उपन्यास के लिए एक पूरी परंपरा हैं।''[45]

प्रेमचन्द के समकालीन और लगभग समकालीन कथाकारों में जयशंकर प्रसाद, शिवपूजन सहाय, विनोद शंकर व्यास, विश्वंभरनाथ कौशिक, सुदर्शन, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, उग्र, बेनीपुरी, निराला, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, चतुरसेन शास्त्री आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों की कृतियों से भी आधुनिक उपन्यास साहित्य समृद्धतर हुआ था। इनमें से कई लेखकों की ख्याति उनकी विशिष्ट शैली और शिल्प को लेकर भी है। साथ ही इनकी कथाकृतियों के माध्यम से विषय–वैविध्य भी सामने आया। इस ओर बाद की पीढ़ियों ने विशेष ध्यान दिया।

प्रेमचन्द की तरह जयशंकर प्रसाद ने भी यथार्थवाद के संबंध में अपनी समझ और विचार प्रस्तुत किए हैं। जयशंकर प्रसाद रचना में शुद्ध आदर्शवाद को उपदेशात्मक समझते हैं जो उन्हें स्वीकार नहीं है। इसी तरह शुद्ध यथार्थवादी अर्थात् मात्र भौतिक वास्तविकता को इतिहास (अर्थात् इति+ह+एवमासीत्=ऐसा ही हुआ) मानते हैं जो साहित्य (अर्थात्

साहित्यभावः) के लिए उचित नहीं है। उन्होंने लिखा है कि ''कुछ लोग कहते हैं साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धांत से आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए, यही आदेश करता है। यथार्थवादी सिद्धांत से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता, क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था। किन्तु साहित्यकार न तो इतिहासकर्ता है और न धर्मशास्त्र प्रणेता। इन दोनों के कर्तव्य स्वतन्त्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दुःख–दग्ध जगत् और आनंदपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है, इसलिए असत्य घटित घटना पर कल्पना को वाणी महत्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौन्दर्य के कारण सत्यपद पर प्रतिष्ठित होती है। उसमें विश्वमंगल की भावना ओत–प्रोत रहती है।''[46] स्पष्टतौर पर प्रसाद भी यहाँ आदर्श और यथार्थवाद के सामंजस्य की बात करते हैं जो कि प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के अधिक करीब है। प्रसाद यथार्थवाद के रूक्ष भौतिक, नास्तिक दृष्टिकोण को नहीं मानते। लेकिन उनका यथार्थवाद जीवन की लघु वस्तुओं एवं घटनाओं का यानी, वैयक्तिक जीवन के दुःखों, अभावों को चित्रित करता है लेकिन उसके केन्द्र में निराशा, वितृष्णा की जगह वेदना है जो करूणा के माध्यम से आती है। प्रसाद ने लिखा है ''यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है कि साहित्य के माने हुए सिद्धांत के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का उल्लेख।''[47] प्रसाद मानते हैं कि यथार्थवाद में वेदना की अभिव्यक्ति सामूहिक चेतना के असफल होने पर होती है तथा वेदना से प्रेरित होकर जन–साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचाने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है।[48]

प्रसाद ने 'कंकाल' (1930), 'तितली' (1934) और 'इरावती' (अपूर्ण) नाम से तीन उपन्यासों की रचना की जिनमें यथार्थवादी स्वर मुखर हुआ है। 'कंकाल' में प्रसाद ने

काशी, प्रयाग, मथुरा–वृन्दावन, हरिद्वार जैसे धार्मिक स्थलों तथा वहाँ के समाज का वास्तविक चित्रण उसकी तमाम नग्नताओं और विद्रूपताओं के साथ किया है। रूढ़िवादी धार्मिकता का खोखलापन, समाज एवं व्यक्ति की दुर्बलताएँ तथा विकृतियाँ यहाँ खुले रूप से चित्रित हुई हैं। साथ ही धर्म के आश्रय में फलने–फूलने वाली कुरीतियों, व्यभिचारों तथा धर्म के नाम पर स्थापित रूढ़ियों का विरोध किया गया है। तारा और घंटी जैसी युवतियों की पीड़ा और यातना में 'धर्मपीठों' की ही प्रमुख भूमिका है। अंधधार्मिकता की शिकार स्त्री की नियति अत्यन्त त्रासद होती है।

'तितली' की रचना प्रसाद ने देश में हो रहे किसान तथा स्वाधीनता आन्दोलनों की प्रेरणा से की, जिसमें 'चंपारन का किसान विद्रोह', 'पंजाब का किसान आन्दोलन', 'मलाबार के किसानों का मोपला विद्रोह' इत्यादि प्रमुख थे। इन सभी आन्दोलनों के केन्द्र में प्रायः भारतीय किसान थे। इन आन्दोलनों की शुरूआत जमींदारों के केन्द्र और अंग्रेजी सरकार के शोषण, अत्याचारों, व ज्यादतियों के फलस्वरूप हुई थी।

'तितली' में प्रसाद ने किसान जीवन तथा ग्रामीण परिवेश को कथा का आधार बनाया है। इसमें प्रसाद ने किसान के ऊपर हो रहे अन्याय, उसकी विसंगतियों एवं विषमताओं को उघाड़कर उस समय के ग्रामीण समाज के जीवन को उसके वास्तविक रूप में चित्रित किया है। यहाँ जमींदारों तथा उनके करिन्दों द्वारा किसानों के शोषण, स्वार्थवश टूटते हुए सम्मिलत परिवार, आर्थिक अभावों से जूझते हुए किसान, जमींदारी प्रथा के क्रमिक ह्रास तथा गाँवों में हो रहे परिवर्तनों के चित्र मिलते हैं। प्रसाद ने यहाँ पाश्चात्य संस्कृति और भारतीय संस्कृति की टकराहट में, भारतीय संस्कृति की विजय भी दिखायी है।

प्रसाद का तीसरा उपन्यास 'इरावती' है जो ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रेणी में आता है। यह उपन्यास ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर शुंगकालीन समाज व परिवेश को चित्रित करता है। पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र और इरावती की प्रेमकथा को आधार बनाकर प्रसाद ने इस उपन्यास की परिकल्पना की है।

ऐसा लगता है कि प्रसाद के यथार्थवाद का एक महत्वपूर्ण पक्ष देश की पराधीनता का चित्रण भी है। उनकी सांस्कृतिक चेतना तथा विश्व मानवतावाद ने उनके देश–प्रेम तथा राष्ट्रीयता को संकीर्ण राष्ट्रवाद से दूर रखा है। यह प्रवृत्ति उनके नाटकों–चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी–में बखूबी दिखाई देती है। प्रसाद ने अपने साहित्य में सर्वत्र आत्मकेन्द्रित–व्यक्तिवाद, स्वार्थी सामन्त–वर्ग तथा जड़ धार्मिक–सामाजिक परंपरा का विरोध किया है।

इस प्रकार जयशंकर प्रसाद यथार्थ मार्ग से ही होकर आदर्श तक पहुँचते हैं, किसी कपोल–कल्पना के जरिए नहीं। उनके चरित्र अपने जीवन की समस्याओं से संघर्ष करते हैं, जिसमें अन्ततः उनकी विजय होती है। प्रसाद के यथार्थ को लेकर प्रभाकर श्रोत्रिय की एक टिप्पणी है ''यथार्थ चेतना उनमें अनवरत विद्यमान रही है और विकसित भी होती रही है। भले वह सदा ऊपर नहीं दिखती हो परन्तु वह उनके साहित्य का अन्तरंग जरूरी हिस्सा है। उनका यथार्थ झूठा और शुष्क नहीं है, वह प्रेम, सुन्दरता, आदर्श कल्पना, आस्था, बुद्धि, समय और संस्कृति की धूप–छाँह से गुजरता है।''[49] यह यथार्थ प्रसाद के उपन्यासों, कहानियों और नाटकों सब में अभिव्यक्त हुआ है।

प्रेमचन्द युगीन उपन्यासकारों में बेचन शर्मा 'उग्र' का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने उपन्यासों में तत्कालीन समाज के नग्न यथार्थ का चित्र प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से उनके चार उपन्यासों–'चन्द हसीनों के खतूत' (1927), 'दिल्ली का दलाल' (1927), 'बुधुआ की बेटी' (1928) और 'शराबी' (1930) प्रमुख हैं। उग्र के उपन्यास अपने पूर्व के उपन्यासों से इस बात में अलग हैं कि यहाँ समाज के उन अनछुए पहलुओं की अभिव्यक्ति हुई है जो कि पहले के उपन्यासकारों की दृष्टि से बाहर या उपेक्षित थे। उन्होंने समस्या–प्रधान सामाजिक उपन्यास लिखे हैं।

'चन्द हसीनों के खतूत' में मुरारी और नर्गिस के प्रेम द्वारा कथा का विकास हुआ है। उग्र ने संप्रदाओं की अमानवीयता के उद्‌घाटन के साथ–साथ सांप्रदायिक सद्‌भावना के

चित्र को भी प्रस्तुत किया है। इसमें मानवीय प्रेम यानी 'मानुष प्रेम भयो बैकुंठी' को विशेष महत्व दिया गया है। उग्र के लिए मनुष्य पहले है, उसके बाद जाति–धर्म हैं। 'दिल्ली का दलाल' में उग्र ने उन संस्थाओं को बेनकाब किया है जो समाज–कल्याण के नाम पर युवतियों और कन्याओं का क्रय–विक्रय करते हैं। यह उपन्यास हिन्दू समाज की छद्म नैतिकता एवं धार्मिक कुरीतियों पर चोट करता है। 'बुधुआ की बेटी' में उग्र ने अछूतोद्धार और नारी जागरण की समस्या को केन्द्र में रखा है। इसमें उग्र में अछूत–समस्या के सामाजिक और आर्थिक कारणों की तलाश करने के साथ–साथ अछूतों में व्याप्त बुराइयों को उनकी समस्या का एक कारण माना है। 'रधिया' जैसी शोषित अछूत स्त्री के माध्यम से नारी स्वर को मुखर करने का प्रयास भी किया है। इसमें भंगी समाज के नरकीय जीवन का यथार्थ–चित्रण हुआ है तथा भंगियों की हड़ताल के माध्यम से दलित–चेतना की अभिव्यक्ति हुई हैं। सब कुछ के बावजूद यह उपन्यास शिल्प एवं भाषा की दृष्टि से कमजोर साबित होता है, क्योंकि इसमें मुख्य विषय के साथ अनावश्यक रूप से गैण विषयों को जोड़ा गया है जिससे उपन्यास अधिक वर्णनात्मक हो गया है। इसकी भाषा सपाट है तथा घटनाओं में कोई क्रमबद्धता भी नहीं है।[50]

'शराबी' में वेश्याओं तथा शराबघरों का यथार्थ चित्रण हुआ है। इस उपन्यास में शराब की वजह से दो परिवारों का विनाश होता है। इस उपन्यास के माध्यम से उग्र ने पुरूष के सामंती दृष्टिकोण तथा नारी के प्रति उसकी भोगवादी दृष्टि की आलोचना की है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि उग्र ने अपने उपन्यासों में तत्कालीन समाज का ऐसा नग्न यथार्थ–चित्रण किया है जिसमें उनकी दृष्टि आदर्शवादी एवं सुधारवादी हो गई है। इसके पीछे समाज–सुधार के आन्दोलनों तथा आर्य समाज का प्रभाव भी जान पड़ता है।

शिवपूजन सहाय का 'देहाती दुनिया' (1926) उस समय तक के हिन्दी उपन्यास की सरंचनात्मक अवधारणा को एक चुनौती–सी देता है। इस उपन्यास में भोजपुर अंचल के विविध परिदृश्यों की सच्ची तस्वीर देखने को मिलती है। उपन्यास के केन्द्र में 'रामसहर' नामक गाँव है। मानो भारतीय–गाँवों का प्रतिनिधित्व करने वाला यह गाँव अपनी निर्धनता,

अज्ञानता, रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों के साथ यथार्थ रूप में आता है। उपन्यास की भूमिका में सहाय जी ने लिखा है कि ''मैं ऐसी देहात का रहने वाला हूँ, जहाँ इस युग की नई सभ्यता का बहुत ही धुँधला प्रकाश पहुँचा है। वहाँ केवल दो ही चीजें प्रत्यक्ष देखने में आती हैं अज्ञानता का घोर अंधकार और दरिद्रता का तांडवनृत्य! वहीं पर मैंने स्वयं जो कुछ देखा–सुना है उसे यथाशक्ति ज्यों का त्यों इसमें अंकित कर दिया है। इसका एक भी शब्द भी मेरे दिमाग की खास उपज या मेरी कल्पना नहीं है। यहाँ तक कि भाषा का प्रवाह भी मैंने ठीक वैसा ही रखा जैसा ठेठ देहातियों के मुख से सुना है।''[51] देहाती दुनिया की कथा में कोई क्रमबद्धता नहीं महसूस होती। कथा टुकड़ों में हैं जीवन भी कहीं–कहीं तीखे आक्रोश या प्रतिरोध या सहनशीलता के साथ टुकड़ों में ही अभिव्यक्त हुआ है।

विश्वभंरनाथ शर्मा 'कौशिक' के सन् 1929 ई में 'माँ' और 'भिखारिणी' नाम से दो उपन्यास प्रकाशित हुए। 'माँ' में जन्मदात्री माँ और गोद लेनेवाली माँ के प्रेम को तुलनात्मक ढंग से देखने का प्रयास हुआ है। कौशिक के सुधारवादी आग्रहों के फलस्वरूप उपन्यास में बिखराव आ गया है। 'भिखारिणी' एक प्रेमकथात्मक दुःखात्मक उपन्यास है। इसमें प्रेम और कुलीनता के द्वंद्व में प्रेम की पराजय और त्रासदी का चित्रण हुआ है। उपन्यास के केन्द्र में रामनाथ तथा जस्सो हैं। जाति भावना की वजह से दोनों का विवाह नहीं हो पाता। एक ओर जहाँ रामनाथ विवाह करके अपनी पत्नी कें साथ रहते हुए अपने दुःखों को भुलाना चाहता है, वहीं दूसरी ओर जस्सो भीख माँगकर जीवन–पर्यन्त कुँवारी रहकर अपने प्रेम के प्रति अपना समर्पण दिखाती है। कौशिक में भावुकता है, शिल्प भी ढीला–ढाला है। पर कौशिक विषयवस्तु एवं भाषा की दृष्टि से प्रेमचन्द के निकट पड़ते हैं। दोनों ही उपन्यासों में पात्रों के मनोभावों का मोटे तौर पर यथार्थ चित्रण हुआ है जो विश्वसनीय लगता है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला एक महान कवि होने के साथ ही एक कुशल कथाकार भी थे। उन्होंने प्रेमचन्द के समय में ही 'अप्सरा' (1931), 'अलका' (1933), 'निरूपमा' (1936)

और 'प्रभावती' (1936) जैसे यथार्थवादी उपन्यास लिखे। 'अप्सरा' की रचना एक वेश्यापुत्री और अभिजात कुल के एक युवक के प्रेम तथा विवाह को केन्द्र में रखकर हुई है। यह प्रेमचन्द के 'सेवासदन' का जैसे विस्तार है। उपन्यास की नायिका कनक, राजकुमार नामक युवक से प्रेम करती है और अनेक नाटकीय प्रसंगों के बीच दोनों एक–दूसरे से मिल पाते हैं। उपन्यास का कथा–क्षेत्र कलकत्ता है। इसमें स्वाभाविक रूप से बंगाली समाज का जीवन्त चित्रण हुआ है।

'अलका' की कथाभूमि अवध प्रदेश है जिसमें यहाँ के किसानों के अभावग्रस्त दयनीय और नरकतुल्य जिंदगी का चित्रण हुआ है। इसमें कांग्रेस के वर्ग–स्वार्थ का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। यह पार्टी जमींदारों और पूँजीपतियों के विरूद्ध हो रहे किसानों के आन्दोलन को दबाने का प्रयत्न करती है। यही वजह है कि उपन्यास के दो चरित्र अजित और विजय कांग्रेस के वर्ग चरित्र को समझकर किसानों का साथ देते हैं। इसमें निराला ने किसानों के आन्दोलनों का यथार्थ–चित्रण तो किया है लेकिन यह प्रभावशाली नहीं बन पाया है। कथा–भाषा की दृष्टि से 'अलका', 'अप्सरा' से आगे बढ़ी है।

'निरूपमा' में निराला ने ग्रामीण समाज के आर्थिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछड़ेपन और रूढ़िगत संस्कारों का चित्रण किया है। उपन्यास का विकास प्रेमकथा के माध्यम से हुआ है। अवधी शब्दों और मुहावरों के प्रयोग से भाषा सजीव लगती है।

निराला ने 'प्रभावती' के रूप में एक ऐतिहासिक रोमांस की रचना की है। इसमें जयचन्द के राज्य के सामंतों की कथा कही है। 'प्रभावती' में निराला ने वीरता, प्रेम, युद्ध और विवाह से जुड़े हुए भावों को विशेष जगह दी है। साथ ही इसमें विलास एवं शृंगार के स्थान पर मर्यादावादी मूल्य–दृष्टि को प्रमुखता मिली है। यह उपन्यास तत्कालीन जन–सामान्य के दुःख–दर्द, सामंतों की विलासिता, राजनीतिक षड्यंत्र इत्यादि को चित्रित करता है।[52] निराला के परवर्ती लघु उपन्यासों में 'कुल्लीभाट'(1939) और बिल्लेसुर बकरिहा' विशेष महत्व रखते हैं। कुल्लीभाट में स्वयं निराला की भी कहानी है। उन्होंने

गाँव की जड़ता को तोड़ने की कोशिश की है। 'बिल्लेसुर बकरिहा' में निराला वक्ता (नैरेटर) के रूप में उपस्थित हैं। यह उपन्यास निराला के प्रगतिशील साहित्य का नमूना है। जिसमें गाँव के समाज व जीवन्त परिवेश में बिल्लेसुर के जीवन–यथार्थ की कथा कही गई है।[53] यह लघु उपन्यास ब्राह्मण समाज की तथाकथित नैतिकता एवं धार्मिक रूढ़ियों पर कड़ा प्रहार करता है।

चतुरसेन शास्त्री की पहचान एक ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में अधिक है लेकिन उन्होंने 'हृदय की प्यास' (1927), 'हृदय की परख' (1931), 'अमर अभिलाषा' (1933) और 'आत्मदाह' (1934) जैसे सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में जिन समस्याओं को उठाया था लगभग उन्हीं समस्याओं को अपने उपन्यासों में शास्त्री जी ने उठाया है। उनके उपन्यासों में ''विवाहित पुरूष के अन्य स्त्री के प्रति अदम्य शारीरिक आकर्षण, पाश्चात्य प्रभाव के कारण दाम्पत्य सम्बन्ध में आने वाले बदलाव, स्त्री का स्वाधीनता–बोध, भारतीय आदर्श के अनुरूप पति–पत्नी सम्बन्ध के महत्व तथा पातिव्रत्य, सच्चरित्रता, गंभीर सच्चे प्रेम आदि का प्रतिपादन, मध्यवर्गीय घरेलू वातावरण का चित्रण, सद्वृत्तियों के संघर्ष तथा विधवा–विवाह की समस्या का चित्रण हुआ है।''[54] ऐसा लगता है कि, अपने आरंभिक सामाजिक उपन्यासों तकं समस्याओं को नये ढंग से देखने की कोशिश नहीं करते। यानी उनकी नैतिक दृष्टि परंपरावादी रहती है। 'अमर अभिलाषा' उपन्यास की शिल्पगत नवीनता इस बात में अवश्य है कि इसमें छः विधवाओं की कहानियों द्वारा विधवाओं के अत्याचार व शोषण को दिखाने का ऐसा प्रयत्न किया गया है जिससे विषय के आधार पर ये कहानियाँ एक दूसरी से जुड़ती प्रतीत होती हैं।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह ने गाँधी के प्रभाववश सामंती सुख–सुविधाओं को त्यागकर सामाजिक एवं राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लिया था। उन्होंने 'राम–रहीम' (1936), 'पुरूष और नारी' (1939), 'सूरदास' (1942), 'संस्कार '(1944) तथा 'पूरब और पश्चिम' (1951) आदि उपन्यासों की रचना की। इनका 'राम–रहीम' उपन्यास वेश्या जीवन पर आधारित है। इसमें बेला और बिजली नामक दो युवतियों की कहानी है जिनके सम्पर्क में

आए लोगों के माध्यम से लेखक ने भारतीय समाज के वर्ग, जातियों तथा धर्मों का विवेचन–विश्लेषण किया है। 'पुरूष और नारी' में सेवा, त्याग और बलिदान के महत्व को राष्ट्रीय आन्दोलनों के सन्दर्भ में दिखाने का प्रयास हुआ है। 'सूरदास' के केन्द्र में दो अंधे व्यक्तियों के मनोभाव हैं। ये ग्रामीण परिवेश में रेखांकित हुए हैं। धनिया का आकर्षण सूरदास के प्रति है लेकिन सूरदास अपने संस्कारों के चलते स्त्री–स्पर्श को गलत मानता है। चुलबुली भाषा की दृष्टि से राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, प्रेमचन्द से अलग हैं। उन्होंने हिन्दी और उर्दू के मेल वाली भाषा को अपनाया है। उनके उपन्यास गाँधी जी द्वारा प्रेरित हिन्दुस्तानी में लिखे हुए जान पड़ते हैं। वे शिवपूजन सहाय और बेनीपुरी की भाँति हिन्दी कथा–साहित्य के विशिष्ट शैलीकार के रूप में जाने जाते है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी के उपन्यास लेखन के दो दौर हैं। पहला दौर सन् 1926 से 1940 ई. तक का है और दूसरा सन् 1940 से 1971 ई. तक। उनके पहले दौर के उपन्यास हैं–'प्रेमपथ'(1926), 'अनाथ पत्नी'(1928), 'मुस्कान', 'प्रेम निर्वाह', 'पतिता की साधना'(1930), 'ललिमा'(1934) आदि।

वाजपेयी जी व्यक्तिवादी उपन्यासकारों की कोटि में रखे जाते हैं। उनके उपन्यासों में काम–भावना को प्रमुखता मिली है, जिससे अन्य विषय गौण हो गए हैं। वाजपेयी जी ने अपने लगभग सभी उपन्यासों में प्रेम तथा उसके भावात्मक पक्ष को मुख्य विषय के रूप में रखा है। 'प्रेमपथ' में विधवा साली और बहनोई के (Platonic) प्रेम का अंकन गहरे भावात्मक स्तर पर हुआ है। यहाँ प्रेम की परिणति विवाह के रूप में भले ही नहीं हुई हो मगर स्त्री–पुरूष के आत्मदमन के रूप में मनोवैज्ञानिक रूप से हुई है।

'अनाथ पत्नी' में ब्राह्मण पुत्री रजनी के जीवन–संघर्ष की कहानी है। रजनी को विवाह के बाद इसलिए छोड़ दिया जाता है कि उसके परिवार के ऊपर कोई कलंक लगा है। अन्ततः रजनी पढ़–लिखकर एक डॉक्टर बनती है और अपना सारा जीवन रोगियों की सेवा में बिताती है। उस जमाने में वाजपेयी जी की यह एक नई दृष्टि थी। जिनमें उनकी

नायिका आर्थिक स्वालंबन तथा पुरूष गुलामी से मुक्ति का प्रयास करती है।[55] वाजपेयी जी ने अपने उपन्यासों में समस्याओं के चित्रण के साथ–साथ मध्यवर्गीय परिवेश तथा संयुक्त परिवार की आर्थिक स्थिति का भी मनोवैज्ञानिक–दार्शनिक स्तर पर चित्रण किया है।

वृन्दावनलाल वर्मा के आरम्भिक उपन्यासों में 'संगम' (1927), 'प्रत्यागत' (1927), 'लगन'(1928), 'कुंडलीचक्र' (1932), 'गढ़कुंडार' (1930) और 'विराटा की पद्मिनी' (1936) उल्लेखनीय है। इनमें से अन्तिम दो उपन्यास ऐतिहासिक हैं और बाकी सभी सामाजिक। वर्मा जी अपने सामाजिक उपन्यासों में कथा और शिल्प की दृष्टि से कोई नयापन नहीं ला सके हैं बल्कि उन्होंने प्रेमचन्द का ही अनुसरण किया है। इनको ख्याति 'गढ़कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' उपन्यासों से मिली हुई है। 'गढ़कुंडार' में तेरहवीं सदी के अन्तिम समय के बुन्देलखंड की राजनीतिक अवस्था का चित्रण हुआ है। उपन्यास का कथानक मुख्यतः प्रेम और युद्ध पर केन्द्रित है। मुख्य कथा के साथ आयी दो अन्य प्रणय कथाएं कपोल–कल्पना हैं। वातावरण निर्माण के लिए दृश्य–विधान, सांस्कृतिक, राजनीतिक जीवन का चित्रण तथा बुन्देली भाषा का प्रयोग हुआ है।

'विराटा की पद्मिनी' का कथानक 18वीं सदी के राजनीतिक वातावरण से निर्मित हुआ है। इस उपन्यास का केन्द्रीय चरित्र है। कुमुद जिससे सभी घटनाएँ प्रत्यक्ष रूप से जुड़ती हैं। कथानक–निर्माण में इतिहास की अपेक्षा कल्याण और जनश्रुतियों से अधिक काम लिया गया है। गोपाल राय का कहना है कि ''शिल्प और भाषा की दृष्टि से वर्मा जी के ये उपन्यास सर्जनात्मक ऊँचाई पर पहुँचते नहीं प्रतीत होते। पात्रों और घटनाओं की संकुलता इन उपन्यासों को सहज पठनीय बनाने में बाधा पैदा करती है। पात्रों के चरित्र, उनके व्यवहार और वार्तालाप अनेक असंगतियों के शिकार हो गये हैं।''[56]

'संगम' उपन्यास में दस्यु जीवन की मूलभूत समस्या का चित्रण है तथा इसके माध्यम से ग्रामीण जीवन में आ रही विषमता को उभारा गया है। 'प्रत्यागत' में धार्मिक तथा

सांप्रदायिक विषमताओं का चित्रण है। 'कुण्डली चक्र' में ग्रामीण समाज के अंधविश्वासों, कुरीतियों पारंपरिक मान्यताओं इत्यादि का यथार्थ चित्रण हुआ है।

जगदीश झा विमल ने 'निर्धन कन्या' (1920), 'खरा सोना' (1921), 'आदर्श दम्पति' (1921), 'जीवन ज्योति' (1922), 'लीलावती' (1924), 'आशा पर पानी' (1925), 'रमणी रहस्य' (1926), 'केशर' (1936) आदि अनेक उपन्यास लिखे हैं। इन सभी उपन्यासों पर तत्कालीन समाज–सुधार आन्दोलनों का प्रभाव दिखाई देता है। 'खरा सोना' में जमींदार द्वारा किसानों को शोषण, मिल मालिकों द्वारा मजदूरों का शोषण, मजदूर हड़ताल, अंग्रेजों के विरूद्ध आन्दोलन आदि का चित्रण हुआ है। विमल जी के उपन्यास कथ्य की दृष्टि से प्रेमचन्द के समकक्ष हैं लेकिन मनोजगत मार्मिक प्रसंगों, भाषा तथा शिल्प की दृष्टि से बहुत पीछे हैं। समकालीन यथार्थ का चित्रण तो किया है लेकिन वह प्रभावशाली नहीं हो पाया है इसलिए इनके उपन्यास हिन्दी जगत में अपनी जगह सुनिश्चित नहीं कर पाये हैं।

चंडीप्रसाद 'हृदयेश' ने 'मनोरमा' (1924) तथा 'मंगल प्रभात' (1925) नामक उपन्यास लिखे। इन पर नवजागरण की छाप दिखाई देती है। इनके उपन्यासों में विशेषकर नारी समस्याएँ मुख्य हैं। अलंकृत भाषा, प्रयोग इनकी विशेषता है।

ऋषभचरण जैन (1910) के उपन्यासों में 'पैसे का साथी' (1928), 'दिल्ली का व्यभिचार' (1928), 'वेश्यापुत्र' (1929), 'मास्टर साहब' (1929), 'सत्याग्रह' (1930), 'रहस्यमयी' (1931), 'दिल्ली का कलंक' (1936) विशेष उल्लेखनीय हैं। उग्र की तरह ऋषभचरण जैन ने भी अपने उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं को उठाया है। स्त्रियों का यथार्थ–चित्रण किया है। वेश्या समाज तथा दिल्ली के अपराध जगत का चित्रण करने के लिए जैन जी विशेष रूप से जाने जाते हैं।

भगवतीचरण वर्मा के प्रमुख उपन्यास हैं 'चित्रलेखा' (1934), 'तीन वर्ष' (1935), 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' (1946), 'भूले–बिसरे चित्र' (1959), 'सबहिं नचावत राम गोसाईं' (1970) इत्यादि। 'चित्रलेखा' पाप–पुण्य की समस्या पर दार्शनिक ढंग से विचार करती है। इस समस्या को

कि पाप–पुण्य क्या है? उसकी स्थिति कहाँ हैं? इसे बताने के लिए ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि की गई है। 'तीन वर्ष' में नैतिक समस्याओं का विवेचन किया गया है। 'टेढ़े–मेढ़े रास्ते' में तत्सामयिक सभी राजनैतिक विचारधाराओं को देश–हित के लिए नामुफीद बताया गया है। लेखक ने साम्यवाद के समर्थक पात्रों को विकृत करके प्रस्तुत किया है। 'भूले–बिसरे चित्र' में वर्मा जी ने भारतीय इतिहास के पचास वर्षों के (सन् 1880 से 1930 ई. तक) सामाजिक परिवर्तन का यथार्थ–चित्रण प्रस्तुत किया है।

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में हमारे सामाजिक–राजनैतिक और पतन के दृश्य ही प्रमुख रूप से उभरकर आए हैं। उन्होंने व्यक्ति को एक पृथक आधारभूत सत्ता माना है जो समाज से ऊपर है। फिर भी भगवतीचरण वर्मा अपने वर्णनों की भाषा–शैली और पठनीयता के कारण एक लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण उपन्यासकार के रूप में याद किये जाते हैं। इनकी कहानियों की भाँति उपन्यासों में रोचक संवादों का, व्यंग्य और कटाक्ष का, तर्क–वितर्क का प्राचुर्य देखा जा सकता है।

भगवती बाबू की भाँति ही जैनेन्द्र, अज्ञेय, राधाकृष्ण, बेनीपुरी आदि ने अपना लेखन प्रेमचन्द के समय ही आरम्भ किया था, किन्तु इनका प्रौढ़ लेखन प्रेमचन्दोत्तर समय में सामने आया। हिन्दी कथा–साहित्य में प्रेमचन्द और उनके समकालीन रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में तत्कालीन समस्याओं को यथार्थ और आदर्श के मिले–जुले रूप में प्रस्तुत किया था। द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका ने नई समस्याएं पैदा कीं जिससे वैश्विक साहित्य के साथ–साथ हिन्दी कथा–साहित्य भी प्रभावित हुआ। अब उसमें नए विचारों तथा नवीन कला–सिद्धांतों का आगमन हुआ, जिसे यथार्थ का विस्तृत, बहुमुखी फलक बन रहा था। यह अपने स्वरूप में प्रेमचन्द युगीन यथार्थ से भिन्न था। प्रेमचन्द जहाँ व्यक्ति को एक सामाजिक इकाई के रूप में देखते थे (समाज की आँखों से व्यक्ति को देखते थे) वहीं नई कला के अनुयायियों ने व्यक्ति को सामाजिक इकाई न मानकर उसे स्वंय में एक इकाई माना (अर्थात् व्यक्ति की आँखों से समाज को देखा) यानी समाज की तुलना में व्यक्ति को अधिक महत्व दिया। इनका विचार था कि व्यक्ति ही समाज बनाता है, न कि

समाज व्यक्ति। इस सिद्धांत के अनुयायियों को मनौवैज्ञानिक यथार्थवाद दृष्टिकोण भी कहा गया।[57] इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी कलाकार थे जो प्रेमचन्द वाली सामाजिक यथार्थवाद की परंपरा को नई ऊर्जा के साथ आगे तक ले गये। इस तरह प्रेमोचन्दोत्तर उपन्यास साहित्य को बहुत ही मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है जिसमें एक तरफ मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी उपन्यास हैं, जिसके अन्तर्गत जैनेन्द्र, इलाचन्द जोशी, अज्ञेय, देवराज, विष्णु प्रभाकर जैसे लेखकों के उपन्यास हैं तो दूसरी तरफ समाजवादी यथार्थवादी उपन्यास हैं जिसमें यशपाल, अश्क, नागार्जुन, रेणु, उदयशंकर भट्ट, अमृतलाल नागर, भैरव प्रसाद गुप्त, हिमांशु श्रीवास्तव, विवेकी राय, जगदीशचन्द्र, भीष्म साहनी, राजेन्द्र यादव, श्रीलाल शुक्ल, अमरकांत, कमलेश्वर, इत्यादि के उपन्यासों को रखा जा सकता है। इस सन्दर्भ में यह मान लेना उचित है कि ऐसा दो–टूक वर्गीकरण हर तरह से सटीक नहीं माना जा सकता।

मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी उपन्यासों का आरम्भ जैनेन्द्र से होता है। जैनेन्द्र व्यक्ति केन्द्रित मनोवैज्ञानिक धारा के ऐसे लेखक हैं जिन्होंने प्रेमचन्द की 'लीक' से अलग हटकर हिन्दी कथा–साहित्य को एक नई दिशा दी। जैनेन्द्र ने बाहरी घटनाओं की अपेक्षा अपने पात्रों के चेतन–अवचेतन पर अधिक ध्यान दिया। उनके लिए कथा का संसार व्यक्ति मन के भीतर अधिक है उसके बाहर कम। शायद इसी वजह से जैनेन्द्र स्थूलता, बहुलता तथा विविधता के स्थान पर सूक्ष्मता और संक्षिप्ति मिलती है। जैनेन्द्र के प्रमुख उपन्यास हैं 'परख' (1929), 'सुनीता' (1935), 'त्यागपत्र' (1937), 'कल्याणी' (1939), 'जयवर्धन' (1956), 'सुखदा' (1952) और 'मुक्तिबोध' (1965) आदि। 'परख' में जैनेन्द्र प्रेम के एक विशेष आदर्श को दिखाने चलते हैं। इसमें नायिका कट्टो तथा नायक सत्यधन के प्रेम एवं दोनों के मानसिक संघर्ष का प्रभावशाली चित्रण हुआ है। यहाँ जैनेन्द्र प्रेम और विवाह को दो भिन्न और समान्तर स्थितियों के रूप में स्वीकार करते हैं। प्रेम में निजता होती है, जबकि विवाह एक सामाजिक कर्म है। आरम्भ से ही जैनेन्द्र दार्शनिक और चिन्तक के रूप में दिखाई देते हैं।

'सुनीता' के ऊपर रवीन्द्रनाथ टैगोर के 'घरे–बाइरे' का प्रभाव है। यह ऐसा लघु उपन्यास है जिसमें जैनेन्द्र कहानी 'कहने' की अपेक्षा संक्षिप्त खंडों को लेकर जीवन–चित्रों के माध्यम से सत्य का 'दर्शन' करते और कराते हैं। उपन्यास की प्रस्तावना में जैनेन्द्र ने लिखा भी है–''पुस्तक में मैंने कहानी कोई लम्बी–चौड़ी नहीं कही है। कहानी सुनाना मेरा कोई उद्देश्य ही नहीं है। अतः तीन–चार व्यक्तियों से मेरा कार्य चल गया है। इस विश्व के छोटे–छोटे खण्ड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं। उसके द्वारा हम सत्य के दर्शन करा भी सकते हैं।''[58] 'सुनीता' के केन्द्र में हरिप्रसन्न है। उसी का लेकर सारी घटनाएँ और परिस्थितियाँ निर्मित होती है। सुनीता के निर्माण तथा कथा में उसमें प्राधान्य ग्रहण करने में पात्र के रूप में हरिप्रसन्न का महत्वपूर्ण योगदान है। इस उपन्यास में जैनेन्द्र का मुख्य उद्देश्य हिंसा और अहिंसा के व्यावहारिक संघर्ष में अहिंसा की विजय और हिंसा की पराजय दिखाना है। अहिंसा की विजय पति–प्रेम के माध्यम से होती है। यानी, सुनीता आत्मपीड़न के दौर गुजरते हुए हरिप्रसन्न के अहं को विकेन्द्रित करती है। इस कार्य में उसका पति श्रीकांत भी उसके साथ है।

'त्यागपत्र' जैनेन्द्र का दूसरा बहुचर्चित, बहुप्रशंसित तथा स्त्री विमर्श का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण उपन्यास है। उपन्यास में मृणाल नामक युवती की जीवन–कथा है। मृणाल का चरित्र परिस्थितियों की तुलना में जैनेन्द्र के दर्शन से अधिक निर्मित हुआ है। यहाँ समाज की स्वीकृत और प्रचलित मूल्य–दृष्टि को कटघरे में रखा गया है। इसमें जैनेन्द्र ने सीधे तथा व्यंगयात्मक ढंग से सामाजिक जीवन की विसंगतियों को चित्रित किया है। इन विसंगतियों के प्रति मृणाल गैर–समझौतावादी और आत्यंतिक विद्रोहात्मक रूख अपनाती है। दरअसल मृणाल की वेदना और विद्रोह दोनों ही मनोवैज्ञानिक जटिलता से युक्त हैं। मृणाल की तेजस्विता और अन्तहीन संघर्ष जयशंकर प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी' (नाटक) से बहुत आगे की चीज है।

'कल्याणी' का विषय त्यागपत्र के विषय से थोड़ा मिलता–जुलता लग सकता है लेकिन जैनेन्द्र इसमें नारी–शोषण तथा नारी–मानसिकता को नए ही रूप में दिखाते हैं। इस

उपन्यास में जैनेन्द्र ने एक ऐसी स्त्री की कथा कही है जो पढ़ी–लिखी है, एक कुशल डॉक्टर है तथा अन्य मानवीय गुणों से परिपूर्ण है। वह पुरूष के शोषण का शिकार होती है और मुणाल की भाँति आत्मपीड़न और आत्मबलिदान का रास्ता चुनती है। जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में एक नये शिल्प की तलाश की, जिसमें वे सफल भी हुए। जैनेन्द्र अपने उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं को मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रण करते हैं। यही कारण है कि उन्होंने घटनाओं की अपेक्षा चरित्रों को अधिक महत्व दिया है।

मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी धारा के इलाचन्द जोशी दूसरे महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं। इनके प्रमुख उपन्यासों में 'घृणामयी' (लज्जा, 1929), 'संन्यासी' (1940), पर्दे की रानी' (1942), 'प्रेत और छाया' (1944), 'निर्वासित' (1946), 'जिप्सी' (1952), 'जहाज का पंछी' (1954) विशेष उल्लेखनीय हैं।

'घृणामयी' में लज्जावती नामक युवती की कहानी है जो प्रेम की विफलता से उत्पन्न हुई कुंठा को आत्मालाप के रूप में प्रस्तुत करती है। लज्जावती स्वतंत्र विचारों वाली कुलीन परिवार की एक शिक्षित युवती है जो अपने व्यक्तित्व की स्वतंत्रता के लिए विकल रहती है। लज्जावती और उसके भाई राजू की कुठांओं के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से उपन्यास का स्वरूप निर्मित हुआ है।

जोशी जी का दूसरा उपन्यास 'संन्यासी' आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। उपन्यास का नायक नंदकिशोर अपने अहंभाव की तृप्ति के लिए दो स्त्रियों की राह से गुजरता है लेकिन वह कहीं भी ठहर नहीं पाता। अन्ततः वह संन्यासी होकर अपने को देश–सेवा के कार्य में लगाता है जो उसके अहंभाव का उन्नयन है।

'पर्दे की रानी' में भी मनोवैज्ञानिक कुंठाओं को ही केन्द्र में रखा गया है। उपन्यास की केन्द्रीय चरित्र निरंजना वेश्या–पुत्री होने के बोध से मनोरोग–ग्रस्त है। उसके अचेतन में पुरूष जाति के प्रति घृणा भरी हुई है जिसके कारण उसका पूरा चरित्र अन्तर्विरोधों से ग्रस्त होकर हिंसा तथा प्रतिरोध की राह पर चलने लगता है।

'प्रेत और छाया' में व्यक्ति की मानसिक विकृतियों एवं कुंठाओं को केन्द्र में रखा गया है जिनसे उसका जीवन परिचालित होने लगता है। 'निर्वासित' द्वितीय विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखा गया उपन्यास है। इसमें तत्सामयिक समस्याओं को दिखाया गया है। द्वितीय–विश्वयुद्ध की विनाशलीला, सन् 1942 का भारत छोड़ो आन्दोलन, बंगाल का अकाल, भारतीय राजनीति के बदलते स्वरूप, मध्यवर्गीय नारी का विद्रोही तेवर आदि सन्दर्भों से उपन्यास का कथानक मजबूत बना है। गोपाल राय यहाँ कुछ औपन्यासिक कमियाँ पाते हैं। उन्होंने लिखा है कि ''अर्थहीन भटकाव का दर्शन 'निर्वासित' में भी है, पर यह भटकाव मनोवैज्ञानिक कम समकालीन परिस्थितियों से उत्पन्न अधिक है। इस भटकाव को जोशी जी मानव नियति की किसी त्रासदी का रूप नहीं दे सके हैं। यहाँ तक कि भाषा और शिल्प के स्तर पर वे विश्वसनीय कथा संसार का सृजन भी नहीं कर पाए हैं।''[59]

'जिप्सी' में रंजन नामक धनी व्यक्ति तथा मनिया नामक एक जिप्सी बालिका की कथा है। इसमें रंजन के अहंकार, भोग–लालसा के यथार्थ चित्रण के साथ–साथ मनिया के स्वतन्त्र व्यक्तिबोध मानसिक छटपटाहट, सहज ईर्ष्या, प्रतिरोध और तेज का भी चित्रण हुआ है। जोशी जी ने इसमें मनोविश्लेषणवाद तथा अपनी सामाजिक भावना को चित्रित किया है।

'जहाज का पंछी' आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया उपन्यास है। इसके केन्द्र में एक शिक्षित किन्तु बेकार नवयुवक है। वह कलकत्त शहर में नौकरी की तलाश में भटकता है। वहाँ वह सामाजिक जीवन की अनेक यातनाओं तथा विसंगतियों का सामना करता है। कलकत्ता वह जहाज है जहाँ वह सब जगहों से भटकता हुआ वापस आता है।

स्पष्टतः जोशी जी फ्रायड तथा एडलर के मनोविश्लेषण–परक सिद्धांतों से प्रभावित हैं। उनके उपन्यासों पर एडलर की हीनता–ग्रन्थि वाले सिद्धांत का प्रभाव सर्वाधिक है। इस कारण उनके चरित्रों का विकास सामान्य मनुष्य की अपेक्षा एक के रूप में अधिक हुआ है।

सच्चिदानन्द वात्स्यायन अज्ञेय हिन्दी के सही मायनों में पहले 'आधुनिक साहित्यकार' हैं। उन्होंने साहित्य की विविध विधाओं पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है। कहानी, कविता, आलोचना, उपन्यास जैसी विधाओं में लेखन के लिए वे ख्यात रहे हैं। अज्ञेय के उपन्यास हैं–'शेखर : एक जीवनी' (दो भागों में, पहला 1941 ई. और दूसरा 1944 ई. में प्रकाशित हुआ), 'नदी के द्वीप' (1951) और 'अपने–अपने अजनबी' (1961) लेखक का पहला उपन्यास होने के बावजूद 'शेखर : एक जीवनी' एक सशक्त और प्रौढ़ रचना है। यह उपन्यास 'फ्लैशबैक शैली' में लिखा गया है और इसमें शेखर के जीवन की कथा है। शेखर अपनी अनुभूतियों के प्रति पूर्णतः ईमानदार है। वह एक बनता हुआ चरित्र है। शेखर बचपन से ही विद्रोही स्वभाव का है। वह सामाजिक प्रणालियों के विरूद्ध, विवाह के विरूद्ध, प्रेम के विरूद्ध, माँ–बाप के विरूद्ध हर चीज के प्रति विद्रोह करता है। विद्रोह उसकी अस्मिता का मूलाधार है। इसमें छोटी जातियों की गरीबी तथा दुर्दशा और राष्ट्रीय आन्दोलनों के चित्रों के साथ ही महत्वपूर्ण सामाजिक–राजनीतिक स्थितियों और प्रसंगों को भी प्रस्तुत किया गया है। औपन्यासिक कथा में अज्ञेय के आत्मकथांश घुले–मिले हुए हैं। 'शेखर' हिन्दी उपन्यास साहित्य में एक मोड़ लेकर आया था।

अज्ञेय का दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' भी मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा जाता है। इसमें मुख्य रूप से–भुवन, रेखा, गौरा और चन्द्रमाधव–चार पात्र हैं। ये सभी अपने–अपने अस्तित्व के प्रति सजग हैं और अपने व्यक्तित्व की अलग पहचान के लिए प्रयासरत हैं। इनका तनाव मानसिक अधिक है। वह बाहरी अभावों की अपेक्षा यौन–कुठांओं और अहंकार से पैदा हुआ है। स्पष्टतौर पर इस उपन्यास में अज्ञेय ने अपने पात्रों के चरित्र–विश्लेषण, गहन मनः स्थितियों और संबन्धों का चित्रण किया है। शिल्प के धरातल पर भी यह उपन्यास महत्वपूर्ण है। इसमें पत्र–शैली, प्रत्यावलोकन शैली, चेतना–प्रवाह शैली और प्रतीकात्मकता का प्रयोग एक साथ हुआ है।

अज्ञेय का तीसरा उपन्यास 'अपने–अपने अजनबी' अस्तित्ववादी दर्शन से अधिक प्रभावित है। 'मृत्यु से साक्षात्कार' उपन्यास का प्रमुख विषय है। सेल्मा और योके नामक

दोनों चरित्रों की मनःस्थितियों का इसमें बड़ी सूक्षमता के साथ चित्रण हुआ है। अज्ञेय ने सेल्मा और योके के माध्यम से जीवन–मृत्यु वरण की स्वतंत्रता, आस्था–अनास्था इत्यादि पर विचार किया है।

कुल मिलाकर अज्ञेय के तीनों उपन्यासों में व्यक्ति के सामाजिक–मानसिक परिवेश का उद्‌घाटन प्रमुख रूप से हुआ है। अज्ञेय का मानना है कि समाज व्यक्ति के हित में काम करे, उसके व्यक्तित्व का विकास करे। मगर समाज दिनों–दिन व्यक्ति–विरोधी होता जा रहा है। व्यवस्था व्यक्ति को अंकुश में रखना चाहती है। यही सारी सामाजिक बुराइयों की जड़ है।

डॉ. देवराज कवि, अलोचक के साथ–साथ एक सशक्त मनोवैज्ञानिक कथाकार रहे हैं। उन्होंने 'पथ की खोज' (1951), 'बाहर–भीतर' (1954), 'अजय की डायरी' (1960), 'मैं, वे और आप' (1960), 'दोहरी आग की लपट' (1973) आदि उपन्यासों की रचना की। 'पथ की खोज' में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की नैतिकता तथा सामाजिक समस्याओं का चित्रण हुआ है। इसमें प्रेम, विवाह, धर्म, पाप–पुण्य, व्यक्ति–समाज, आदि से सम्बन्धित प्रश्नों का उठाया गया है।

देवराज का दूसरा उपन्यास 'बाहर–भीतर' बाद में 'भीतर का घाव' नाम से (1970) प्रकाशित हुआ। इसमें सामाजिक तथा वैयक्तिक मान्यताओं के संघर्ष का मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। 'अजय की डायरी' देवराज का सबसे चर्चित उपन्यास है। अजय एक मध्यवर्गीय नास्तिक, स्वकेन्द्रित, और बुद्धिजीवी युवक है। वह अपनी पत्नी शीला से असंतुष्ट है और एक दूसरी लड़की हेम की तरफ आकृष्ट है। वह प्रेम में कायरता दिखाते हुए अमेरिका चला जाता है। अन्ततः वह अपनी पत्नी तथा प्रेमिका दोनों को खो देता है। इसमें लेखक ने प्रेम–संबन्धों के अतिरिक्त मध्यवर्गीय परिवेश के अन्य प्रश्नों को भी उठाया है। 'मैं, वे और आप' उपन्यास अजय की डायरी का ही विकास लगता है। इसमें निगम नामक पात्र के माध्यम से आधुनिक जीवन–मूल्यों के विघटन को दिखाने का प्रयास हुआ

है। अन्ततः देखा जाय तो डॉ. देवराज अपने उपन्यासों में परंपरागत नैतिक मूल्यों का विरोध करते हैं तथा व्यक्ति स्वातंत्र्य का प्रश्न उठाते हैं।

धर्मवीर भारती को भी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों की श्रेणी में रखा जा सकता है। उन्होंने रोमांटिक उपन्यास 'गुनाहों का देवता' (1949) और मध्यवर्गीय मानसिकता वाला सामाजिक उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' (1952) लिखे। 'गनाहों का देवता' युवा पाठकों के बीच अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। इसमें विश्वविद्यालय परिसर की क्षीण झलक मिलती है। यह उपन्यास आदर्शवादी अशरीरी प्रेम का वर्णन करता है। अतिभावुकता वाले प्रेम की त्रासद स्थिति का भी चित्रण करता है। भारती का दूसरा उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' अपनी अन्तर्वस्तु से अधिक रचना–कौशल के कारण चर्चित हुआ। प्रेम का चित्रण यहाँ भी हुआ है लेकिन वह जटिल है। इसमें इलाहाबाद के एक मुहल्ले के निम्नमध्यवर्गीय लोगों को लेकर कथानक निर्मित हुआ है। इस उपन्यास का नायक माणिकमुल्ला है जो दूसरों की प्रेम कथाओं को सुनाते हैं लेकिन अन्ततः सभी प्रेम कथाएँ उसके अपने ही जीवन की विडम्बनाओं और खोखलेपन को उजागर करती हैं। प्रेम कथाओं के माध्यम निम्नमध्यवर्ग की निराशा, आर्थिक–संघर्ष तथा नैतिक विचलन को उद्‌घाटित किया गया है जो इस उपन्यास का मुख्य कथ्य है।

हमने देखा कि प्रेमचन्दोत्तर साहित्य में मनोवैज्ञानिक, सामाजिक–यथार्थवादी उपन्यास लिखे गये। एक ओर जहाँ सामाजिक उपन्यासों में सामाजिक जीवन का चित्रण हुआ है लेकिन उसे देखने की लेखक की खुली दृष्टि होती है। कोई निर्दिष्ट दृष्टि नहीं रहती। यानी जो दृष्टि होती है वह किसी भी प्रकार की हो सकती है–स्वयं लेखक की या किसी दार्शनिक–चितंन–विचार की या समन्वित दृष्टि भी हो सकती है। वहीं दूसरी ओर समाजवादी उपन्यासों की एक ही निर्दिष्ट दृष्टि होती है। यह दृष्टि मार्क्सवादी होती है।[60] यानी मार्क्स के द्वारा सामाजिक यथार्थ का जो विश्लेषण हुआ है उसे ये उपन्यास कथा में ढालकर प्रस्तुत करते हैं। इनके नज़रिए से समाज के सही रूप को देखने के लिए, उसके सत्य को विश्लेषित करने के लिए एक दृष्टि की आवश्यकता अनिवार्य होती है और इस

आवश्यकता को केवल मार्क्सवादी दृष्टि ही पूरा कर सकती है। इस तरह के उपन्यासों को प्रगतिवादी उपन्यास कहा गया है। सामाजिक और समाजवादी उपन्यासकारों ने अपने समाज के यथार्थ को पर्याप्त विश्वसनीयता के साथ चित्रित किया है। अतः इन लेखकों के संक्षिप्त विश्लेषण द्वारा इस दिशा में उनके योगदान पर प्रकाश डालना समीचीन है।

कहा जाता है कि यशपाल ने पहली बार मार्क्सवादी विचारधारा को आधार बनाकर उपन्यास लिखे। हालांकि उनकी मार्क्सवाद की समझ पर आपत्तियाँ प्रकट की गयी और उन पर अश्लीलता के आरोप भी लगे। उन्हें संकीर्णतावादी कहा गया। स्वयं यशपाल ने माना था कि उनके लिए साहित्य विचारों को–मार्क्सवादी विचारों को–प्रकट करने का माध्यम था क्योंकि इसका संबंध देश और समाज की वर्तमान स्थिति और भविष्य से है। राजनीतिक विचार उनके लिए रचनात्मक अनिवार्यता थे। यशपाल ने गाँधीवादी विचारों की शव परीक्षा करते हुए उनकी जमकर आलोचना की जो उनके एकांगी दृष्टिकोण का परिचायक था।

यशपाल ने 'दादा कामरेड' (1941), 'देशद्रोही' (1943), 'दिव्या' (1945), 'पार्टी 'कामरेड' (1946), 'अमिता' (1956), 'झूठा सच' (दो भाग में, 1958), 'क्यों फँसे' (1968) और 'मेरी तेरी उसकी बात' (1967) जैसे महत्वपूर्ण उपन्यासों की रचना की। 'दादा कामरेड' में यशपाल ने अपने क्रांतिकारी और फरारी जीवन की गतिविधियों को चित्रित किया है। इसमें यशपाल स्वयं हरीश नामक पात्र के रूप में उपस्थित हैं और 'दादा कामरेड' के रूप में चन्द्रशेखर आजाद। यशपाल ने इस उपन्यास के जरिए अपने क्रांतिकारी जीवन के दौरान अपने ऊपर कलंक को सृजनात्मक ढंग से मिटाया है।

'देशद्रोही' में यशपाल ने भगवानदास खन्ना नामक चरित्र के माध्यम से कम्युनिस्ट पार्टी पर लगे आरोपों का खंडन किया है। सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में कम्युनिस्टों ने भाग नहीं लिया था जिसके कारण कांग्रेसियों ने उन पर देशद्रोह का आरोप लगाया था। 'पार्टी कामरेड' कम्युनिस्ट पार्टी की गतिविधियों को आधार बनाकर लिखा

गया है जिसमें कम्युनिस्ट पार्टी के मध्यवर्गीय चरित्र का यथार्थ रूप में अंकन हुआ है। 'दिव्या' यशपाल का सबसे चर्चित उपन्यास है। यह ऐतिहासिक वातावरण की रचना करते हुए उसकी पृष्ठभूमि में लिखा गया है लेकिन यशपाल इसे इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना मात्र मानते हैं। यानी, यह ऐतिहासिक घटना–क्रम में न होकर ऐतिहासिक परिवेश में रचा गया है। यह बौद्ध कालीन समाज पर आधारित है जिसके केन्द्र में सनातनी हिन्दू तथा बौद्ध इन दो धर्म व्यवस्थाओं की द्वन्द्वत्मकता में नारी–मुक्ति का अहम सवाल खड़ा किया गया है। 'अमिता' में ऐतिहासिक कथावस्तु के माध्यम से संघर्ष, शांति और संतोष की समस्या वर्णित हुई है। 'झूठा सच' दो भागों में है। पहले भाग (वतन और देश) में विभाजन पूर्व का संयुक्त भारत है और दूसरे भाग (देश का भविष्य) में विभाजन के बाद का (विभाजित) भारत। उपन्यास में तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का यथार्थ–चित्रण किया है। साम्प्रदायिकता उपन्यास की केन्द्रीय वस्तु है जिसके अन्तर्गत भारत तथा पाकिस्तान के राजनेताओं की दोरंगी छवियाँ उभरकर सामने आई हैं। इसी अन्तर्वस्तु को लेकर 'मेरी तेरी उसकी बात' की भी रचना हुई है मगर वह नारी केन्द्रित उपन्यास है। इसकी पृष्ठभूमि में पूर्वी उत्तर प्रदेश अपने राजनीतिक एवं सामाजिक आन्दोलनों के साथ जीवन्त रूप में आया है। इन सभी आन्दोलनों का समय स्वतन्त्रता से पूर्व का है।

राहुल सांकृत्यायन ने प्रमुख रूप से 'जीने के लिए' (1940), 'सिंह सेनापति' (1944), 'जय यौधेय' (1944), 'दिवोदास' (1961) जैसे उपन्यास लिखे हैं। 'जीने के लिए' में पराधीन भारत की सामाजिक एवं राजनीतिक घटनाओं का (1910 से 1940) का यथार्थ अंकन हुआ है। 'सिंह सेनापति और 'जय यौधेय' उनके ऐतिहासिक उपन्यास हैं। इन उपन्यासों की पृष्ठभूमि में चौथी शताब्दी ई. पू. का राज्य एवं समाज है। जहाँ किसी भी तरह का कोई कोई शोषण नहीं है। स्त्री–पुरूष स्वतंत्र हैं। उनमें कोई भेदभाव नहीं है। निश्चित रूप से इन उपन्यासों के ऊपर रूसी सामाजिक क्रांति का प्रभाव पड़ा है। 'दिवोदास' में राहुल सांकृत्यायन ने आर्यों के जीवन–संघर्ष तथा वैदिक संस्कृति को प्रस्तुत

किया है। इस तरह से राहुल के ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक शोधपूर्ण यथार्थ से अधिक उनके विचार उपस्थित हैं।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने 'सितारों' के खेल' (1940), 'गिरती दीवारें' (1947), 'गर्मराख' (1957), 'शहर में घूमता आईना' (1963), बाँधों न नाव इस ठाँव' (दो भाग में, 1974) जैसे चर्चित उपन्यासों की रचना की है। 'सितारों के खेल' नियतिवादी दृष्टिकोण से लिखा गया है। जिसमें लता, बंसीलाल तथा डॉ. अमृतराय के जीवन की कथा है। 'गिरती दीवारें' में चेतन नामक एक मध्यवर्गीय व्यक्ति के शोषण, यौन कुंठा एवं उसके भटकाव की कहानी है। जिससे वह जीवन पर्यन्त मुक्त नहीं हो पाता है।

'गर्मराख' में निम्नमध्यवर्गीय जीवन की विडंबनाओं का चित्रण हुआ है। यहाँ प्रेम की उपस्थिति त्रिकोणात्मक रूप में है। 'शहर में धूमता आईना' गिरती दीवारें की कथा को विस्तार देता है। इसमें 'चेतन' नामक पात्र के माध्यम से लाहौर के निम्नमध्यवर्गीय समाज को चित्रित किया गया है। कुल मिलाकर अश्क जी ने अपने उपन्यासों में निम्न मध्यवर्गीय समाज की कुंठा, निराशा, हताशा, शोषण, संघर्ष इत्यादि का यथार्थ चित्रण किया है।

अमृतलाल नागर के प्रमुख उपन्यास हैं–'महाकाल' (1946), 'सेठ बाँकेलाल' (1955), 'बूँद और समुद्र' (1956), 'शतरंज के मोहरे' (1959), 'सुहाग के नुपूर' (1960), 'अमृत और विष' (1966), 'नाच्यो बहुत गोपाल' (1978) इत्यादि। 'महाकाल' में बंगाल के अकाल का चित्रण हुआ है। 'बूँद और समुद्र' व्यक्ति और समाज के अन्तःसंबंधों को चित्रित करता है जिसे नागर जी देश के मध्यवर्गीय नागरिक समाज का गुण–दोष भरा चित्र मानते हैं। 'अमृत और विष' में नेहरू–युगीन समाज है। इसमें नागर जी स्वयं अरविन्द शंकर नामक पात्र के रूप में है। 'नाच्यो बहुत गोपाल' दलित–मेहतर समाज को चित्रित करता है जिसमें स्वदेशी आन्दोलनों तथा मध्यवर्गीय मानसिकता का चित्रण हुआ है। 'शतरंज के मोहरे' भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम की पूर्वपीठिका को दर्शाता है। 'सुहाग के नूपुर' में नागर जी ने पत्नी तथा वेश्या के द्वन्द्व को वर्तमान सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। यह उपन्यास तमिल

महाकाव्य 'शिलप्परिकारम्' पर आधारित है।[61] 'सात घूंघट वाला मुखड़ा' बेगम समरू की कथा को प्रस्तुत करता है जिसके माध्यम से नागर जी नारी हृदय की पहचान करते हैं। 'एकदा नैमिषारण्ये' में चन्द्रगुप्त प्रथम तथा समुद्रगुप्त के काल को प्रस्तुत किया गया है। 'मानस का हंस' में तुलसीदास का जीवन प्रस्तुत किया गया है और 'खंजन नयन' सूरदास के जीवन पर केन्द्रित है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1946), 'चारूचन्द्रलेख' (1963), 'पुनर्नवा' (1973) और 'अनामदास का पोथा' (1976) जैसे ऐतिहासिक–सांस्कृतिक उपन्यास लिखे हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की कथावस्तु सम्राट हर्षवर्धन के समय की है। इसमें इतिहास कम, लेकिन कल्पना अधिक है। यह उपन्यास 7वीं शताब्दी के सामंती–जीवन तथा लोक–संस्कृति को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है जिसमें द्विवेदी जी का इतिहास–बोध, प्रेम–दर्शन और उदात्त–प्रेम अपनी पूरी जीवतंता में उपस्थित है। 'चारूचन्द्रलेख' भी बाणभट्ट की आत्मकथा की तरह आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। इसमें द्विवेदी जी ने राजा सातवाहन और रानी चन्द्रलेखा की प्रेम–कथा के माध्यम से 12वीं, 13वीं शताब्दी की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थितियों को चित्रित करनें का प्रयास किया है। 'पुनर्नवा' में सम्राट समुद्रगुप्त युगीन समाज का चित्रण हुआ है। यह उपन्यास नारी जीवन की विसंगतियों तथा विडम्बनाओं को प्रसतुत करता है। इसमें शास्त्रीय विधि–विधान के बन्धनों को द्विवेदी जी अपनी आधुनिक दृष्टि से तोड़ते हैं। 'पुनर्नवा' में सामाजिक व्यवस्था के संतुलन का प्रश्न महत्वपूर्ण है। 'अनामदास का पोथा' औपनिवेशिक युगीन परिवेश और जीवन–पद्धति को चित्रित किया गया है। इसमें आश्रम की जीवन–पद्धति तथ लोक–उत्सवों व समारोहों का यथार्थ रूप में अंकन हुआ है।

नागार्जुन के उपन्यासों में 'रतिनाथ की चाची' (1948), 'बलचनमा' (1952), 'नई पौध' (1953), 'बाबा बटेसरनाथ (1954), 'दुखमोचन' (1956), 'वरूण के बेटे' (1957) और 'जमनिया के बाबा' (1970) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'रतिनाथ की चाची' में ग्रामीण–जीवन की विषमता, स्वार्थपरता के बीच गौरी नामक विधवा ब्राह्मणी के जीवन की

यातना तथा दुःखों का यथार्थ अंकन किया गया है। 'बलचनमा' में बालचन्द नामक निम्न मध्यवर्गीय किसान–पुत्र के जीवन–संघर्ष तथा जमींदारों की शोषक वृत्ति का चित्रण हुआ है। इसमें नागार्जुन ने मिथिलांचल की जर्जर होती परंपराओं, मान्यताओं तथा व्यवस्था पर कड़ा प्रहार किया है। 'नई पौध' में कुप्रथा, स्वार्थवृत्ति, तथा शोषक वासना का अंकन हुआ है। 'बाबा बटेसरनाथ' अपनी शिल्पगत विशेषताओं के कारण अन्य उपन्यासों से अलग है। गाँव का एक पुराना बरगद का पेड़ गाँव की कई पीढ़ियों की कहानी कहता है। बरगद का पेड़ इतिहास है, वह गाँव के जीवन–यथार्थ का गवाह है जो कई आन्दोलनों एवं प्राकृतिक आपदाओं को देख चुका है।

'दुःखमोचन' में स्वतंत्रता के पश्चात् किसानों की आत्मनिर्भरता एवं उनके आन्दोलनों की अनुगूँज सुनाई देती है। 'वरूण के बेटे' में मछुआरों के जीवन–संघर्ष की कथा है। इसमें उनके रीति–रिवाज, भाषा, गीत–संगीत इत्यादि का सजीव रूप में अंकन हुआ है। कुल मिलाकर नागार्जुन के उपन्यासों में शोषित, दबे–कुचले लोगों की आवाज है। नागार्जुन के स्त्री–पात्र सामाजिक रूढ़ियों एवं सामंती अत्याचारों के शिकार हैं लेकिन अपनी मुक्ति एवं आत्मनिर्भरता के लिए वे संघर्ष करते हैं।

रांगेय राघव ने 'घरौदे' (1946), 'विषाद मठ' (1946), 'सीधा–साधा रास्ता' (1951), 'राई और पर्वत' (1958) में शहरी जीवन का यथार्थ अंकन किया है। 'कब तक पुकारूँ' (1957) तथा 'धरती मेरा घर (1960) में कबीलाई समाज के जीवन–यथार्थ को अभिव्यक्त किया है। 'मुर्दों का टीला' (1948), 'चीवर' (1951), 'अंधेरे के जुगनू (1953), 'पक्षी और आकाश' (1957) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। 'देवकी का बेटा' (1954), 'यशेधरा जीत गई' (1954), 'लोई का ताना' (1954), 'रत्ना की बात' (1954), 'भारती का सपूत' (1954), 'लखिमा की आँखें' (1957) जैसे चरितात्मक उपन्यासों में रांगेय राघव ने उनके जीवन–संघर्ष तथा तत्सामयिक समाज का यथार्थ चित्रण किया है।

भैरव प्रसाद गुप्त ने 'शोले' (1946), 'मशाल' (1948), 'गंगा मैया' (1952), 'सत्ती मैया का चौरा' (1959), 'धरती' (1962), 'आकाश' (1963) जैसे उपन्यास लिखे हैं। गुप्त जी की एक उपन्यासकार के रूप में पहचान 'गंगा मैया' और 'सत्ती मैया का चौरा' से होती है। 'गंगा मैया' में किसान परिवार के जीवन–संघर्ष की कथा है। इसमें जमींदारों व पुलिस के अत्याचार तथा शोषण का यथार्थ रूप में अंकन हुआ है। 'सत्ती मैया का चौरा', 'गंगा मैया' की तुलना में अधिक यथार्थवादी है। इसमें भी किसानों के संघर्ष तथा एकजुटता के साथ–साथ जमींदारों के अत्याचार एवं शोषण को अंकित किया गया है। यह उपन्यास जातिगत एवं सांप्रदायिक विसंगतियों को भी उद्‌घाटित करता है।

अमृत राय ने 'बीज' (1953), 'हाथी के दाँत' (1956) और 'नागफनी का देश' (1956) नामक उपन्यास लिखे हैं। 'बीज' में उन्होंने सन् बयालिस की क्रांति, छात्र–आन्दोलनों और स्वाधीनता दिवस जैसी घटनाओं के माध्यम से वर्तमान जीवन की विषमताओं को भी चित्रित किया है। 'हाथी के दाँत' में राजनीतिक अवसरवादिता का उद्‌घाटन हुआ है तथा 'नागफनी का देश' दाम्पत्य जीवन की विसंगतियों तथा विघटनों को प्रस्ततु करता है।

भीष्म साहनी ने 'झरोखे' (1967), 'कड़ियाँ' (1970), 'तमस' (1973), 'बसन्ती' (1980), 'मैय्यादास की माड़ी' (1988), 'कुन्तो' (1993) और 'नीलू, नीलिमा नीलोफर' (2000) नामक उपन्यासों की रचना की है। 'झरोखे' आर्य–समाजी परिवार की जड़ता तथा रूढ़िगत मानयताओं को चित्रित करता है। 'कड़ियाँ' स्त्री की आत्मनिर्भरता के अभाव तथा पुरूष की निरंकुशता को चित्रित करता है। 'तमस' भीष्म साहनी का सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसमें भारत–विभाजन की त्रासदी, राजनीतिज्ञों की अवसरवादिता तथा सांप्रदायिक दंगों का यथार्थ–चित्रण हुआ है। 'मैय्यादास की माड़ी' में भीष्म साहनी ने खालसा राज्य के पतन से लेकर ब्रिटिश हुकूमत की जाँच–पड़ताल की है। 'कुंतो' उनका नारी केन्द्रित उपन्यास है। इसमें कुंतो नामक स्त्री पात्र के माध्यम से नारी के जीवन–संघर्ष का चित्रण हुआ है। सामाजिक मान्यताओं के कारण व्यक्ति किस तरह से कुंठित और दमित हो जाता है इसका चित्रण 'नीलू, नीलिमा नीलोफर' में देखने को मिलता है।

अमरकांत के प्रमुख उपन्यास हैं–'सूखा पत्ता' (1959), 'आकाश पक्षी' (1967), 'काले–उजले दिन' (1969), 'सुन्नर पांडे की पतोहू' और 'इन्हीं हथियारों से' (2003) अमरकांत के सभी उपन्यासों में निम्नमध्यवर्ग के जीवन–संघर्षों का चित्रण हुआ है।

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के 'रीछ' (1967), 'पक्षधर' (1971), 'जाग मछन्दर गोरख आया' (1983), 'प्रतिरोध' (1998) और 'दूसरा भूतनाथ' उपन्यास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'रीछ' वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्विरोध एवं अवसरवादी नीतियों को चित्रित करता हैं। 'जाग मछन्दर गोरख आया' में गोरखनाथ का क्रांतिकारी व्यक्तित्व उद्‌घाटित हुआ है। 'दूसरा भूतनाथ' में देवकीनन्दन खत्री का 'भूतनाथ' नामक चरित्र जननायक के रूप चित्रित हुआ है। 'प्रतिरोध' में निरंकुश शासन के प्रति विरोध के स्वर को मुखर किया गया है।

जगदीशचन्द्र ने कई उपन्यास लिखे हैं जिसमें प्रमुख रूप से हैं–'यादों का पहाड़' (1966), 'धरती धन न अपना' (1972), 'मुठ्ठी भर काँकर' (1976), 'कभी न छोड़े खेत' (1976) और 'नरकुंड में वास' (1994)। इनके उपन्यासों में 'धरती धन न अपना' को विशेष ख्याति मिली है। यह उपन्यास पंजाब के हरिजनों की पीड़ा, दुःख, शोषण इत्यादि को दर्शाता है। 'मुठ्ठी भर काँकर' पंजाब से आए शरणार्थियों के दुःख–दर्द एवं उनके संघर्ष को चित्रित करता है। 'कभी न छोड़े खेत' में सामंती जाटों की कहानी कही गई है।

शिवप्रसाद सिंह ने 'अलग–अलग वैतरणी' (1967), 'गली आगे मुड़ती है' (1974) 'नीला चाँद' (1988), 'शैलूष' (1989), 'औरत' आदि उपन्यासों की रचना की है। 'अलग–अलग वैतरणी' उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल के गाँवों की बदहाल एवं दयनीय स्थिति को चित्रित करता है। 'गली आगे मुड़ती है' में युवा आक्रोश एवं उसके आदोलनों का यथार्थ रूप में अंकन हुआ है। इसके केन्द्र में काशी व वहाँ का समाज है। 'नीला चाँद' में मध्यकाल का काशी अपने जीवंत रूप में उपस्थित है। 'शैलूष' नटों के कबीलाई जीवन को चित्रित करता है। इसमें नटों द्वारा जमींदारों के दमन तथा शोषण से मुक्त होने का प्रयास है।

'औरत' नारी केन्द्रित उपन्यास है। इसमें नारी जीवन के शोषण, संघर्ष, पीड़ी के साथ ही उसके शौर्य, साहस, तेज का भी चित्रण हुआ है।

नरेश मेहता के 'डूबते मस्तूल' (1954) और 'यह पथ बंधु था' उपन्यास बेहद चर्चित रहे हैं। 'डूबते मस्तूल' रजंना नामक नारी पात्र की नियति और उसके भटकाव को चित्रित करता है जिसमें एक ईमानदार, आदर्शवादी, भावुक और स्वाभिमानी युवक की पराजय–गाथा है।

बदीउज्जमाँ के उपन्यासों में 'एक चूहे की मौत' (1971), 'छाको की वापसी' (1975), 'छठा तंत्र' (1977) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'एक चूहे की मौत' में अफसर एवं चपरासी के जीवन का लेखा–जोखा है। इसमें चूहाखाना–दफ्तर, चूहेमार–अफसर तथा चापरासी तथा चूहे–फाइलों के प्रतीक हैं। 'छाकों की वापसी' देश के विभाजन को आधार बनाकर लिखा गया है। यह उपन्यास देश–विभाजन को गलत साबित करता है। गरीब मुसलमानों के लिए भारत–पाकिस्तान को कोई मतलब नहीं रह जाता। यह उपन्यास उनके दुःख–दर्द को चित्रित करता है। 'छठा तंत्र आपातकाल के ऊपर लिखा गया है।

जगदम्बाप्रसाद दीक्षित ने 'कटा हुआ आसमान' (1971), 'मुरदाघर' (1972) तथा 'अकाल' नामक तीन उपन्यास लिखे हैं। 'कटा हुआ आसमान' बम्बई के शिक्षक–जीवन को चित्रित करता है। 'मुरदाघर' बम्बई शहर के उन लोगों के जीवन को चित्रित करता है जो फूटपाथों तथा गंदी झुग्गी–झोपड़ियों में रहते हैं। 'अकाल' में ग्रामीण जीवन के माध्यम से उपभोक्तावादी संस्कृति की आलोचना की गई है।

हिन्दी साहित्य में उपन्यास के लिए आंचलिक शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम प्रयोग फणीश्वरनाथ रेणु ने–''मैला आँचल' उपन्यास में–किया है। 'मैला आँचल' की भूमिका में रेणु ने लिखा है कि ''यह है मैला आँचल, एक आंचलिक उपन्यास। कथानक है पूर्णिया .... ..मैंने इसके एक हिस्से के गाँव को–पिछड़े गाँवों का प्रतीक मानकर–इस उपन्यास कथा का क्षेत्र बनाया है।''[62] रेणु के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि एक उपन्यास तब तक

आंचलिक नहीं कहलायेगा जब तक उसमें किसी अंचल विशेष के संपूर्ण सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक विशिष्टताओं का समावेश नहीं हो जाता है। यानी, आंचलिक उपन्यास में किसी विशेष अंचल या क्षेत्र के जन–जीवन का समग्र लेखा–जोखा एक साथ रहता है।

कहना न होगा कि आंचलिक उपन्यासों का जन्म व्यक्तिवादी एवं नगर–केन्द्रित उपन्यासों की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। आंचलिकता के बीज तत्व मन्नन द्विवेदी के उपन्यासों में तथा शिवपूजन सहाय के 'देहाती दुनिया' में भले मिल जाते हों लेकिन उन्हें आंचलिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता है। आंचलिकता की अपनी एक अवधारणा है जिसको लेकर हिन्दी के विद्वानों में पर्याप्त चर्चा हुई है। विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने लिखा है कि ''आंचलिक उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं जिनमें किसी विशेष अंचल (क्षेत्र) के जन–जीवन का समग्र चित्रण होता है। समग्र का अर्थ है भाषा, वेष–भूषा, उत्पादन के साधन, प्रकार, विनिमय। संक्षेप में आर्थिक, धार्मिक विश्वास..... सामाजिक समस्याएँ, राजनैतिक जीवन, एक अंचल का दूसरे अंचल से संबंध, अंचल की विशिष्ट, सामान्य परंपरा और प्रगति, इन सब विषयों का जब किसी उपन्यास में चित्रण होता है और जब उस उपन्यास को पढ़कर हमारे सम्मुख उस अंचल विशेष का समग्र जीवन अवतरित हो जाता है तब हम उस उपन्यास को आंचलिक उपन्यास कहते हैं।''[63] दरअसल आंचलिकता को एक विशेष दृष्टिकोण के रूप में देखा जाना चाहिए जो अंचल विशेष के समग्र जीवन–जगत को ऐतिहासिक और वैज्ञानिक धारण प्रस्तुत करता है। इसे सांस्कृतिक धरोहर के रूप में देखा जा सकता है। आधुनिकता के फलस्वरूप ग्रामीण परिवेश में आए संबंधों में बदलाव, जीवन–मूल्यों में टूटन, बदलाव, अंधविश्वास, जीवन की बदली हुई परिस्थितियाँ इत्यादि को आंचलिकता ने प्रमाणित किया है। मार्क्सवादी कथा अलोचक मधुरेश ने लिखा है कि ''आंचलिक उपन्यास में अंचल एक स्वतंत्र और संपूर्ण व्यक्तित्व बनकर उपस्थित रहता है। उस अंचल के नेतृत्व शास्त्रीय वैशिष्ट्य से लेकर उसका भौगोलिक परिवेश, सांस्कृतिक एवं लोक–तात्विक चरित्र, वेष–भूषा, राग–रंग,

उत्सव–त्यौहार आदि अपनी समग्रता और जीवनता में उपस्थित रहता है।''[64] यानी, लेखक की सोच और उसके विचारों की भूमिका नेपथ्य में होती है।

नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार ''आंचलिक उपन्यास हम उसे कहते हैं जिसमें अपरिचित भूमियों और अज्ञात जातियों के जीवन का वैविध्य चित्रण हो।''[65] वाजपेयी जी का वैविध्य चित्रण आंचलिकता की समग्रता को ही उद्‌घाटित करता है। जहाँ आंचलिक उपन्यासकार अपनी प्रत्यक्षानुभूति का सहारा लेकर मानव–विज्ञान, नृतत्व, जीवविज्ञान तथा समाज–विज्ञान के तथ्यों का उल्लेख यथार्थवादी ढंग से करता है।[66] डॉ. हरदयाल ने वाजपेयी जी का ही अनुकरण करते हुए लिखा है कि ''आंचलिक उपन्यास वह है जिसमें अपरिचित भूमियों और अज्ञात जातियों के वैविध्यपूर्ण जीवन का चित्रण हो। जिसमें वहाँ की भाषा, लोकोक्ति, लोककथाएँ, लोकगीत, मुहावरे और लहजा, वेष–भूषा, धर्म–जीवन, समाज, संस्कृति तथा आर्थिक और राजनीतिक जागरण के प्रश्न एक साथ उभरकर आए हैं।''[67] रामदरश मिश्र ने लिखा है कि ''आंचलिक उपन्यास का उद्देश्य स्थिर स्थान पर गतिमान समय में जीते हुए अंचल के व्यक्ति के समग्र पहलुओं को उद्‌घाटित करना।''[68] दरअसल आंचलिक उपन्यासों में अंचल विशेष के अपने रीति–रिवाज, सुख–दुःख, जीवन–प्रणली, परंपराएँ व मान्यताएँ होती है जिनकी वजह से वह गतिशील बना रहता है। गतिशीलता वहाँ की जड़ता के बहुआयामी सन्दर्भों का अंकन उपन्यास की शक्ति एवं सीमा को रूपायित करता है। यहाँ अनुभव की प्रामाणिकता सर्वोपरि होती है। डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने लिखा है कि ''आंचलिकता में परिवेश को पहचानने की एक अंतरंग दृष्टि होती है जो अंचल के एक–एक पेड़–पौधे, नदी–नाले, फूल–पत्ते, ध्वनि–संगीत, पशु–पक्षियों के कलरव, दिशाओं के रंग, अंचल की मरमराहट और चरमराहट, लोगों के हर्ष, उल्लास के स्वर और उनकी व्यथा, कथाओं के रोने–झांकने तक का गहरा साक्षात्कार करता है। आंचलिकता नये–नये अंचलों के जीवन को जानने को उत्सुक, अपरिचित भूमियों को कौतुहलपूर्वक उजागर करने को लालायित, रूग्णा या पिछड़े सामाजिक जीवन को स्वस्थ्य जीवन बनाने की आकांक्षी, सांस्कृतिक चेतना को खोजने की

अभिलाषी, व्यक्तिवादी साहित्यिक अवधारणा के खिलाफ प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण वाली, नयी भाषिक संरचना के जरिए अंचल को पहचानने और रचने वाली साहित्यिक दृष्टि है।''[69]

नन्ददुलारे वाजपेयी, राजेन्द्र अवस्थी और शिवप्रसाद सिंह जैसे साहित्यकार आंचलिकता को केवल अंचल, ग्रामांचल के ही परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। यह दृष्टि आंचलिकता को सीमित करती है। यद्यपि आज कई ऐसे नगर हैं जिसकी संस्कृति अभी सुरक्षित है। इसलिए आंचलिक उपन्यासों की कथा का क्षेत्र नगराचंल और वनांचल भी हो सकते हैं।

कुल मिलाकर देखा जाय तो आंचलिक उपन्यास किसी अंचल विशेष की संस्कृति के लोकजीवन को रूपायित करता है। यहाँ व्यक्ति या नायक की अपेक्षा जाति वर्ग तथा परिवेश प्रमुख होता है। क्योंकि कथानक परिवेश का होता है इसलिए केन्द्रीय कथा का अभाव होता है। आंचलिक उपन्यासों में अंचल ही नायक होता है और इसी के माध्यम से अन्य चरित्र रूपायित होते हैं। इसमें क्षेत्रीय भाषा तथा लोकरंग का प्रयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आंचलिक उपन्यासकार स्थानीयता को उभारने के लिए लोक–तत्वों, लोक–कथाओं, लोक–गीतों, लोक–भाषा को लोक–जीवन की समग्रता में प्रस्तुत करता है। इसमें चित्रित अंचल अपनी तरह के देश के दूसरे इलाकों का प्रतिनिधित्व करता है।[70] दरअसल, हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं की तरह आंचलिक उपन्यास भी पाश्चात्य साहित्य की नकल न होकर भारतीय मानसिकता की उपज है। उस समय यानी देश की स्वाधीनता के पश्चात् प्रगतिवादी आन्दोलन, जनपदीय आन्दोलन तथा जनवादी विचारधारा के कारण लोक जीवन व लोक भाषा का महत्व बढ़ गया था और साहित्य को यथार्थ के धरातल पर लाने की कोशिश हो रही थी तब ऐसे समय में रेणु ने 'मैला आँचल' (1954) लिखा और उपन्यास की एक नई धारा का विकास किया।

'मैला आँचल' के केन्द्र में बिहार राज्य के पूर्णिया जिले का 'मेरीगंज' नामक गाँव है। यही उपन्यास का नायक भी है। यह अत्यन्त पिछड़ा हुआ ग्राम है। जो शूल, फूल और

धूल के साथ अपनी संपूर्णता में उपन्यास में उपस्थित है। 'मैला आँचल' के बाद रेणु ने 'परती परिकथा' (1957) उपन्यास की रचना की। इसकी कथा के केन्द्र में पूर्णिया जिले का 'परानपुर' नामक गाँव है। इसमें रेणु की दृष्टि आजादी के बाद गाँवों में टूटते सामंती मूल्यों एवं उनके बीच से उभरते जनवादी मूल्यों की ओर है। रेणु के अन्य उपन्यास हैं 'दीर्घतपा' (1963), 'जुलूस' (1965), 'कितने चौराहे' (1966) और 'पलटू बाबा रोड' (1979)। 'दीर्घतपा' सफेदपोशों द्वारा हो रहे नारी शोषण को रेखांकित करता है। 'जुलूस' में पूर्वी बंगाल के शरणार्थियों की समस्याओं को रखा गया है और 'पलटू बाबू रोड' कांग्रेस सरकार की भ्रष्टाचार नीति को रूपायित करता है।

आंचलिक उपन्यासों की परंपरा को आगे तक ले जाने वालों में उदयशंकर भट्ट, राही मासूम 'रजा', रामदरश मिश्र, विवेकी राय, राजेन्द्र अवस्थी, शैलेश मटियानी आदि उपन्यासकारों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उदयशंकर भट्ट ने 'सागर लहरे और मनुष्य' उपन्यास में मुम्बई के पश्चिमी तट पर बसे मछुआरों की एक बस्ती 'बरसोवा' को केन्द्र में रखा है। राही मासूम ने 'आधा गाँव' में उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले के 'गंगोली' नामक गाँव को केन्द्र में रखा है। यह गंगोली गाँव के रहने वाले आधे मुसलमानों की कहानी है। यानी गंगोली पूर्ण रूप से उपस्थित नहीं है। इसलिए इस उपन्यास का नाम आधा गाँव है। इसमें मुसलमानों के जीवन ने विविध रंग, देश विभाजन की त्रासदी तथा हिन्दुओं के साथ उनके साहचर्य और द्वन्द्वात्मक अनुभवों को चित्रित किया गया है।

रामदरश मिश्र के 'पानी के प्राचीर' (1961) और 'जल टूटता हुआ' उपन्यास आंचलिकता की शर्तों को पूरा करते हैं। इन दोनों में पूर्वांचल के उस भू–भाग को कथा का आधार बनाया गया है जो नदियों से घिरा हुआ है। 'पानी के प्राचीर' में 'पांडे का पुरवा' नामक गाँव है जो अपनी संपूर्णता में चित्रित हुआ है। जल टूटता हुआ पानी के प्राचीर का ही उत्तरार्ध है।

विवेकी राय का 'बबूल' (1967) उपन्यास पूर्वांचल के मजदूरों पर केन्द्रित है। इसमें गाँव की गरीबी, यातना, शोषण, सामाजिक विषमता आदि का चित्रण हुआ है। 'सोना माटी' तथा 'समर शेष है' विवेकी राय के सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास हैं। इन दोनों ही उपन्यासों में स्वातंत्रयोत्तर भारतीय ग्राम की सच्ची तस्वीर देखने को मिलती है। 'सोना माटी' का मुख्य आग्रह राजनीतिक प्रदूषण से गाँव में परिवर्तन और विकास की जो लहर आई उसका यथार्थ चित्रण हुआ है। राय के उपन्यास उस रूप में आंचलिक नहीं है जैसे आंचलिकता के दौर के अन्य उपन्यास हैं।

श्रीलाल शुक्ल का 'रागदरबारी' (1968) एक विशिष्ट आंचलिक उपन्यास है। इसमें उत्तर प्रदेश कें पूर्वांचल के एक गाँव शिवपालगंज की कहानी है। इसका मुख्य स्वर व्यंग्य का है। इसमें गाँव की मूल्यहीनता, अमानवीयता, अवसरवाद, छल–प्रपंच, नैतिक गिरावट, कुत्सित राजनीति, स्वार्थपरता इत्यादि का अंकन हुआ है।

राजेन्द्र अवस्थी का 'सूरज किरण की छाँव' (1959) तथा 'जंगल के फूल' उपन्यास आदिवासी पृष्ठभूमि पर लिखे गये हैं। उन्होंने 'जंगल के फूल' में बस्तर के गोंड जनजाति के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को चिखत्रित किया है।

कुल मिलाकर देखा जाय तो हिन्दी में आंचलिकता का आन्दोलन एक दशक तक ही रहा। रेणु ने जिस उत्साह के साथ इस आन्दोलन की शुरूआत की थी वह बाद के लेखकों में धीमा होता गया। फिर भी ''एक आन्दोलन के रूप में इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इसने लोकजीवन के प्रति लुप्त प्रायः आकर्षण को नये सिरे से जीवित किया। अछूते अंचलों के प्रति लेखकों की दृष्टि जाने के परिणाम स्वरूप उपन्यास की रचना वस्तु का विस्तार हुआ और देश के अनेक अछूते और अपरिचित भू–भागों से हमारी पहचान सघन और समृद्ध हुई। अंचलों से संबंधित लोकगीत, लोकभाषा और उससे जुड़े अछूते बिंबों–प्रतीकों ने भाषा की सर्जनात्मक क्षमताओं के नए द्वार खोले।''[71] निःसंदेह आँचलिकता के फलस्वरूप भारतीय गाँवों से लोगों का सच्चा परिचय हुआ तथा भारतीय

ग्रामों की जो आदर्शवादी परिकल्पना थी उससे मोहभंग हुआ। अतः यह कहना गलत न होगा कि आँचलिकता के आन्दोलन ने हिन्दी उपन्यास को वह सब कुछ दिया जिससे कि वह अछूता था।

lUnHkZ xzUFk&lwph

1. उपन्यास और लोक–जीवन – रैल्फ फॉक्स, अनु. नरोत्तमनागर, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि. नई दिल्ली, प्रथम हिन्दी सं. 1957, पृ. 39
2. जीवन बेहद रहस्यमय होता है। अचरजों से भरा हुआ भी। इसलिए कहा जाता है ''Life is Stranger than Fiction'' उपन्यास में जीवन की ज्यादा से ज्यादा निकटता पाने की कोशिश होती है।
3. साहित्य का उद्देश्य – प्रेमचन्द (हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, नवीन सं. 2001) पृ. 73
4. देखिए, हिन्दी आलोचना पारिभाषिक शब्दावली – संपा.–डॉ. अमरनाथ पृ. 129 पर उद्धृत
5. The novel is a Picture of a real life and Manner of times in which is written the novel gives a familiar Relation of such things as pass Everydoy befor aur eyes such as may happen to our friends or to and the perfection of it is to present every scene in so easy and natural a manner and to mark them appear so probable as to deceive us……they were our own. - Progress of Romanee –Clare Reeve, p.18
6. The novel is of all Pictures the most comprehensive and the most elastic. Selected Literary criticism. Ed. – Morris Shaprra. P. 182
7. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन – संपा. निर्मला जैन, पृ. 70
8. उपन्यास और लोक–जीवन – रैल्फ फॉक्स, अनु. नरोत्तमनागर, पृ. 26
9. उपन्यास का सिद्धांत – जार्ज लुकाच, अनु. आनंद प्रकाश, पृ. 10
10. साहित्य का उद्देश्य – प्रेमचन्द, पृ. 10
11. साहित्यालोचन – बाबू श्यामसुन्दर दास, (लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2008) पृ. 99
12. दे. पूर्वग्रह–46–47 में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का संकलित लेख 'उपन्यास', पृ. 05
13. हजारीप्रसाद द्विवेद्वी रचनावली, भाग 10 (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2007) पृ. 148
14. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना – डॉ. रामविलास शर्मा (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1973) पृ. 99
15. कम्युनिस्ट घोषणापत्र – कार्ल मार्क्स व फ्रेडरिक एंगेल्स(राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि. जयपुर, द्वितीय सं. 2007,) पृ. 39
16. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका – डा. मैनेजर पाण्डेय पृ. 277 पर उद्धृत

17.अनभै साँचा – मैनेजर पाण्डेय, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2002) पृ. 48

18. हिन्दी साहित्य कोश, भाग–एक, संपा. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा व अन्य, पृ. 121

19. वही, पृ. 121

20. वही, पृ. 121

21. प्रेमचन्द और भारतीय समाज – नामवर सिंह, संपा. डॉ. आशीष त्रिपाठी (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं.2010) पृ. 51

22. वही, पृ. 51

23. हिन्दी उपन्यास का इतिहास – गोपाल राय, (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2005), पृ. 37

24. प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास –ज्ञानचन्द जैन, (आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली प्र. सं. 1998) पृ. 37

25. वही, पृ. 63

26. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृ. 36

27. प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास, पृ. 10

28. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र – डॉ. रामविलास शर्मा, (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1963) पृ. 113

29. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की सगी बुआ के लड़के थे जो भारतेन्दु से उम्र में 15 वर्ष छोटे थे। इन्होंने 15 वर्ष उम्र में 'दुःखनीबाला' नामक नाटक और 16 वर्ष की उम्र में 'निःसहाय हिन्दू' उपन्यास की रचना की थी।

30.हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृ. 47–48

31. 'परीक्षा गुरू' को आचार्य शुक्ल हिन्दी का प्रथम उपन्यास मानते हैं जो 'अंग्रेजी ढंग के नॉवेल' की तर्ज पर लिखा गया है।

32. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृ. 49 पर उद्धृत

33. वही पृ. 61 पर उद्धृत

34. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, रामदरश मिश्र (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली सं. 1968) पृ. 23

35. हिन्दी का गद्य–साहित्य – रामचन्द्र तिवारी, पृ. 154–55

36. प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास, पृ. 18

37. हिन्दी का गद्य–साहित्य, पृ. 159

38. प्रेमचन्द : कुछ विचार–प्रेमचन्द (सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, सं. 1973) पृ. 47

39. प्रेमचन्द : कुछ विचार–प्रेमचन्द, पृ. 49

40. वही, पृ. 50

41. प्रेमचन्द : एक साहित्यिक विवेचन, (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. पेपरबैक सं. 2003) पृ. 21

42. वही, पृ. 30

43. वही, पृ. 30

44. प्रेमचन्द : एक अध्ययन – डॉ. राजेश्वर गुरू, पृ. 64–65

45. स्मृतिलेखा – अज्ञेय, (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्र. सं. 1982) दे. 'उपन्यास सम्राट' शीर्षक संस्मरण, पृ. 53

46. वही, पृ. 58

47. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध – जयशंकर प्रसाद, पृ. 121

48. प्रसाद ग्रन्थावली – संपा. रत्नशंकर प्रसाद (लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 1985) पृ. 522

49. वही, पृ. 524

50. जयशंकर प्रसाद की प्रासंगिकता –प्रभाकर श्रोत्रिय, (भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, द्वितीय सं. 2004) पृ. 92

51. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृ. 147

52. देहाती दुनिया (भूमिका) – शिवपूजन सहाय (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. तृतीय 2012) पृ. 08

53. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृ. 153

54. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ. 134

55. हिन्दी उपन्यास का इहिास, पृ. 155

56. वही, पृ. 159

57. वही, पृ. 163

58. इस सन्दर्भ में राजनाथ शर्मा का लेख 'प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में यथार्थवाद' द्रष्टव्य है, दे. 'समालोचक' 1959, फरवरी–जून पृ. 192

59. सुनीता (प्रस्तावना) – जैनेन्द्र, पृ. 03–04

60. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृ. 182

61. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ. 129

62. हिन्दी उपन्यास का विकास – मधुरेश (सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय सं. 2004) पृ. 110

63. मैला आँचल (भूमिका) – फणीश्वरनाथ रेणु, (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, आठवाँ सं. 1992)

64. इस सन्दर्भ में विश्वम्भरनाथ शर्मा का लेख 'पिछले दशक की देन : आँचलिक उपन्यास साहित्य' दे. 'साहित्य संदेश' 1958, जनवरी–फरवरी, पृ. 361

65. हिन्दी उपन्यास का विकास, पृ. 139

66. नन्ददुलारे वाजपेयी रचनावली (भाग–6) – संपा. विजयबहादुर सिंह, (अनामिका पब्लिशर्ष एंड डिस्ट्री ब्यूटर्स, प्रा. लि. नई दिल्ली, प्र. सं. 2008) पृ. 272

67. आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य – डॉ. हरदायल, पृ. 80

68. हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा, पृ. 227

69. आधुनिक परिवेश और नवलेखन – डॉ. शिवप्रसाद सिंह, पृ. 129

70. रेणु ने 'मैला आँचल' की भूमिका में अंचल को 'प्रतीक' मानने की बात की है। अर्थात् आँचलिकता सीमित क्षेत्र–विशेष की नहीं, बल्कि 'राष्ट्रीय' होती है।

71. हिन्दी उपन्यास का विकास, पृ. 158

Rkhljk v/;k; %

fgUnh d fof'k"V miU;kl vkj ekDloknh vkykpuk &,d

हिन्दी आलोचना के कोई सौ वर्षों के इतिहास में 'काव्य' अर्थात् पद्य यानी, कविता पर बल दिया जाता रहा है। आलोचना को 'काव्यशास्त्र' कहा गया जिसकी परंपरा का खूब विकास हुआ जिसके केन्द्र में रस और ध्वनि सिद्धांत प्रमुखता से रहे। हिन्दी के आरंभिक उल्लेख्य समीक्षकों में एक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी कविता के आलोचक ही बने रहे हालाँकि उन्हीं के समय में प्रेमचन्द 'सेवासदन' आदि के माध्यम से हिन्दी उपन्यास का विधिवत सूत्रपात कर चुके थे। इस नवीन विधा में उन्होंने कोई विशेष दिलचस्पी नहीं ली। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी मुख्यतः कविता के ही समीक्षक हैं। उन्होंने तुलसी, सूर, जायसी पर पुस्तकें लिखीं, यहाँ तक कि समकालीन छायावादी कवियों पर भी अपने साहित्येतिहास में विचार किया, लेकिन प्रेमचन्द पर उन्होंने अपेक्षित विस्तार से लिखना जरूरी नहीं समझा। शुक्ल जी उपन्यास को पूरी तरह से विदेशी देन मानते थे। भारतीय परंपरा में इसकी जड़ों की पड़ताल बाद के आलोचकों ने भी नहीं की। जो भी हो हिन्दी आलोचना की विकास–यात्रा में उपन्यास को वह केन्द्रीयता नहीं मिली जिसकी वह हकदार है। उपन्यास को उचित ही मानव–जीवन का आख्यान कहा गया है।

हिन्दी आलोचना के विकास में प्रगतिवादी या मार्क्सवादी आलोचकों का सराहनीय और महत्वपूर्ण कार्य रहा है। शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, अमृत राय, रांगेय राघव, नामवर सिंह, रमेशकुन्तल मेघ, नेमिचन्द्र जैन, राजेन्द्र यादव, शिवकुमार मिश्र, मैनेजर पाण्डेय, मधुरेश आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन आलोचकों ने हिन्दी के कालजयी उपन्यासों का समय–समय पर मूल्यांकन किया है। उपन्यास के सन्दर्भ में मार्क्सवादी आलोचना के योगदान को रेखांकित करने के लिए सर्वप्रथम 'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकांता संतति' जैसे उपन्यासों के करीब जाना होगा।

देवकीनंदन खत्री कृत 'चन्द्रकांता' का प्रकाशन सन् 1987 ई. में हुआ। इसमें खत्री जी ने नौगढ़ के राजा सुरेन्द्र सिंह के पुत्र राजकुमार वीरेन्द्र सिंह और विजय गढ़ के राजा जयसिंह की पुत्री राजकुमारी चन्द्रकांता की प्रेम–कहानी का वर्णन किया है। 'चन्द्रकांता' की शृंखला में उन्होंने 'चन्द्रकांता संतति' (1894–1905) की रचना की जिसमें चन्द्रकांता के पुत्रों की कथा है।

आरम्भिक हिन्दी आलोचना ने इन उपन्यासों को शुद्ध मनोरंजन की कोटि में डालकर पूर्णतः खारिज कर दिया। लेकिन बाद में कुछ आलोचकों ने इन उपन्यासों का पुनर्मूल्यांकन करके उनके महत्व को रेखांकित किया। डॉ. बच्चन सिंह ने लिखा है कि ''इधर साहित्यिकों के नये मार्क्सवादी गिरोह में शामिल लोगों ने तिलस्मी उपन्यासों में राष्ट्रीयता और सामाजिकता भी निकाली है। बालू में से तिल निकालना इसी को कहते है। सच तो यह है कि ये उपन्यास शुद्ध मनोरंजन की वस्तु थे। प्रेमचन्द को इनका विरोध करना पड़ा था। पाठक पैदा करने की दृष्टि से इनका चाहे जो मूल्य हो, युग चेतना और साहित्यिक दृष्टि से इनका कोई मूल्य नहीं है। पाठकों ने इनका खूब स्वागत किया है पर इससे उनका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है।''[1] लेकिन मार्क्सवादी आलोचक मधुरेश ने स्वीकार किया है कि खत्री जी के उपन्यासों में मानवीय बुद्धि और कल्पना का जो असाधारण चमत्कार हुआ है उसको साहित्य आलोचकों ने भांडो, विदूषकों और मदारियों के काम जैसा करार देकर उनके जिन्दा रहते हुए कब्र में दफना दिया।[2] यद्यपि मधुरेश ने खत्री जी के उपन्यासों को नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में रखकर नहीं देखा है फिर भी उन्होंने सकारात्मक मूल्यांकन करते हुए पाया कि ''चन्द्रकांता हिन्दी उपन्यास के नवस्फुटित यथार्थवादी रूझान के प्रति उदासीन रहकर उपन्यास की एक नवीन धारा का प्रवर्तन करता है। उसका वैचारिक आधार क्षीण है।''[3] इसी क्रम वे आगे लिखते हैं कि ''वैसे दशकों तक घोर उपेक्षा झेलने के बाद देवकीनंदन खत्री के इन उपन्यासों में अब नवजागरण कालीन ही नहीं साम्राज्यवादी विरोधी तत्वों को ढूँढ़ा जाने लगा है।''[4] कुल मिलाकर मधुरेश खत्री जी के उपन्यासों को एक नई धारा के प्रर्वतक के रूप में देखते हैं

लेकिन उनमें आधुनिकता, वैचारिक मूल्यों तथा नवजागरण के तत्वों को नहीं देख पाते जैसा कि राजेन्द्र यादव और प्रदीप सक्सेना पाते हैं।

राजेन्द्र यादव को 'चन्द्रकांता' की अभूतपूर्व लोकप्रियता के पीछे एक कारण यह भी दिखता है कि उसमें ऐयारों के एक–एक अद्‌भुत कारनामे व तिलस्म के चमत्कार हैं। जिनके पीछे एक चौकन्नी और विलक्षण बुद्धि, प्रतिभा के साथ–साथ उपलब्धियों का काल्पनिक आश्वासन भी है लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात है कि 'चन्द्रकांता' अपनी पराजय का ही इकबाली–बयान नहीं, बल्कि सामंती शौर्य की घनघोर असफलता के बाद बौद्धिक चातुर्य की दिशा में एक अचेतन प्रयोग भी है।[5] राजेन्द्र जी ने 'चन्द्रकांता' को आस्था और विश्वास के युग से तर्क और कार्य–कारण के युग–संक्रमण का दिलचस्प उदाहरण माना है क्योंकि वहाँ ईश्वरीय–विधान, कर्म–फल, सभी के प्रति निष्ठा और विश्वास के संस्कारों के साथ–साथ बुद्धि, कार्य–कारण, विश्वसनीयता के प्रति भी बराबर का आग्रह है।[6] राजेन्द्र जी की नज़र में उपन्यास में चित्रित सारी भागम–भाग, राज्यों का छिनना चालाकियाँ और ऐयारियाँ, भय, आतंक, धोखा, मौत का वातावरण खत्री जी की लम्बी उड़ान नहीं हो सकती। तत्कालीन समाज की अराजक स्थितियाँ, लूट–खसोट, ठगों और पिंडारियों के आतंक, साधु–तांत्रिकों के तंत्र–मंत्र, राजाओं का गद्‌दी से उतारना–बैठाना आदि चीजें उपन्यास की सामग्री में कहीं न कहीं कुछ जोड़ते हैं।[7] दरअसल खत्री जी का सारा जोर बौद्धिक कौशल पर है। उनके यहाँ प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है, हर घटना के पीछे कोई न कोई सूत्र निकलता है और उपन्यास में घटित होने वाले प्रत्येक चमत्कार की एक वैज्ञानिक परिभाषा दी जा सकती है। इसलिए राजेन्द्र यादव के अनुसार 'चन्द्रकांता' व 'संतति' को केवल मनोविनोद के लिए लिखा गया उपन्यास नहीं कह सकते हैं। उसमें लेखक के विचार भी अभिव्यक्त हुए हैं। वे विचार उस उभरते हुए समाज के लिए हैं जिसके कि हाथों में भारत के भविष्य का निर्माण है।

चन्द्रबली सिंह ने ठीक लिखा है कि ''चन्द्रकांता संतति को भारतेन्दु–युग की हलचलों से पृथक कर देखना उसे उसके परिवेश से प्रेरणा के स्रोत से अलग काटकर देखने के

समान है।''[8] 'चन्द्रकांता संतति' में खत्री जी ने अनेक जगहों पर स्पष्ट शब्दों में भारतेन्दु युगीन समाज की नई शक्ति उदित होते हुए मध्यवर्ग के आदर्शों, उनके प्रति उसकी निष्ठा और उत्साह को व्यक्त किया है। उस युग की अनेकानेक समस्याओं को 'चन्द्रकांता संतति' में देखा जा सकता है। उपन्यास में कहीं काशी के मठाधीशों और पुजारियों पर व्यंग्य है तो कहीं जाति तथा हिन्दू–मुस्लिम के साम्प्रदायिक विद्वेष और फूट के बारे में लेखक ने टिप्पणी की है।

मार्क्सवादी अलोचक प्रदीप सक्सेना के शब्दों में 'चन्द्रकांता' व 'चन्द्रकांता' संतति' का भूगोल है ''बनारस–काशी,चुनार–मिर्जापुर–विजयगढ़–नौगढ़–चकिया–रामनगर–मुगलसराय जमनिया–इलाहाबाद–जौनपुर–गया–पटना–रोहतस–धौलपुर–राजगृह, विंध्य की पहाड़ियाँ।''[9] तिलिस्मी साहित्य का 'पन्द्रह वर्षों तक गहन अध्ययन तथा उसमें वर्णित जगहों का भौतिक सत्यापन' करने के पश्चात् प्रदीप सक्सेना इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चुनारगढ़ के सभी तिलस्मी भवन प्रकृति, मार्ग और जीवन 'चन्द्रकांता' के वर्णनों से पूरी तरह से मेल खाते हैं।[10] प्रदीप सक्सेना की नज़र में 'चन्द्रकांता' तथा 'संतति' में वर्णित तिलिस्म का रूप प्रकृति में दिखलाई देता है। यह न तो भक्तिकालीन है और न ही रीतिकालीन, बल्कि नवजागरणकालीन प्रकृति है जिसके विस्तृत विवेचन–विश्लेषण की माँग प्रदीप सक्सेना करते हैं, क्योंकि मुगलकाल के कितने ही दृश्य उसमें विद्यमान हैं। उपन्यास का अधिकांश भाग प्रकृति के आनंद से परिपूर्ण है। यह आनंद रहस्य–भेदन के माध्यम से दिखाई देता है इसलिए अपने स्वरूप में वह तिलिस्म–जैसा दिखाई देता है।[11] उन्होंने लिखा है कि ''जिस काल को हमने 'चन्द्रकांता' एवं 'संतति' में उपलब्ध किया है वह हुमायूँ का काल है। इसी काल में पहले–पहल हम कुछ ऐसी दिलचस्प युक्तियों से भरपूर निर्माण–शृंखला प्राप्त करते हैं। इन अद्‌भुत निर्माणों की सीधी–सीधी छायाएँ यहाँ देखी जाती हैं।''[12] कहना न होगा कि खत्री जी के उपन्यासों में केवल रोमांस और तिलस्मी दुनिया ही नहीं है बल्कि एक जीता–जागता समाज भी है। तिलस्म उस समाज पर पड़ा हुआ आवरण मात्र है जिसे हटाने पर एक पतनशील सामन्ती दुनिया दृष्टिगोचर

होती है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति जीवन को बेहतर बनाने के लिए संघर्षरत है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण 'भूतनाथ' है जो बुरे जीवन से मुक्ति चाहता है। उसमें नवजागरण के स्वरों की तलाश हो सकती है। प्रदीप सक्सेना इस निष्कर्ष को सामने रखते हैं कि ''यह उपन्यास सही अर्थों में 'क्लासिक' कृति है। यह न केवल महाकाव्यात्मक उपन्यास है बल्कि फैंटेसी और यथार्थ के इतने विकट रूप से संगुफित होने वाली पहली कृति है।''[13]

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों की जाँच–पड़ताल केवल परंपरागत साहित्यिक औजारों से पूरी नहीं हो सकती। उसके लिए जरूरी है कि उस पूरे परिवेश और युग को समझा जाय जिसमें इसे लिखा–पढ़ा गया। यह सत्य है कि लाखों लागों ने 'चन्द्रकांता' पढ़ने के लिए जो हिन्दी सीखी उसका कारण कोई भाषा वैज्ञानिक आन्दोलन नहीं था और न ही उस समय बंगला उपन्यासों के अनुवादों का अभाव था। उसका मुख्य कारण यही था कि देवकीनंदन खत्री में उन लोगों को अपनी स्वाधीनता, संघर्ष, प्रेम, नैतिकता, प्रकृति–प्रेम, जीवन–मूल्य और सांस्कृतिक सरंचनाएँ प्राप्त थीं।

किसी रचनाकार के महत्व को जानने और समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि उसके समकालीन और परवर्ती आलोचकों ने उसके साहित्य का मूल्यांकन किस रूप में किया है। प्रेमचन्द के समकालीन आलोचकों ने प्रेमचन्द के कथा साहित्य की प्रशंसा भी की है और आलोचना भी। विरोधी आलोचकों का जवाब देने के लिए प्रेमचन्द को स्वयं कभी–कभार आलोचना के क्षेत्र में भी आना पड़ा। प्रेमचन्द के जीते जी उनके उपन्यासों को उतना श्रेय नहीं मिल पाया जितना मिलना चाहिए था। प्रेमचन्द के निधन के बाद आलोचकों ने प्रेमचन्द पर लम्बा विमर्श किया और उनके कथा–साहित्य का मूल्यांकन किया। जिन आलोचकों ने प्रेमचन्द पर विशेषरूप से कार्य किया उनमें डॉ. रामविलास शर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रकाशचन्द्र गुप्त, नलिन विलोचन शर्मा, गोपाल राय, कमल किशोर गोयनका, शैलेश जैदी तथा कुछ परवर्ती मार्क्सवादी आलोचकों के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में सबसे परिपक्व और कालजयी उपन्यास 'गोदान' (1936) माना जाता है। हिन्दी आलोचकों के बीच में यह पर्याप्त चर्चा का विषय बना रहा है। डॉ. रामविलास शर्मा ने प्रेमचन्द के कथा साहित्य के मूल्यांकन के लिए मार्क्सवादी औजारों का प्रयोग किया और प्रबल तर्कों से प्रेमचन्द को हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित किया। शर्मा जी ने हिन्दी आलोचकों पर आरोप लगाया है कि उन्होंने प्रेमचन्द की स्वस्थ लोकवादी परंपरा और हिन्दी की मूल्यवान विरासत को न पहचाना, न समझा। शर्मा जी की राय में ''प्रेमचन्द उन लेखकों में हैं जिनकी रचनाओं से बाहर के साहित्य–प्रेमी हिन्दुस्तान को पहचानते हैं। उन्होंने हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय सम्मान को बढ़ाया है; हमारे देश को अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गौरव दिया है। प्रेमचन्द पर सारा हिन्दुस्तान गर्व करता है,..... जिन विशेषताओं को उन्होंने अपने कथा–साहित्य में झलकाया है, वे हमारी जनता की जातीय विशेषताएँ थी।''[14] डॉ. शर्मा के लिए 'गोदान' की मुख्य समस्या ऋृण की है जिसके माध्यम से प्रेमचन्द ने किसान की उस समस्या पर प्रकाश डाला है जो आए दिन उनके जीवन का सबसे अधिक स्पर्श करती है।[15] दरअसल, होरी की ऋृण की समस्या राय साहब की ऋृण की समस्या नहीं है कि ''कोई चालीस लाख का बोझ सिर पर है.....नौकरों का वेतन छह–छह महीने से बाकी पड़ा हुआ है, मगर हीरा महल बन रहा है।''[16] होरी की त्रासदी पर टिप्पणी करते हुए रामविलास जी ने लिखा है कि ''तीन बीघा जमीन की रक्षा के लिए वह जान लड़ा देता है, लेकिन महाजनों के पंजों से उसकी रक्षा नहीं कर पाता। उस पर बेदखली का दावा होगा। महाजन उसे बेचने के लिए मजबूर करके उसे अभयदान करने के लिए तैयार हो जाता है।''[17] कौन है यह महाजन? और उसकी शक्ति का स्रोत क्या है? इसकी विवेचना रामविलास जी नहीं करते हैं। जबकि होरी की जमीन को हड़पने वाले और कन्या को बेचने के लिए विवश करने वाले पंडित दातादीन कोई साधारण महाजन नहीं है बल्कि एक बड़े पुरोहित हैं जिनकी शक्ति का स्रोत 'धन' और 'धर्म' दोनों हैं। धर्म का आतंक होरी के दमन का साधन है जिसकी चक्की में वह आजीवन पिसता रहता है।

वीरेन्द्र यादव ने लिखा है कि ''होरी की यह धर्मभीरूता 'गोदान' के देशकाल में भारतीय किसान की धर्मभीरूता थी जो बिना किसी दमनकारी हथियार के भी उसे शोषण के दुष्चक्र का इच्छुक, सहभागी बनाती थी। भारतीय किसान की इस यातना को न तो 'अंग्रेज औपनिवेशिकता' से परिभाषित किया जा सकता है, न मात्र 'कर्ज की समस्या से।''[18] स्पष्ट है कि होरी अपनी निजी समस्याओं के समाधान के लिए कर्ज नहीं लेता बल्कि, पंचायत द्वारा थोपा गया वह दंड है जिसके लिए पंचायत ने अस्सी रूपये डॉड़ के लगाए हैं और बीस मन अनाज ऊपर से। जिस अपराध के लिए होरी को दंडित किया जाता है वह धनिया के शब्दों में ''मुझसे इतना बड़ा जरीवाना इसलिए लिया जा रहा है कि मैंने अपनी बहू को क्यों अपने घर में रखा। क्यों उसे घर से निकालकर सड़क की भिखारिन नहीं बना दिया।''[19]

होरी की त्रासदी के मूल में दो प्रमुख घटनाएँ हैं एक है उसके द्वार पर खूँटे से बँधी गाय का मरना और दूसरा बेटे गोबर द्वारा विधवा झुनिया को बिना ब्याहे पत्नी के रूप में स्वीकार करना। इन दोनों घटनाओं के लिए होरी जिम्मेदार नहीं है लेकिन धर्म, बिरादरी और मरजाद की खातिर वह कर्ज के दुष्चक्र में फँसता है। वीरेन्द्र यादव के अनुसार ''गोदान अपने मुकम्मल पाठ में वर्णाश्रमी हिन्दुत्व, उसकी जड़ मर्यादा एवं अतीतोन्मुखी चिन्तन का प्रत्याख्यान है। वह हिन्दू धर्म की समरसता के मिथक का भेदन करता हुआ भारतीय समाज की कुलीनवादी व्याख्या का निम्नवर्गीय (सबाल्टर्न) विकल्प प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि दलित व नारी सरीखे आज के ज्वलन्त प्रसंग 'गोदान' में अपनी केन्द्रीय उपस्थिति दर्ज कराते हैं।''[20]

'गोदान' में सिलिया–मातादीन, धनिया–होरी, मालती–मेहता, और नोहरी प्रसंगों का एक अलग 'नारी पाठ' भी है। डॉ. रामविलास शर्मा ने 'गोदान' की अपनी समालोचना में मालती और धनिया का उल्लेख तो करते हैं लेकिन उन सभी प्रश्नों की पड़ताल नहीं कर पाए हैं जिन्हें प्रेमचन्द ने अपने नारी पात्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। मीनाक्षी मुखर्जी भी 'गोदान' की अपनी समालोचना में नारी–विमर्श को लेकर अलग से कोई बात नहीं

करतीं बल्कि कहीं–कहीं नारी पात्रों का नामोल्लेख भर करती हैं। मीनाक्षी मुखर्जी का विचार है कि ''प्रेमचन्द ग्रामीण और शहरी मूल्यों के समाकलन में अन्य भारतीय लेखकों की तरह नॉस्टेल्जिक हैं।''[21] प्रेमचन्द ग्रामीण–शहरी मूल्यों के प्रति उदासीन नहीं थे लेकिन उनका ग्रामीण जीवन के प्रति अधिक लगाव जरूर था। 'गोदान' में गोबर के माध्यम से प्रेमचन्द गाँव और शहर के बीच सेतु तैयार करते हैं। जैनेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी, शिवकुमार मिश्र, परमानन्द श्रीवास्तव और विजयमोहन सिंह ने 'गोदान' की संरचना को ढीला–ढाला और बिखरा हुआ माना है क्योंकि गाँव और शहर की कथाएँ एक–दूसरे से नहीं जुड़ती हैं। नामवर सिंह ने अपने एक व्याख्यान में 'गोदान' के गाँव और शहर की कथा को अलग–अलग करके देखे जाने का विरोध किया था। नामवर जी 'गोदान' को केवल एक भारतीय किसान की दुख गाथा तक ही सीमित नहीं करते बल्कि उसे स्वाधीनता के वर्ग–चरित्र से भी जोड़ते हैं। उनका विचार है कि ''पूरा उपन्यास किसान की दुख गाथा नहीं है। पूरा उपन्यास राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के वर्ग–चरित्र पर कठोर टिप्पणी है।''[22] इसलिए नामवर जी ने 'गोदान' को 'पोलिटिकल क्रिटिक' कहा है और जो गाँव और शहर को मिलाकर देखने पर पूरी होती है।

प्रकाशचन्द्र गुप्त के अनुसार ''प्रेमचन्द की कला में न तो रवि बाबू का काव्य रस है, न शरत बााबू का अन्तर्मन कुरदने वाला मर्मस्पर्शी चरित्र–चित्रण। किन्तु उन्होंने अपनी कला में भारतीय–जीवन के उस विशाल, विस्तृत स्तर को छुआ है, जो अब तक अदृश्य और अछूता था। उन्होंने भारत के मूक जन–समाज को वाणी और अभूतपूर्व साहित्यिक स्वर दिया है।''[23] स्पष्ट है कि गुप्त जी प्रेमचन्द के यहाँ मनोवैज्ञानिक चित्रण का अभाव पाते हैं लेकिन 'गोदान' का 'होरी' और रंगभूमि का 'सूरदास' दोनों ही कालजयी चरित्र हैं। दोनों को मर्मस्पर्शी चरित्र भी कहा जा सकता है। फिर भी गुप्त जी ने प्रेमचन्द की शक्ति को पहचानने में कोई गलती नहीं की थी। यशपाल की दृष्टि में प्रेमचन्द साहित्य की प्रतिबद्धता विवेकगत मानवी–नैतिक मूल्यों से है। उनकी दिशा प्रगति की रही है क्योंकि उनका साहित्य केवल विश्वास के आधार पर अतीत की रूढ़ियों और असामयिक हो चुके

नैतिक मूल्यों का समर्थन नहीं करता बल्कि अपने समाज की समस्याओं से प्रभावित होकर समयानुकूल विवेक–विचार की प्रेरणा भी देता है।[24] प्रेमचन्द का संपूर्ण कथा–साहित्य सामाजिक समस्याओं से ही टकराता है। उनकी औपन्यासिक यात्रा स्त्री की समस्याओं (सेवासदन) से आरम्भ होकर किसान–जीवन की समस्याओं तक जाती है।

भैरवप्रसाद गुप्त ने लिखा है कि ''हिन्दी साहित्य में एक अकेला प्रेमचन्द साहित्य ही है जो उनके युग की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थितियों का दस्तावेज प्रस्तुत करता है, उनके युग के वास्तविक जीवन के चित्र हमारे सामने रखता है।''[25] स्पष्ट है कि भैरवप्रसाद जी प्रेमचन्द के महत्व को समझने के लिए उनको संपूर्णता में देखने की कोशिश करते हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'गोदान' की आलोचना अपनी 'प्रेमचन्द : एक साहित्यिक विवेचन' पुस्तक में की है। उनका विचार है कि 'गोदान' में राष्ट्रीय संघर्ष की कोई झलक नहीं मिलती न इसमें समाज का सर्वतोन्मुखी चित्रण ही हो पाया है। सामूहिक और राष्ट्रीय दृष्टि से उसमें पर्याप्त विशालता नहीं है। उसमें पात्रों की संख्या कम है और वे युग–जीवन का यथेष्ट परिचय नहीं करा पाते। चारित्रिक उत्कर्ष की दृष्टि से भी उनका कोई महत्व नहीं है। वाजपेयी जी के इन सभी आरोपों से सहमत होना कठिन है। मैनेजर पाण्डेय मानते हैं कि प्रेमचन्द के ''सभी महत्वपूर्ण उपन्यासों में अंग्रेजी राज की काली छाया मौजूद है, उसकी लूट और दमन की खूंखार व्यवस्था भी है और उसके साथ सहयोग करने वाले दलाल जमींदारों तथा पूँजीपतियों का समूचा शोषक तन्त्र है। साथ ही प्रेमचन्द के उपन्यासों में स्वाधीनता आन्दोलन का चित्रण इतना स्पष्ट, सच्चा और संकेतयुक्त है कि उनके अनेक पात्रों के चरित्र में स्वाधीनता आन्दोलन के अनेक नेताओं के प्रतिबिंब दिखाई देते हैं।''[26]

प्रेमचन्द ने 'गोदान' में रायसाहब कुँवर दिग्विजय नारायण सिंह और खन्ना जैसे जमींदारों, राजाओं और पूँजीपतियों की अवसरवादिता, स्वार्थी चरित्र और पाखण्ड का खुलासा किया है। उन्होंने भारतीय किसान के उन देशी शत्रुओं को भी कटघरे में खड़ा किया है जो धर्म, मरजाद की मिथ्या चेतना से किसान की दीनता का दोहन करते हैं।

'गोदान' में प्रेमचन्द सामन्ती–व्यवस्था और धार्मिक पर जहाँ एक तरफ चोट करते हैं, वहीं दूसरी तरफ अपने जीवन–दर्शन को भी मेहता–मालती आदि पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। प्रेमचन्द ने अपने युग (परतन्त्र भारत) की समस्याओं को जिस रूप में उठाया था वे आज भी मौजूद हैं यानी हमारे वर्तमान से चिपकी हुई हैं। सवाल यह है कि 21वीं सदी में भी 'होरी' ही क्यों आत्महत्या करने के लिए विवश होता है? पूँजीपति क्यों नही ...? जैनेन्द्र के विचार में प्रेमचन्द समाज की रूढ़ियों का निदान तो करते हैं लेकिन उसकी आत्मा की गहराई में नहीं उतर पाते। उनकी भाषा सांकेतिक कम वर्णानात्मक अधिक हो गई है। यानी व्यंग्य की भगिमा से अधिक अभिधा का प्रयोग हुआ है।[27]

निर्मल वर्मा प्रेमचन्द के मूल्यांकन में एक अलग विमर्श को जन्म देते हैं। उन्होंने लिखा है कि ''प्रेमचन्द ने किसानों की 'ऐतिहासिक विकृति' को देखा था किन्तु उस चीज का मूल सांस्कृतिक टेक्सचर अपने गैर–ऐतिहासिक रूप में क्या था–जो विकृत हुआ था, उसकी अंतर्दृष्टि प्रेमचन्द में नहीं मिलती। प्रेमचन्द अक्सर उस पक्ष को अनदेखा कर देते हैं जिसमें भारतीय किसान की सांस्कृतिक विरासत छिपी थी–यह विरासत उसके व्यावहारिक सामाजिक 'धर्म' से कहीं ज्यादा गहरी और महत्वपूर्ण थी–एक शब्द में कहें तो उसकी आध्यात्मिक विरासत। अंग्रेजी राज ने इस विरासत को जिस तरह आहत किया था, उसकी पीड़ा का आयाम प्रेमचन्द के उपन्यासों में नहीं दिखाई देता है।''[28] निर्मल जी की सांस्कृतिक विरासत वाले शब्द–प्रयोग को कुछ आलोचक 'हिन्दू धर्म का राष्ट्रीयकरण' मानते हैं जो 'धार्मिक' और 'आध्यात्मिक' शब्दावली को गड्ड–मड्ड कर देते हैं। तभी तो वीरेन्द्र यादव कहते हैं कि निर्मल जी प्रेमचन्द के किसान को सामाजिक–आर्थिक विमर्श के बाहर निकालकर धार्मिक व आध्यात्मिक विमर्शों में उसी तरह डालते हैं जैसा कि इलियट ने तत्कालीन अंग्रेज समाज को ईसाई विमर्श में डाला था।[29] निर्मल वर्मा के कथन की गहराई में जाकर, उसकी पड़ताल करने के बजाय, ऐसे आलोचक सरलीकरण कर जाते हैं।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री पूरनचन्द जोशी के अनुसार प्रेमचन्द ने बालजाक तथा तोल्स्तोय की दृष्टि और चरित्र–चित्रण की सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं।[30] पी. सी. जोशी के विचार हैं कि ''गोदान में प्रेमचन्द की दृष्टि केवल उपनिवेश–विरोधी अन्तर्विरोधों (शहर–गाँव) तक ही रहती। बल्कि सामंतवादी अन्तर्विरोधों को भी उजागर करती है। इसमें एक ओर कृषक बनाम जमींदारी–सूदखोर–व्यापारी वर्ग के संघर्ष का चित्रण है तो दूसरी ओर कृषक बनाम पुजारी, सरकारी अधिकारी, कठोर बिरादरी के संघर्षों का भी चित्रण हुआ है।''[31] डॉ. खगेन्द्र ठाकुर 'गोदान' में प्रेमचन्द की 'विचारधारा' के तत्वों की खोज करते हुए राष्ट्रीयता, जनतंत्र और मानववाद जैसे मूल्यों को प्राप्त करते हैं। उन्होंने लिखा है ''प्रेमचन्द अपने पात्रों और उनके सन्दर्भों के द्वारा यह बताते हैं कि बंधुता, स्वतंत्रता और मानवता को स्थापित किया जा सकता है। जीवन के अनुभवों का अनुसरण करते हुए हम इस विचारधारात्मक निष्कर्षों पर पहुँचते हैं।''[32] 'गोदान' के स्थापत्य में केवल विचारधारा नहीं है। नलिन विलोचन शर्मा ने 'गोदान' के कथ्य–शिल्प और भाषा के सम्बन्ध में विमर्श की खिड़कियाँ खोली थीं लेकिन दुर्भाग्यवश हिन्दी कथा–आलोचक इस विमर्श–परंपरा को आगे नहीं बढ़ा पाए। ज्यादातर आलोचक 'गोदान' में जमींदारी व्यवस्था के टूटने और पूँजीवाद के आगमन के संकेत पाते हैं। शिवकुमार मिश्र ने लिखा है कि प्रेमचन्द का केन्द्रवर्ती सरोकार सदियों से सामंती व्यवस्था के चक्र में पिसती ग्रामों की विराट मनुष्यता की यातना से साक्षात्कार रहा है और गाँवों के नरक को उद्घाटित करते हुए उसका साक्षात्कार भी उन्होंने हमें कराया है।''[33] प्रेमचन्द के गाँव आज भी मौजूद हैं लेकिन शोषण का तरीका ज्यादा बारीक हो गया है। भूमण्डलीकरण के फलस्वरूप गाँवों में परिवर्तन तो हुआ है लेकिन यह परिवर्तन बहुत ही धीमी गति से हो रहा है। प्रसिद्ध अमेरिकी वामपंथी आलोचक फ्रेडरिक जेक्सन ने उपनिवेशवादी देशों में उपन्यास के विकास के सन्दर्भ में 'राष्ट्रीय रूपक' (National Allegory) की अवधारणा दी थी। नामवर सिंह तथा कुछ अन्य आलोचकों ने इस रूप में भी 'गोदान' की व्याख्या करने की कोशिश

की। बाद में चलकर अंग्रेजी में इस पर काफी बहसें गायत्री चक्रवर्ती–स्पीवाक, एजाज़ अहमद आदि के द्वारा हुईं जिनकी क्षीण प्रतिध्वनि भी हिन्दी आलोचना में नहीं सुनायी दी।

कुल मिलाकर आलोचक मानते हैं कि 'गोदान' भारतीय 'किसान–जीवन' का महाआख्यान है, क्लासिक (कालजयी) कृति है। प्रेमचन्द की इस औपन्यासिक परंपरा का विकास और विस्तार 'बलचनमा', 'मैला आँचल', 'सत्ती मैया का चौरा', 'राग दरबारी' में हुआ है। 'गोदान' का किसान औपनिवेशिक युग में शोषित होता है। इसलिए उसके विरोध का स्वर मुखर नहीं, दबा हुआ है। बाद के उपन्यासों में किसानों के विरोध को नये आयाम और नये तेवर मिले हैं। प्रगतिशील विचारों का आगमन किसानों–मजदूरों के स्वर में अधिक मुखरता और आक्रामकता चाहता था। आजादी के बाद गाँवों, शहर और कृषक–जीवन को अनेक नयी समस्याएँ और नये दबाव झेलने पड़े।

जैनेन्द्र का हिन्दी साहित्य के औपन्यासिक क्षेत्र में कदम रखना एक घटना है। उनके साथ ही हिन्दी उपन्यास कथ्य, शिल्प और भाषा के विविध स्तरों पर अपनी क्रमागत परंपरा से एकदम से अलग हो जाता है। पूर्ववर्ती कथाकारों में घटनाओं, आन्दोलनों, समाजिक विकृतियों को सामाजिक दृष्टिकोण से देखने की प्रमुखता थी। जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में मानव–मन की गहन अन्तःवृत्तियों का अध्ययन किया है। उनके उपन्यासों में स्थूल और ब्राह्य समस्याओं की पड़ताल पैनी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से की गयी है। 'सुनीता' (1935) और 'त्यागपत्र' (1937) जैनेन्द्र के दो उपन्यास हैं जो बेहद लोकप्रिय रहे हैं।

'सुनीता' में स्थूल रूप से विवाह और प्रेम की समस्या है। इसके साथ घर की एकरसता की भी समस्या है। यह एकरसता किसी आर्थिक–सामाजिक कारण से नहीं आया है बल्कि इसकी उत्पत्ति का प्रधान कारण है बँधा हुआ जीवन। जैसा कि जैनेन्द्र ने लिखा भी है कि ''पानी बहते–बहते कहीं बँध गया है, उसे खुलना चाहिए। जीवन को बहिगर्मन मिले, और घर के भीतर की गृहस्थी को घर के बाहर की दुनिया का और अधिक संसर्ग और अधिक संघर्ष मिले तो शायद कुछ इसकी सृष्टि हो, चैतन्य जागे।''[34] मधुरेश 'सुनीता' को रवीन्द्रनाथ टैगोर के 'घरे बाइरे' से प्रभावित बताते हैं तथा हिंसा–अहिंसा के द्वन्द्व को

'सुनीता' का केन्द्रीय कथ्य मानते हैं। दरअसल, सुनीता हरिप्रसन्न की हिंसा को अपनी अहिंसा से जीतना चाहती है। उसकी निर्णयहीनता उसके इस द्वन्द्व को प्रभावित करती है। जिसके कारण वह न तो अपने पति को पूर्ण रूप से वरण कर पाती है और न ही अपनी कथित सारी वितृष्णा के बावजूद हरिप्रसन्न के आकर्षण से मुक्त हो पाती है।[35] यह अन्तर्द्वन्द्व आधुनिक मनुष्य की पीड़ा का कारण है। जैनेन्द्र के आरम्भिक उपन्यासों में 'सुनीता' की सबसे अधिक चर्चा उसके खुलेपन को लेकर हुई। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है कि ''सुनीता से चोली–चीर उतारने और कभी–कभी प्रगतिशीलता के नाम पर उच्छृंखलता प्रदर्शन की प्रवृत्ति आरम्भ हुई थी।''[36] उपन्यास में सुनीता का निर्वस्त्र होना अनेक आलोचकों की नैतिकता को रास नहीं आया है। हलांकि कुछ आलोचकों ने इसे जैनेन्द्र की प्रगतिशीलता के रूप में भी देखा है। रामविलास जी की नाराजगी का एक कारण यह भी हो सकता है कि उन्हें लगता है जैनेन्द्र ने हरिप्रसन्न के रूप में मार्क्सवाद को नीचा दिखाने की कोशिश की है।

जैनेन्द्र के कथा–संसार को जीवन की गंभीर आलोचना कहना ठीक होगा। वे 'व्यक्ति के लिए समाज' को मानते हैं, व्यक्ति की दृष्टि से समाज को देखते हैं। उनके यहाँ 'व्यक्ति' प्रमुख है। वे व्यक्ति के अन्तर्मन की गहराइयों में जाकर आकांक्षा–निराशाओं के सामाजिक कारणों को खोजते–टटोलते हैं जैनेन्द्र के उपन्यासों का संसार अपने में पूर्ण है। वे अपने पाठकों को उत्तेजित और प्रश्नानुकूल बनाते हैं। वे प्रश्न उठाते रहते हैं। कई बार ये प्रश्न उलझे हुए लगते हैं क्योंकि हमारा सामाजिक परिवेश सहज–सरल नहीं है। विश्वम्भरनाथ उपाध्याय लिखते हैं कि ''जैनेन्द्र मन के मित्र लेखक हैं और मन को संतुष्ट करने के लिए वह उपन्यासों में प्रेम का त्रिकोण रचते हैं किंतु अंत में हमें लगता है कि वह टिपीकल रोमानी लेखन नहीं कर रहे हैं बल्कि वह मानव संबंधों में क्रांति कर रहे हैं। यानी मनुष्य को वह संबंधों में स्वतंत्रता देते हैं किंतु इतने ऊँचे और गहरे स्तर पर कि प्रेमी परमात्मा होने लगता है।''[37] शायद यही कारण है कि 'सुनीता' विवाहिता और दाम्पत्य–मर्यादा के प्रति ईमानदार होते हुए भी, अपने प्रेमी हरिप्रसन्न से प्रेम करती हुई भी

दाम्पत्य जीवन की मर्यादा को नहीं तोड़ती। विश्वनाथ त्रिपाठी जैनेन्द्र को नागर–जीवन का रचनाकार मानते है।[38] क्योंकि जैनेन्द्र के यहाँ स्त्री–पुरूष संबन्धों में जो जटिलता आई है वह नागर प्रभाव के ही कारण है। कहना न होगा कि जैनेन्द्र की कथा–भाषा अपने समकालीन कथाकारों (प्रेमचन्द, यशपाल और अज्ञेय) की भाषा से अलग है। मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में ''जैनेन्द्र की भाषा में कहीं अनेकांतवाद की झलक है तो कहीं स्याद्वाद की। कहीं–कहीं गाँधी की अमूर्तनवादी सूत्र शैली भी उनकी भाषा में है। वहाँ न भाषा का फैलाव है, न शब्दों की फिजूलखर्ची और विशेषणों की भरमार।.....सुनीता की भाषा में एक ओर ऐसा नागरपन है जिसमें अंग्रेजी के शब्दों और वाक्यों का प्रयोग है तो मुहावरों के अनुवाद भी और दूसरी ओर देशज शब्दों तथा कथन भंगिमाओं का कुशल प्रयोग।''[39] जैनेन्द्र घटनाओं, स्थितियों और प्रभाव को निजी तथा वैयक्तिक बनाकर प्रस्तुत करते हैं इसलिए उन्हें अन्तर्मुखी रचनाकार भी कहा जाता है। जैनेन्द्र ने हिन्दी कथा–साहित्य को जो योगदान दिया है उसके सन्दर्भ में भीष्म साहनी का कहना है कि जैनेन्द्र का साहित्य उनकी विशिष्ट जीवन–दृष्टि, उनकी धारणाओं–मान्यताओं को बड़े जीवन्त रूप में परिलक्षित करता है। निःसन्देह जैनेन्द्र ने हिन्दी साहित्य को एक पैनी भाषा और मुहावरा दिया है।[40]

'त्यागपत्र' जैनेन्द्र जी का अत्यंत चर्चित उपन्यास रहा है। यह व्यवस्था–विरोधी उपन्यास है। इसमें उस जड़ समाज–व्यवस्था के प्रति तिरस्कार है जो सामंती और पुरूष सत्तात्मक है। उपन्यास की प्रमुख चरित्र मृणाल समाज की दुर्व्यवस्था का शिकार होकर भी बेहतर समाज की कामना में टूटती रहती है। मृणाल का कहना है कि ''समाज टूटा तो हम किसके भीतर बने–बिगड़ेंगे।''[41] मृणाल के आत्मज्ञान को जैनेन्द्र आत्मव्यथा से मिला ज्ञान कहते हैं जिसकी परिणति मृणाल के आत्मविसर्जन में और प्रमोद के असहाय आत्मनिर्णय में होती है। प्रमोद का जजी से त्यागपत्र देना यही सिद्ध करता है कि वह उस व्यवस्था को गले नहीं लगा सकता जिसमें रहकर वह अपनी बुआ के साथ न्याय नहीं कर पाया। 'त्यागपत्र' वस्तुतः स्त्री–मुक्ति की दिशा में हिन्दी की पहली संघर्ष–गाथा है। सामंती

परिवार और समाज स्त्री को वस्तु में बदल देता है, उसके तन–मन को उसका खुद का नहीं रहने देता। समाज ने उसको बचपन से ही बंधनों में बाँध दिया था जब उसका मन कहीं भी बँधने के लिए तैयार नहीं था। वह विद्रोह करती है और उसका मूल्य चुकाती है। परमानन्द श्रीवास्तव ने लिखा है कि ''मृणाल 'त्यागपत्र' में ही महत्वपूर्ण पात्र का स्थान नहीं रखती बल्कि हिन्दी उपन्यास संसार की महत्वपूर्ण चरित्र–सृष्टियों में गणनीय कही जोयेगी।''[42] परमानन्द जी मृणाल का सही आकलन करने में हिचकिचाने लगते हैं। दरअसल, मृणाल हिन्दी साहित्य की पहली आधुनिक और विद्रोही नारी है जिसने हमारी तथाकथित नैतिकता को, परंपरागत मान्यताओं को एक सिरे से खारिज किया है। वह अपने स्त्रीत्व व अस्मिता के प्रति केवल सजग ही नहीं रहती बल्कि स्वयं को तिल–तिल जलाकर भी वह अपने लिए एक नया रास्ता तैयार करती है। वह घर में अपनी इज्जत बचाते हुए घुट–घुटकर दम नहीं तोड़ती। बल्कि घर से बाहर निकलकर समाज में हाशिए पर पड़े हुए लोगों के बीच में जाकर रहती है। यही कारण है कि विश्वनाथ त्रिपाठी मृणाल को कालजयी चरित्र के रूप में देखते हैं, उन्होंने लिखा है कि ''हिन्दी कथा–साहित्य में और अभी भी जो मृणाल है उसकी टक्कर का कोई पात्र नहीं है। उतना शांत पात्र नहीं मिलेगा कहीं भी, और न इतना विक्षुब्ध पात्र ही।''[43] किसी भी रचना या रचनाकार के उसके व्यक्तिगत विचारों से नहीं, बल्कि उसकी सामाजिक–राजनीतिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही भली–भाँति समझा जा सकता है। एक बड़ा लेखक अपने समय के सवालों से जूझता है और समाज के सम्मुख कई सवालों को उपस्थित करता है।

निसंदेह जैनेन्द्र एक बड़े लेखक हैं। अपने लेखन में स्त्रियों की मुक्ति से संबन्धित प्रश्नों को गम्भीरता से उठाया है। समाज में स्त्रियों की स्थिति, उनकी नियति और समस्याओं का विश्लेषण करते हुए जैनेन्द्र हिन्दी साहित्य में एक लम्बा सफर तय करते हैं। प्रभात त्रिपाठी ने ठीक लिखा है कि ''जैनेन्द्र आदिम मनुष्यता के प्रश्नों को समाज और सभ्यता की नैतिकता के प्रश्नों से जोड़ते है और एकदम 'इफोर्ट्लोसली' जोड़ते हैं। ऐसा महसूस होता है कि वे स्त्री और पुरूष के संबन्धों की जटिलता को, विशिष्ट

भारतीय समाज और संस्कार की उस भाषा में लिख रहे हैं, जिस भाषा और जिस समाज–संस्कार को लेकर उनके अपने मन में भी गहन शंकाएँ हैं।''[44] दरअसल, जैनेन्द्र समाज की सड़ी–गली मान्यताओं के खिलाफ हैं। उन्होंने एक स्वस्थ–समाज की स्थापना पर जोर दिया है। जैनेन्द्र व्यक्ति के माध्यम से समाज को देखते हैं न कि प्रेमचन्द की तरह समाज के माध्यम से व्यक्ति को। 'त्यागपत्र' में उन्होंने 'मृणाल' के माध्यम से यह सवाल उठाया है कि स्त्रीत्व और सतीत्व में से क्या अधिक श्रेयस्कर और वरणीय है? मधुरेश ने सही लिखा है कि ''जैनेन्द्र ने समाज की स्वीकृत और प्रचलित मूल्यदृष्टि पर ही प्रश्न चिन्ह लगाया है।''[45] जैनेन्द्र समाज को संवेदनपूर्ण, तर्कपूर्ण, नैतिक और वैज्ञानिक बनाने के पक्षधर हैं। वे हर तरह से समाज को यथास्थिति से निकालकर बेहतर बनाना चाहते हैं। लेकिन नेमिचन्द्र जैन के मार्क्सवादी विचाराग्रह के अनुसार जैनेन्द्र जीवन के साधारण–असाधारण कार्य–व्यापार और भावानुभूति से प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने की बजाय विचारों और तर्कों में उलझकर रह जाते हैं इसलिए उनके उपन्यास हलके और प्राणहीन लगते हैं।[46] हमें यह नहीं भूलना नहीं चाहिए जैनेन्द्र एक मनोवैज्ञानिक कथाकार हैं और इस तरह के कथाकार अपनी रचनाओं में विचारों और तर्कों को विशेष महत्व देते हैं। नेमिचन्द्र जैन की जैनेन्द्र से बहुत अधिक शिकायत है। उन्होंने लिखा है कि ''जैनेन्द्र मुख्यतः व्यक्ति–मन की कुछेक सीमित समस्याओं के बौद्धिक–नैतिक पक्षों को किसी हद तक नए परिप्रेक्ष्य में भी वह रख सकते हैं। पर व्यापक सामाजिक–राजनीतिक जीवन को मूर्त कर सकना, उसे कोई कलात्मक रूप दे सकना, उनकी भावात्मक और कलात्मक क्षमता दोनों के लिए असाध्य लगता है।''[47] वस्तुतः मार्क्सवादी आलोचकों की अपनी उलझने हैं, क्योंकि जैनेन्द्र उनके द्वारा स्वीकृत स्थूल और सरलीकृत मान्यताओं का प्रत्याख्यान करते हैं। वे हिन्दी के बड़े चिन्तक भी हैं। 'समय और हम' तथा अन्य अनेक पुस्तकें उनके चिन्तन के महत्व के प्रमाण है। चूँकि हल प्रस्तुत करना रचनाकार का दायित्व नहीं, अतः जैनेन्द्र की रचनात्मकता अपनी कलात्मकता और भाषा सौष्ठव में कितनी श्रेष्ठ है इसका आकलन करने में मार्क्सवादी आलोचना असफल रही है।

मार्क्सवादी आलोचकों के औजार ही स्थूल थे। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के विकसित किये जाने पर अब संभव है जैनेन्द्र आदि रचनाकारों का सम्यक् विवेचन–मूल्यांकन हो सके। वैसे गैर मार्क्सवादी विचारों में नहीं समाने वाले जैनेन्द्र–अज्ञेय–रेणु–श्रीलाल शुक्ल–जैसे श्रेष्ठ कथाकारों की ज्यादातर 'मार्क्सवादी' आलोचकों द्वारा की गई आलोचनाएँ 'अधूरे साक्षात्कार' बनकर ही रह गई लगती हैं।

सच्चिदानंद हीरानंद वास्त्यायन 'अज्ञेय' का 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास दो भागों में प्रकाशित हुआ था। पहला भाग 'उत्थान' और दूसरा भाग 'संघर्ष' नाम से क्रमशः 1940 और 1944 में आये। आत्मकथात्मक शैली में लिखे जाने के कारण 'शेखर' में 'व्यक्तित्व की खोज' का कुशलता एवं प्रामाणिक रूप में चित्रण हुआ है। अपने 'व्यक्ति' को समझने का अर्थ है अपने आप को समझना, आत्मनिरीक्षण करना, अपनी सहज प्रक्रिया को समझना, अपने व्यक्तित्व को प्रामाणित करना। इसलिए शेखर 'टाइप' की अपेक्षा 'व्यक्ति' बनना चाहता है। शेखर इसी 'व्यक्तित्व' के बनने की कहानी है जिसमें उसके अंतर्मन की विभिन्न परतों की, कथाक्रम के जरिए, मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने की कोशिश अज्ञेय ने की है। शेखर अपनी स्वभावगत अच्छाइयों और बुराइयों के साथ देशकाल की समस्याओं पर विचार करता है, अपनी शिक्षा, लेखन और आजादी की लड़ाई में अपनी भागीदारी के क्रम में समाज के विभिन्न लोगों के संपर्क में आता है। अपने समय में 'शेखर' चर्चित–विवादित उपन्यास रहा था।

डॉ. रामविलास शर्मा की दृष्टि में शेखर विद्रोही–क्रांतिकारी नहीं है और न ही मानवद्रोही। उस पर किसी का विश्वास नहीं टिकता। वह पश्चिम से प्रभावित उन निकम्मे लोगों में से है जो एक तरफ विद्रोह की लम्बी–चौड़ी बातें करके अपनी हीन–भावना संतुष्ट करते हैं तो दूसरी तरफ आत्मपीड़ा से अपने अस्तित्व को सार्थक बनाते हुए नारी से करूणा की भीख माँगते है। इसलिए उनका विद्रोह और आत्मपीड़ा दोनों ही उनके निकम्मे व्यक्तित्व के दो पहलू हैं।[48] 'शेखर' की रचना के पीछे प्रेरक शक्ति के बारे में अज्ञेय ने उपन्यास की भूमिका में लिखा है कि ''वेदना में एक शक्ति है जो दृष्टि देती है

जो यातना में है वह द्रष्टा होता है।''[49] शेखर के प्रेरक शक्ति के रूप में जिसकी स्मृति सबसे पहले आती है वह एक स्त्री है। ''सबसे पहले तुम शशि.....मेरा होना अनिवार्यतः तुम्हारे होने से जुड़ा हुआ है..... तुम वह सान रही हो जिस पर चढ़ाया जाकर मेरा जीवन तेज होता रहा है।''[50] 'शेखर : एक जीवनी' घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखा 'विजन' भी कहा गया है जिसे अज्ञेय शब्दबद्ध किया है। मगर गोपाल राय 'शेखर' को एक अधूरी कृति के रूप में देखते हैं। उनका तर्क है कि 'विजन' अपने में संपूर्ण होता है और उसे तर्कों में बाँटकर देखना ठीक नहीं है।[51] सच तो यह है कि भाषा, कथ्य और शिल्प की दृष्टि से अज्ञेय 'शेखर : एक जीवनी' के माध्यम से हिन्दी उपन्यास में एक युगान्तकारी परिवर्तन ले आये।

जैनेन्द्र ने प्रेमचन्द से अलग होकर अपनी राह निकाली थी और उनके औपन्यासिक योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। उन्होंने 'शेखर' सेपूर्व चामत्कारिक ढंग से हिन्दी उपन्यास को एक नई दिशा दी थी। फिर 'शेखर' के माध्यम से हिन्दी उपन्यास पूरी तरह से आधुनिक युग में प्रवेश करता है। इसलिए विजयमोहन सिंह 'शेखर' को महाकाव्यात्मक संरचना का उपन्यास मानते हैं जिसमें एक व्यक्ति की आधी–अधूरी जीवनी तो है लेकिन अपनी संपूर्ण विश्वदृष्टि के कारण वह समग्र जीवन के मूलभूत प्रश्नों को समाविष्ट करता है।[52] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'शेखर : एक जीवनी' को मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहकर उसके महत्व को कम करना चाहा था। उनकी नज़र में शेखर मनोवैज्ञानिक प्रयोगों का पुतला है। जीवन के अनुभव और आस्थाएँ वहाँ स्थान नहीं पाती हैं।[53] दरअसल, शेखर की खोज अन्ततोगत्वा स्वातन्त्र्य की खोज है जिसमें उसके अपने गहरे दर्दीले अनुभव सबसे प्रामाणिक हैं। यह एक बालक के विकास की, उसके व्यक्ति बनने की कहानी है। इस विकास में शेखर के जीवन के कई पड़ाव है। शेखर जीवन में कई भूमिकाओं में, कई स्त्रियों का प्रवेश होता है। सरस्वती और शशि शेखर को सबसे अधिक प्रभावित करती हैं। शशि–शेखर के संबन्धों को लेकर हिन्दी साहित्य में बहुत हलचल रही है। उपन्यास के सबसे अधिक मार्मिक प्रसंगों में है–शशि–शेखर प्रसंग। मधुरेश ने लिखा

है ''शशि और शेखर के आत्मीय एवं अंतरंग क्षणें के अंकन की दृष्टि से 'शेखर :एक जीवनी' के अनेक स्थल बहुत मार्मिक बन पड़े हैं।''[54] शेखर का शशि से प्रेम–जो उसकी मौसेरी बहन है–हिन्दू समाज के फ्रेमवर्क में फिट नहीं होता। सहज–स्वाभाविक प्रेमाकर्षण और मानवीय भावना के पक्ष में समाज और सामाजिक मान्यताओं से शेखर की टकराहट एक प्रच्छन्न विद्रोह है, प्रचलित सामाजिक रूढ़ियों और 'नैतिक' मान्यताओं के खिलाफ। 'नैतिकतावादियों' को ठेस पहुँचना लाजिमी था।

प्रकाशचन्द्र गुप्त की दृष्टि में ''अज्ञेय ने व्यक्तिमन की कुंठाओं का शिल्प से शृंगार किया है।''[55] दरअसल, गुप्त जी 'शेखर :एक जीवनी' के शिल्प' की प्रशंसा तो करते हैं लेकिन उपन्यास को व्यक्तिमन, कुंठाओं तक ही सीमित करके देखते हैं। उन्होंने शेखर के सामाजिक कार्यों–एंटीगोनम क्लब, क्रांतिकारी जीवन–को दरकिनार कर दिया है। कवि–आलोचक कुँवर नारायण शेखर में परिपक्वता की कमी, तेज रोमाटिंक बहाव तथा गहराई का अभाव पाते है। उनकी दृष्टि में शेखर का आत्मचिंतन अधिक आत्मकेन्द्रित है जिसकी वजह से उपन्यास का अन्य कोई चरित विकसित नहीं हो पाता। फिर भी वे 'शेखर : एक जीवनी को 'क्लासिक' न होने के बावजूद एक महत्वपूर्ण कृति मानते हैं जो अज्ञेय को न केवल एक प्रमुख उपन्यासकार के रूप में स्थापित करती है बल्कि उस आत्मकथात्मक शैली और मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को भी सामने लाती है जो हिन्दी साहित्य के लिए सर्वथा नवीन था।[56]

नेमिचन्द्र जैन का कहना है कि 'शेखर' जब प्रकाशित हुआ था तब एक नवीन साहित्यिक स्तर की उपलब्धि का भाव समान रूप से हिन्दी के पाठक और समालोचक को हुआ था और हिन्दी साहित्य का समस्त वातावरण नए आलोड़न से स्पंदित हो उठा था। उन्होंने अज्ञेय के महत्व को स्वीकार करते हुए लिखा है कि अज्ञेय के व्यक्तित्व और उनके साहित्यिक कृतित्व में कुछ तो ऐसे विस्फोटक तत्व हैं जो कि विक्षोभ उत्पन्न करते है। अतः अज्ञेय के व्यक्तित्व और उनकी रचनाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।[57]

'शेखर : एक जीवनी' में प्रथम विश्वयुद्ध से द्वितीय विश्वयुद्ध के बीच के भारत के शिक्षित नवयुवक की सामाजिक–राष्ट्रीय चेतना, आधुनिकता, अस्मिता और व्यक्तिमन के अन्तर्द्वन्द्व के बिम्ब भरे पड़े हैं। शेखर का युग संदेह, दुविधा और द्वन्द्व का है। उसकी जीवन–यात्रा, माता–पिता से आरम्भ होकर ईश्वर, शिक्षा–व्यवस्था और शासन–व्यवस्था से मुठभेड़ तक जाती है। शेखर परंपरा और आधुनिकता को अपनी अनुभूति और तर्क–बुद्धि से जाँचता–परखता है। उसके लिए स्वाभिमान तथा जातीय गर्व सर्वोपरि है। वह अपमान नहीं सह सकता चाहे वह अपमान देश का हो या व्यक्ति का। शेखर विद्याभूषण के सहयोग से इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि आधुनिक युग की धर्मान्धता और अंध–राष्ट्रीयता के मूल में व्यक्तिवाद है। जेल का मुसलमान कैदी मुहम्मद मोहसीन शेखर को मौलवी तथा शेखर उसे पण्डित कहकर बुलाता है। यानी शेखर धर्म, जाति के कठमुल्लेपन का विरोध करता है।

डॉ. शंभुनाथ ने लिखा है कि ''शेखर : एक जीवनी में अज्ञेय ने कोई राह आविष्कृत न कर अन्वेषण की निंतरता का प्रतिपादन किया है और एक विराट ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में उस अन्वेषण की पीड़ा का भी सार्थक अंकन किया है। कोई समाधान न देते हुए भी उन्होंने राष्ट्रीय जीवन की एक ऐसी 'ट्रेजडी' की ओर इशारा किया, जिसका संबन्ध संपूर्ण मानव–भविष्य से है। 'शेखर : एक जीवनी' में शशि वैसे ही मरती है जैसे एक भिन्न सामाजिक वर्ग के सन्दर्भ में 'गोदान' का होरी मरता है। दोनो की मृत्यु अस्वाभाविक है और एक ही सामंती व्यवस्था की विडम्बनाएँ हैं। दो अलग–अलग वर्गों के व्यक्ति, विचारधारा और कथा–शिल्प के धरातल पर समान विडम्बना के ग्रास बनते हैं। दोनों की मृत्यु दरअसल 'हत्या' है।''[58] अज्ञेय नारी शोषण की पड़ताल शशि के माध्यम से करते हैं। ''नारी केवल पुरूष के उपभोग का साधन रह गई है, निरी सामग्री जिसे वह जब चाहे, जैसे चाहे, अपनी तुष्टि की आग में होम कर दे।''[59] अज्ञेय ने उस दृष्टिकोण को उजागर किया है जो यह मानता आया है कि संपूर्णता की ओर पुरूष की प्रगति में स्त्री सहायक और माध्यम है। शशि के माध्यम से अज्ञेय स्त्री–स्वर को मुखर करते हैं! क्या स्त्री को

प्रगति का अधिकार नहीं है? अज्ञेय हर किसी के व्यक्ति–स्वातंत्र्य और उत्तरदायित्व का सम्मान करते हैं–यह उनका जीवन–दर्शन भी है। अज्ञेय से नवल किशोर की शिकायत है कि ''लेखक ने परिवेश के कलात्मक रूपान्तरण की समस्या का सामना नहीं किया और इसलिए राजनीतिक सक्रियता का उपन्यास में अभाव है।.....आत्मान्वेषण वर्जित प्रेम के स्वीकार तक ही रह गया है। शेखर की जिस महानता को लेखक स्वतः सिद्ध मानकर चलता है, उसकी कोई उपस्थिति उपन्यास के दोनों भागों में नहीं है।''[60] हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना का यह दुर्भाग्य है कि उसने 'शेखर : एक जीवनी' को राष्ट्रीय परिवेश से संबंधित करके नहीं देखा है। उपन्यास में तत्युगीन सामाजिक यथार्थ की उपेक्षा नहीं है बल्कि उन समस्याओं को अज्ञेय बारीकी से पकड़ते हैं। शेखर के चारों ओर दुःख, पीड़ा, रोग और मुत्यु है। धर्म के देश–विदेश के ठेकेदार भी हैं। वह उनके विरूद्ध विद्रोह करता है, लड़ता है। शेखर के सामने अहिंसा की राह दयनीय दशा में थी। हर आदर्शवाद एक छलावा साबित हुआ था। वे भगत सिंह और आजाद के क्रांतिकारी सह–यात्री रहे थे। उनकी सक्रियता राजनीतिक तौर पर कितनी थी यह तो जाहिर ही है। डॉ. शंभुनाथ के शब्दों में कहा जाय तो ''अज्ञेय 'शेखर : एक जीवनी' में व्यक्तिवादी नहीं थे, वह केवल वैयक्तिक, अनुभूति, घृणा और वासना की महत्ता निरूपित करना चाहते थे। वह बुरे और अच्छे तथा पाप की परंपरागत सामंती धारणा को तोड़ना चाहते थे।''[61] इसलिए शेखर की स्वतन्त्रताकामी चेतना और क्रियाकलापों के बीच का मूल तत्व है–उसकी विद्रोही भावना। अक्टूबर 2005 में भोपाल की एक संगोष्ठी में नामवर सिंह ने हिन्दी के पाँच कालजयी उपन्यासों–'गोदान', 'त्यागपत्र', 'शेखर : एक जीवनी', 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'मैला आँचल'–का जिक्र किया है।[62] (हालांकि उन्होंने 'त्यागपत्र', 'शेखर : एक जीवनी' और 'मैला आँचल' पर कभी कुछ नहीं लिखा।) इसे 'बड़ी देर आया' कथन नहीं भी मानें तो कहना होगा कि लम्बे अर्से तक मार्क्सवादी आलोचक जैनेन्द्र और अज्ञेय की रचनाओं का 'निकटतम पाठ' (Close Reading) करने से दूर ही रहे थे।

हजारीप्रसाद द्विवेदी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1946) लिखकर मानो हिन्दी उपन्यास का स्वदेशी ढाँचा निर्मित करना चाहते हैं। शुक्ल जी ने यह माना था कि यहाँ पश्चिमी औपन्यासिक ढाँचे के आधार पर ही उपन्यास लिखे गये हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में संस्कृत साहित्य की कथा–आख्यायिका–परंपरा का मिश्रण किया गया है। ज्यादा–ज्यादा से कल्पना और इतिहास को द्विवेद्वी जी ने फेंटकर मिलाया है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को भगवान सिंह उपन्यास मानने के पक्ष में नहीं है। बल्कि उसे वे आख्यायिका और उपन्यास के बीच की कोई चीज मानते हैं। दरअसल उपन्यास की संरचना को ठीक–ठीक परिभाषित करना असंभव ही है। उपन्यास में आये प्रकृति के सौन्दर्यवर्णन से भी भगवान सिंह को ऐतराज है क्योंकि चरित्रों की तत्कालीन संवेदना से उनका संबन्ध नहीं जुड़ पाता। जिन पेड़ों, पक्षियों का वर्णन किया गया है तथा जिन उपमाओं का सहारा लिया गया है वे अलग से चिपकाए हुए जान पड़ते हैं।[63]

भगवतशरण उपाध्याय के विचार से 'बाणभट्ट की आत्मकथा' 'कादम्बरी' की ही तरह का एक रोमांस है। उपन्यास की कथावस्तु ऐतिहासिक और सामाजिक है। यद्यपि इसकी घटनाएँ ऐतिहासिक नहीं हैं लेकिन उनकी पृष्ठभूमि सर्वथा ऐतिहासिक है। उसका सामाजिक तथ्य दर्पण की तरह सातवीं सदी के भारतीय समाज को प्रतिबिंबित करता है। संस्कृत भाषा, काव्य, अलंकार, आगम–तंत्रादि का द्विवेदी जी का गहरा ज्ञान उपन्यास में मिल जाता है।[64] दरअसल हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'आत्मकथा' में हर्षकालीन समाज–व्यवस्था का निरूपण करने की कोशिश की है। उपन्यास में हर्षकालीन सामंती–व्यवस्था, धार्मिक सहिष्णुता आदि का जो चित्रण हुआ है वह उस युग की स्थिति पर पूर्ण प्रकाश डालता है। उपन्यास में एक ओर द्विवेदी जी ने मध्ययुगीन मूल्य–बोध की प्रतीति कराई है, तो दूसरी ओर आवश्यक होने पर उस बोध के अप्रासंगिक पक्षों पर कड़ा प्रहार भी किया है। समाज में वर्ण–व्यवस्था का वर्चस्व बना हुआ था। निम्न वर्ग की दृष्टि में ब्राह्मण की सत्ता देवता–जैसी थी। दस्यु के नाम से हूणों के आक्रमण का आतंक उस समय उत्तरी भारत में छाया हुआ था।

नामवर सिंह का कहना है कि आचार्य द्विवेदी के चारों उपन्यास–'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारूचन्द्रलेख', 'पुनर्नवा' और 'अनामदास का पोथा'–इतिहास की पुरानी कहानियों का पुनर्कथन हैं। इनमें एकसूत्रता भी है। यहाँ एक उपन्यास में जो बात छूट गई है उसे दूसरे उपन्यास में पूरा करने की कोशिश की गई है।[65] नामवर सिंह 'आत्मकथा' में उस चक्र को देखते हैं जो सामान्य नारी से कैथराइन और कैथराइन से भट्टिनी तक जाता है। इसी तरह बाणभट्ट में उस आधुनिक व्यक्ति को देखते हैं जो सामान्य न होकर विशिष्ट है। इसलिए उनको संदेह होता है कि वह स्वयं रचनाकार तो नहीं है।[66] दरअसल, इस उपन्यास को केवल 'बाणभट्ट की आत्मकथा' तो नहीं कहा जा सकता है। संस्कृत साहित्य में आत्मपरकता को महत्व नहीं दिया गया है। हाँ यह सबके जीवन की कथा हो सकती है। बाणभट्ट कहीं भी और कोई भी हो सकता है। द्विवेदी जी ने मिस कैथराइन की मार्फत लिखा भी है कि ''बाणभट्ट केवल भारत में ही नहीं होते। इस नरलोक से किन्नरलोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।[67] द्विवेदी जी की कल्प–सृष्टि का कमाल है। सामान्य पाठक तो यही समझता है कि उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' है, जिसे प्रकाशित करवाने में मिस कैथराइन का महत्वपूर्ण योगदान है।

मधुरेश को 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में रह–रहकर श्रीकांत की याद आती है। 'आत्मलांछना, आत्मप्रताड़ना की भंगिमा, उद्‌गाराभिव्यक्ति शैली, नारी–विषयक दृष्टिकोण एवं प्रेम–प्रंसगों की नीरव मौन अप्रगल्भ अवतारणा' की दृष्टि का साम्य भी दिखाई देता है।[68] आचार्य द्विवेदी जी ने 'आत्मकथा' में ऐसे त्रिकोणात्मक प्रेम की सृष्टि की है जिसका स्वरूप आदर्शात्मक है। बाणभट्ट नारी–देह को मंदिर के समान पवित्र समझता है। उपन्यास में द्विवेदी जी निउनियाँ (निपुणिका), भट्टिनी, महामाया के माध्यम से स्त्री–विमर्श का नया आख्यान रचते हैं। ''धर्म–कर्म, भक्ति, ज्ञान, शांति–सौमनस्य कुछ भी नारी का संस्पर्श पाए बिना मनोहर नहीं होते.....नारी देह वह स्पर्श–मणि है, जो प्रत्येक ईट–पत्थर को सोना बना देती है।''[69] डॉ. नित्यानंद तिवारी ने ठीक लिखा है कि ''बाणभट्ट की आत्मकथा' मूलतः बाण और भट्टिनी की कोमल प्रेम कथा ही तो है किन्तु उसे ऐसे बिन्दु

पर धारण किया गया है कि मध्ययुग की धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अन्तर्विरोध की एक विराट गतिशील और संभावनापूर्ण दुनिया का साक्षात्कार होने लगता है।''[70] 'आत्मकथा' में केवल मध्ययुगीन समाज नहीं है। बल्कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद का भी समाज है, 'आत्मकथा' पर निश्चित रूप से उत्तर छायावाद का प्रभाव है जिसको नामवर जी ने भी स्वीकारा है। वे बाणभट्ट में उत्तर छायावादी फक्कड़न और अक्खड़पन के साथ–साथ स्वच्छन्द चेतना व स्वाधीनता संग्राम की अनगूँज पाते हैं।

डॉ. नन्दकिशोर नवल ने लिखा है कि ''आत्मकथा' में राष्ट्र–चिन्ता के साथ–साथ समाज–चिन्ता का भी अभिव्यक्ति हुई है। धर्म, विभिन्न साधना–पद्धतियाँ, स्त्री ये सभी समाज से ही संबन्धित हैं।''[71] महामाया के वक्तव्य के माध्यम से द्विवेदी जी ने सामंत तथा उपनिवेश–विरोधी स्वच्छन्द जनतांत्रिक चेतना को अभिव्यक्त किया है। हालांकि, हिन्दी के कतिपय आलोचकों को 'आत्मकथा' में सामयिक सन्दर्भों का अभाव दिखाई देता है और उन्होंने लेखक पर सौन्दर्यवादी होने का आरोप लगाया है जो कि समुचित प्रतीत नहीं होता। लेखक ने उस युग की उन सभी चीजों को छूने की कोशिश की है जिसकी संभावना उस युग में की जा सकती है।

प्रकाशचन्द्र गुप्त ने 'आत्मकथा' को ऐतिहासिक उपन्यासों की दिशा में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि माना है। उनके अनुसार इस उपन्यास का दृष्टिकोण व्यापक अर्थ में प्रगतिशील और उदार है तथा इसके कथानक, भाषा और रूप–विन्यास पर प्राचीन साहित्य की अमिट छाप है।[72] द्विवेदी जी ने 'आत्मकथा' में संस्कृतिक हिन्दी का प्रयोग किया है और बाणभट्ट की भाषा–शैली का आभास देने का प्रयास किया है। इतना ही नहीं 'कादम्बरी' की तर्ज पर उन्होंने 'आत्मकथा' के भीतर अनेक कथाओं की सृष्टि भी की है। बाण और भट्टिनी की कथा मुख्य कथा है जिसके अन्तर्गत निउनिया, सुचरिता, महामाया आदि की कथा को रखा गया है। मधुरेश का मानना है कि 'आत्मकथा' में द्विवेदी जी बाण के प्रति कुछ अधिक मोहग्रस्त हो गये हैं। लेकिन बाण की व्यक्तिगत और उस युग की सामूहिक दुर्बलताओं को भी द्विवेदी जी चिन्हित करते हैं, इसलिए उपन्यास में युग की सत्ता का

उद्‌घाटन हुआ है तथा साथ ही बाणभट्ट के चरित्र की पुनश्वतारण भी।[73] विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है कि ''बाणभट्ट की आत्मकथा' में भट्टिनी का व्यक्तित्व बहुत शामक एवं आकर्षक है लेकिन बाणभट्ट जितना सक्रिय नहीं है।''[74] परमानन्द श्रीवास्तव ने लिखा है कि ''इतिहास और मिथक, यथार्थ और कल्पना, निजत्व और लोक धर्मिता, पांडित्य और कवित्व, शब्द और अर्थ के अन्तः संयोजन का जो उदात्त प्रतिफलन हजारी प्रसाद द्विवेदी के औपन्यासिक सृजन में दिखाई देता है हिन्दी उपन्यास में वह एक अलग चीज है।''[75] 'बाणभट्ट की आत्मकथा' हिन्दी साहितय में अपने ढंग की रचना है। द्विवेदी जी ने अपनी मौलिक प्रतिभा, भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के गंभीर अध्ययन एवं परिष्कृत लेखन–शैली का सुन्दर समन्वय किया है। इसमें एक ओर कथा साहित्य के परंपरागत भारतीय तत्वों का समायोजन है तो दूसरी ओर इसमें आधुनिक औपन्यासिक शैली का निर्वाह भी हुआ है। 'आत्मकथा' में पूरे युद्ध के बादल छाए हुए हैं। द्विवेदी जी 'मिस कैथराइन' के मार्फत लिखते हैं कि ''छः वर्षों से आस्ट्रिया के दक्षिणी भाग में निराशा और पस्तहिम्मती की जिन्दगी बिता रही हूँ। तुमने युद्ध के घिनौने समाचार पढ़े होंगे, लेकिन उसके असली निर्घृण क्रूर रूप को तुम लोगों ने नहीं देखा। देखते तो मेरी ही तरह तुम लोग भी मनुष्य जाति की जय–यात्रा के प्रति शंकालु हो जाते। यह अच्छा ही हुआ कि तुमने यह घृणित नर–संहार नहीं देखा यह मनुष्य का नहीं, मनुष्यता के वध का दृश्य था।''[76] बाणभट्ट मनुष्यता का ही दूसरा रूप है। इसलिए द्विवेदी जी उसको भारत तक ही सीमित नहीं रखना चाहते हैं। दरअसल, 'द्वितीय विश्वयुद्ध' मनुष्य जाति (मानवता) की पराजय का ही इतिहास है। इसलिए द्विवेद्वी जी लिखते हैं कि ''बाणभट्ट की आत्मा शोण नदी के प्रत्येक बालुका–कण में वर्तमान है। छिः कैसा निर्बोध है तू, उस आत्मा की आवाज तूझे नहीं सुनाई देती?''[77] युवा आलोचक गजेन्द्र पाठक का कहना है कि ''द्विवेद्वी जी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में बालू के एक कण से बाणभट्ट अर्थात् मनुष्यता की निर्माण–यात्रा के पास पहुँचने की कोशिश की है।''[78] यह कहना गलत न होगा कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास भारतीय कथा–परंपरा से जुड़ता है।

हिन्दी के आरंभिक मार्क्सवादी कथाकारों में राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव, नागार्जुन आदि प्रमुख हैं। उनकी रचनाओं में बड़ा ही उथल–पुथल और संघर्षों से भरा समय और समाज रहा है। विशेषतः आधुनिक भारतीय समाज और राजनीति में 1930–1970 तक के समय को आजादी के लिए संघर्ष और समाजवादी चुनौतियों वाला समय कह सकते हैं। हिन्दी के मार्क्सवादी उपन्यासकारों ने एक तरफ मार्क्स के सिद्धांतों, व्याख्याओं और विचारों से प्रभावित होकर अपनी साहित्य–दृष्टि बनायी और भारतीय जन–जीवन की जाँच–पड़ताल की। फलस्वरूप इन हिन्दी उपन्यासों को किंचित अलग आयाम मिला। भारतीय साधारण जन की बदहाली, समाज में स्त्री की विवश स्थिति, औपनिवेशिक सामंती–पूँजीवादी शोषण, उत्पीड़न इत्यादि को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करना और क्रांति की दिशा में सर्वहारा चेतना को विकसित करना मार्क्सवादी उपन्यासकारों का उद्देश्य रहा है। अतः उन्होंने उपन्यासों में अपने देश–समाज की परिस्थितियों को मार्क्सवादी दृष्टि की अनुकूलता में देखने का प्रयास किया।

स्वाभाविक रूप से मार्क्सवादी उपन्यासकारों का सामाजिक यथार्थवाद से बहुत गहरा संबन्ध रहा है। यदि युगीन परिस्थितियों पर ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होगा कि समाज के निम्नवर्गीय परिवारों की हालत दयनीय थी। निरक्षर, गरीब किसान–मजदूर दोहरी गुलामों की जिन्दगी बिता रहे थे। स्त्रियों का तो और भी शोषण हो रहा था। छोटे किसान और मजदूर महाजनी ऋृण से ग्रस्त थे। गाँवों में छोटे–छोटे स्वार्थों की खातिर ग्रामीणों में आपसी फूट थी। वे पतनशील सामंतवादी तत्वों तथा पूँजीवादी व्यवस्था से लड़ नहीं पा रहे थे। मन में आक्रोश था लेकिन सफल नेतृत्व के अभाव में प्रभावशाली नहीं हो पा रहा था। देश की आजादी के बाद जनता की सोच में थोड़ा बदलाव आया, नई चेतना भी अँखुआई। जमींदारी प्रथा के उन्मूलन से देश के छोटे किसानों को कुछ राहत मिली, लेकिन इस परिवर्तन को देश व्यापी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि स्वतंत्रता प्राप्ति के राजनीतिक परिवेश में–क्या सत्ता, क्या विपक्ष–सभी पार्टियों ने जनता को गुमराह किया। कांग्रेस सरकार की विकास योजनाओं में गरीबी मिटाने का संकल्प सिर्फ कागजी संकल्प

ही बना रहा। इन तथ्यों की कथात्मक अभिव्यक्ति मार्क्सवादी कथाकारों ने की है। यशपाल, रांगेय राघव, भैरवप्रसाद गुप्त, नागार्जुन, अमृत राय, भीष्म साहनी आदि जैसे उपन्यासकार मार्क्सवादी विचारधारा से लैस होकर अपने आस–पास के समय में सामजिक विसंगतियों की तलाश करते हैं। राहुल सांकृत्यायन (जय यौधेय), यशपाल (दिव्या) और राजीव सक्सेना (पणिपुत्री सोमा) अतीत में जाकर भी भारतीय समाज–व्यवस्था की जाँच–पड़ताल करते हैं। राहुल सांकृत्यायन ऐसे उपन्यासकार हैं जिन्होंने अपने सभी उपन्यासों में मार्क्सवादी विचार को अभिव्यक्त किया है। राहुल के 'सिंह सेनापति' (1942) और 'जय यौधेय' (1944) जैसे उपन्यासों की हिन्दी में विशेष चर्चा हुई।

राहुल के 'सिंह सेनापति' में 500 ई. पू. बुद्धकालीन गणतंत्रीय समाज–व्यवस्था के स्त्री–पुरूष संबन्ध, धर्म, संस्कृति, कला, भाषा, रीति–रिवाज, सैन्य संगठन यानी उस युग के समाज के समग्र जीवन का लेखा–जोखा ऐतिहासिक भौतिकवाद की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। राहुल जी वर्तमान समाज–व्यावस्था की विषमताओं और विसंगतियों को–और कमोवेश समस्याओं का भी अतीत में जाकर ढूढ़ते हैं। उपन्यास में तक्षशिला और वैशाली के समाजों का चित्रण हुआ है। एक तरह से राजतंत्री और गणतंत्रीय व्यवस्थाओं के स्त्री–पुरूषों का राहुल ने तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। राजतंत्र (तक्षशिला) में नारी जहाँ एक पुरूष के अधीन होती है, कृत्रिम आभूषणों से सज–धजकर केवल भोग्या समझी जाती है। वहीं गण समाज की स्त्रियाँ पुरूषों के बराबर श्रम करती हैं, युद्ध में भाग लेती हैं। राहुल तत्कालीन धार्मिक विचारों को मार्क्सवादी सिद्धांतों के आधार पर स्वीकार करते हैं। हिन्दू धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म की मान्यताओं का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए बौद्ध धर्म को वे प्रगतिशील बताते हैं क्योंकि लोकमत की तरह बौद्ध धर्म ने भी साकारवादी, ईश्वरीय दर्शन का विरोधकर भौतिकवादी विचारों को प्रतिष्ठा दी थी। लेकिन डॉ. रामविलास शर्मा का मंतव्य है कि ध्वस्त होती हुई सामंती, संस्कृति को राहुल जी ऐतिहासिक चित्रण के नाम पर साहित्य में सुरक्षित रखते हैं। राहुल के लिए इतिहास की मूल समस्या है–रक्त शुद्धि। डॉ. शर्मा राहुल को वृन्दावनलाल वर्मा के बरक्स रखकर

अपना निष्कर्ष देते है कि वर्मा जी के उपन्यासों में जहाँ किसान–युवकों की सहज उमंग का वर्णन मिलता है, वहाँ राहुल जी के उपन्यासों में किसी व्यभिचारी महन्त के विलास–स्वप्न ही दिखाई देते हैं। इतना ही नहीं वे राहुल जी में जनवादी दृष्टिकोण का अभाव भी पाते हैं।[79] क्या रामविलास जी चाहते हैं कि इतिहास के तथ्यों को राहुल जी ठुकराकर आज की स्थिति वहाँ भर दें? राहुल के 'सिंह सेनापति' में वर्णित मुक्तप्रेम और रक्त शुद्धि से उन्हें कहीं इसलिए ऐतराज तो नहीं कि है कि ये बातें आज के विचारों के मेल में नहीं? वे उनमें जनवादी दृष्टिकोण का अभाव भी पाते हैं, जबकि जनवादी सोच आधुनिक है। डॉ. शर्मा, राहुल को वृन्दावनलाल वर्मा के बरक्स रखकर लिखते हैं कि ''वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में बुन्देलखण्ड की जनता सजीव हो उठती है। उसकी जातीय विशेषताओं में उसकी रोमांसप्रियता भी शामिल है। वर्मा जी के उपन्यास जहाँ किसान युवकों की सहज उमंग का वर्णन मिलता है वहाँ राहुल जी के उपन्यासों में किसी व्यभिचारी महन्त के विलास–स्वप्न ही दिखाई देते हैं।''[80] ऐसा कहकर वे राहुल के 'व्यक्ति' पर कटाक्ष करते हैं, जो अनावश्यक है। डॉ. शर्मा का राहुल संबन्धी मूल्यांकन नकारात्मक रहा है। उन्होंने गणराज्यों में रक्तशुद्धता के राहुल के सिद्धांत के आधार पर कभी उन्हें नस्लवादी भी प्रमाणित करने की कोशिश की थी जबकि राहुल गणराज्यों में रक्त शुद्धता वाली परंपरागत सोच की बात को गणों में पारस्परिक एकता सद्भाव स्थापित करने के सन्दर्भ में करते हैं। मधुरेश ने लिखा है कि ''इस गण–व्यवस्था के प्रति राहुल सांस्कृत्यायन में एक विशेष प्रकार पूर्वाग्रह अवश्य है। जिसके कारण वे इसे एक सुखी, समृद्ध और समतावादी समाज–व्यवस्था के रूप में प्रतिष्ठा देते हैं, इसके प्रति अपने स्पष्ट मोह के कारण वे राजतंत्र को 'राजुल्ला' कहकर घृणा और उपहास का शिकार बनाते हैं, इतिहास के प्रति एक वस्तुपरक दृष्टिकोण अपना पाने के कारण वे सामंतवाद की ऐतिहासिक विकासशील भूमिका की उपेक्षा करते हैं, लेकिन फिर भी नस्लवाद नहीं कहा जा सकता है।''[81] दरअसल, गणतंत्र और राजतंत्र की बहस राहुल का प्रिय विषय है। वे प्राचीन गणतंत्रों में 'साम्यवादी कम्यून' का स्वरूप देखते प्रतीत होते हैं

और निरंकुश, शोषक, विलासी राजतंत्र के विकल्प के रूप में गण–व्यवस्था के आदर्श रूप को रखते हैं। इससे अधिक वे अतीत को मोड़ भी कैसे सकते थे? उपन्यास के चुंबन–महोत्सव और स्त्रियों के मुक्त व्यवहार जैसे चित्रण को लेकर कुछेक आलोचकों ने आपत्ति जताई है। इस सन्दर्भ में मधुरेश का विचार है कि ''मुनी मोहनी के चुंबन महोत्सव जैसे दृश्यों में मुझे लगता है कि राहुल जी व्यवस्थाओं के वैषम्य को अंकित करने के लिए भले ही कुछ उत्साहातिरेक से काम ले रहे हो, लेकिन उनका आग्रह समाज के सामूहिक उल्लास को अंकित करना है.....खान–पान, रास–रंग और उल्लास–ऊर्जा का यह सामूहिक प्रदर्शन गण–समाज के प्रति राहुल जी के उत्साहातिरेक का ही परिणाम है। इसे राजतंत्र के बंधे हुए भीरू, संकोची और सहमे हुए समाज की स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में ही लिया जाना चाहिए। आचार–विचार और खान–पान का यह खुलापन राहुल की विश्वदृष्टि का ही अंग है।''[82] मधुरेश ने राहुल जी की विश्वदृष्टि को समझने की कोशिश तो जरूर की है लेकिन उनकी राहुल से यह शिकायत है कि वे अपने उपन्यासों में संगठनात्मक तत्वों के प्रति सचेत नहीं है। यद्यपि उनके उपन्यासों में नायक केन्द्र में है लेकिन अन्य चरित्रों की ओर उनकी दृष्टि कम ही जाती है। उन्होंने इतिहास से जो भी पात्र लिए हैं उनकी सुनिर्मित और सुपरिचित छवि पहले से उपलब्ध नहीं है।[83] यानी वे पूरी तरह से कल्पनाजीवी हैं।

'सिंह सेनापति' की परंपरा में 'जय यौधेय' राहुल सांकृत्यायन का दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास है। 'गणतन्त्र बनाम राजतंत्र' की बहस इसमें भी है और विस्तार से है। उपन्यास का समय समुद्रगुप्त से आरम्भ होकर उसके पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तक आता है। इसमें उस समय की राजनीतिक–सामाजिक व्यवस्था का चित्रण हुआ है। उस काल में यौधेय एक शक्तिशाली गणराज्य था जिसका क्षेत्र यमुना–सतलज तथा चंबल–हिमालय के बीच तक फैला था। राहुल जी ने उपन्यास की भूमिका में लिखा है कि ''भारत से विदेशी कुषाणों के शासन को खत्म करने का श्रेय गुप्तवंश, भारशिव वंश को नहीं, यौधेयों को है.. ''[84] एक ऐतिहासिक उपन्यासकार की व्यावहारिक कठिनाइयों पर प्रकाश डालते हुए राहुल

ने लिखा है कि ''ऐतिहासिक उपन्यास में हमें ऐसे समाज और उसके व्यक्तियों का चित्रण करना होता है, जो उसके साथ मनमानी करने की इजाजत नहीं दे सकते। इन पदचिन्हों या ऐतिहासिक अवशेषों के पूरी तौर अध्ययन को यदि अपने लिए दुष्कर समझते हैं तो कौन कहता है आप जरूर ही इस पथ पर कदम रखें?''[85] स्पष्ट है कि राहुल का पूरा जोर ऐतिहासिक तथ्यों की खोज और प्रस्तुति पर है और यही वजह है कि उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में लगभग विलुप्त हो चुके समाज व व्यक्तियों के संघर्ष का चित्रण हुआ है।

रमेश कुन्तल मेघ ने लिखा है कि ''जय यौधेय में भी सामाजिक विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया अवरेखित हुई है। यहाँ भी राजतंत्र के अत्याचार और शोषण, वेश्यावृत्ति और दासता आदि का विवेचन करते हुए उन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद की दृष्टि से गणतंत्र के सामूहिक जीवन की स्वतंत्रता, बंधुतत्व, स्वतंत्र स्त्री–पुरूष संबन्ध तथा वर्गविहीन समाज की आश्यकता उभारी है।''[86] कहना न होगा कि उपरोक्त विचारों की पुष्टि राहुल के लगभग सभी उपन्यासों में हुई है। वे विशेष लक्ष्य से परिचालित होकर इतिहास की सामग्री का उपयोग करते हैं। यही कारण है कि उनमें कलापक्ष गौण हो जाता है। जैसा कि रांगेय राघव ने लिखा है ''राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यासों में देश–काल को भेदकर अमूमन एकाध मार्क्सवादी पात्र होता है। वह ऐसी बातें कर जाता है जो तत्कालीन समाज के चिंतन को आगे व्यक्त नहीं करता वरन् आधुनिक विचारों का प्रतिनिधि करने लगता है। यह उचित नहीं है। लेखक अपने को इतिहास पर लाद देता है।''[87] रांगेय राघव का यह भी कहना है कि राहुल में कलापक्ष की जगह मिलता है केवल पांडित्य। दरअसल, यह स्वाभाविक है कि जब भी किसी रचनाकार के ऊपर विचारधारा हावी रहती है तो उसका कलापक्ष कमजोर होने लगता है। राहुल के अधिकांश उपन्यास नायकों के यात्रावृत्त और आत्मकथा के रूप में ही लिखे गये हैं। इसमें स्थानों और संपर्क में आए व्यक्तियों के साथ–साथ प्रकृति विशेषकर हिमालय और नदियों के सौन्दर्य को अधिक महत्व दिया गया है। मधुरेश ने 'जय यौधेय' की समाज–व्यवस्था का सोवियत संघ

से जोड़कर देखा है। सहकारी खेती का प्रयोग, वापियों, कुल्याओं और कुओं के नव–निर्माण के रूप में सिंचाई के साधनों की सादगी और मितव्ययिता का आग्रह, स्त्री के शारीरिक सौन्दर्य में श्रम की प्रतिष्ठा इत्यादि को उन्हें सोवियत संघ के नवनिर्माण का प्रतिरूप लगता है।[88] राहुल सांकृत्यायन के बारे में यशपाल की टिप्पणी है कि ''राहुल कथा कहकर अपने पाठकों को 'बहलाना' अपना काम न मानकर उन्हें 'समझाना' अपना काम समझते हैं....कहानी के लिए जहाँ तक कल्पना का सवाल है, 'जय यौधेय', 'सिंह सेनापति' और दूसरी अनेक वैचित्र्यपूर्ण कहानियों के लेखक के पास कल्पना का अभाव तो नहीं परन्तु कल्पना को दुलार से सजाने का संतोष और श्रम नहीं। प्रगतिवाद का जोर इतना है कि कहानी अपने लाग–लपेट को संभालकर भावना और संदेश के साथ चल नहीं पाती।''[89] यशपाल के विचारों से असहमत होना कठिन नहीं। राहुल जी के उपन्यासों की यही सबसे बड़ी कमजोरी है कि उन पर प्रगतिवादी विचार हावी हो गया है। फिर भी उनके ऐतिहासिक उपन्यासों का महत्व है क्योंकि उन्होंने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के द्वारा इतिहास की संभावनाओं का द्वार खोला। हिन्दी के अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास–'दिव्या', 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'मुर्दों का टीला' आदि राहुल की ही खोदी हुई नींव पर पुरत्ता बने हैं। 'सिंह सेनापति' का सिंह 'जय यौधेय' का जय, 'विस्मृत यात्री' का नरेन्द्र आदि पात्र मानो राहुल के स्वयं के प्रतिरूप बने देखे जा सकते हैं। उन्होंने स्पष्टतः अतीत के आवरण में समस्याओं का समाधान मार्क्सवादी धरातल पर किया है। राहुल ने अपने उपन्यासों में शोषक–शोषित का संबन्ध, आर्थिक विषमता, वैयक्तिकता की भावना का निषेध, जनशक्ति में विश्वास, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की मान्यता, ईश्वर और धर्म में अविश्वास, बौद्ध एवं चार्वाक दर्शन की मार्क्सवादी व्याख्या इत्यादि को विषय के रूप में रखा है। विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ने लिखा है कि ''गणतन्त्र पर उनके लिखे उपन्यासों (सिंह सेनापति, जय यौधेय आदि) में राहुल जी का ध्यान साम्राज्यवादी राज–व्यवस्था के विकल्प पर था।''[90] वर्तमान व्यवस्था से उत्पन्न आर्थिक विषमताओं के बारे में राहुल का मानना है कि जब तक परिस्थितियों में बदलाव नहीं होगा, तब तक सामाजिक सामंजस्य

स्थापित नहीं हो सकता। इसके लिए जरूरी है कि बहुजन को जागृत करके उनमें एकता बनाई जाय, तभी शोषकों का अन्त अवश्यम्भावी होगा और भूमि पर वस्तुतः स्वर्ग उतरेगा। फिर कोई भूखा न रहेगा न कोई धन वैभव में डूबेगा।[91] राहुल के उपन्यासों के महत्व को दर्शाते हुए परमानन्द श्रीवास्तव ने लिखा है कि ''जिस आधुनिक समाज में भूलने की आदत प्रसादपूर्ण अभ्यास बन चुकी हो उसे मनुष्य के लम्बे संघर्ष की याद दिलाते रहना कितना जरूरी है, यह राहुल की कृतियाँ सबसे अधिक बताती हैं। संघर्ष से अधिक संघर्ष की दिशा को भी।''[92]

यशपाल के 'देशद्रोही' (1943), 'दिव्या' (1945), 'झूठा सच' (दो भाग, 'वतन और देश' 1958 और 'देश का भविष्य' 1960) और 'मेरी तेरी उसकी बात' (1974) उपन्यास विशेष रूप से चर्चित रहे हैं। 'देशद्रोही' यथार्थ और कल्पना के ताने–बाने से बुना ऐसा उपन्यास है जिसमें लेखक ने जन–सामान्य में कम्युनिस्टों की कार्य पद्धति, लक्ष्य के प्रति समर्पण, शोषण के विरूद्ध संघर्ष और कांग्रेस की नीतियों पर कड़ा प्रहार किया है और साथ ही में समाज में व्याप्त धारणाओं तथा भ्रांतियों का निराकरण करने का प्रयास करते हुए सामाजिक परिवर्तन की दिशा का संकेत भी दिया है। 'देशद्रोही' में यशपाल सहज मानवीय आशाओं, आकांक्षाओं, दुर्बलताओं और विश्वासों का सजीव चित्रण करते हैं, तथा परिस्थितियों से विवश, नारी हृदय की मनोदशा का चित्रण करके उसे भावुकता में बहने न देकर, एक तर्क सम्मत परिणति देते हैं।

राजेन्द्र यादव तथा कमलेश्वर जैसे नये कहानीकारों ने उन दिनों में यशपाल के उपन्यासों पर वैसा ही आरोप लगाया था (जैसा खुद यशपाल ने राहुल सांकृत्यायन पर) कि यशपाल अपने उपन्यासों में विचारधारा के नाम पर अप्रामाणिक अनुभवों का संसार रचते है। उनके चरित्र वास्तविक नहीं, विचारों के वाहक कठपुतले हैं जो लेखक के इशारे पर नाचते है।[93] रामविलास शर्मा तथा कुछ अन्य मार्क्सवादी आलोचकों का कहना था कि ''यशपाल की विचारधारा और उनके विलासी मन में द्वन्द्व है। वह स्वछन्द प्रेम की पूँजीवादी धारणा का प्रचार करते हैं। उनके पात्र पार्टी का काम करते हुए इश्क लड़ाया

करते हैं।''[94] स्पष्ट है कि रामविलास जी को यशपाल के कम्युनिस्ट पात्रों का नैतिक पतन स्वीकार नहीं है। इसलिए उनकी नज़र में 'देशद्रोही' उपन्यास केवल रोमांटिक कृति बनकर रह गया है जिसमें 'खन्ना' (कम्युनिस्ट चरित्र) के रोमांसों की प्रधानता है। उनका यह भी मानना है कि जिस वर्ग के लिए खन्ना काम करता है, उस वर्ग का उपन्यास में उतना और वैसा चित्रण नहीं हुआ है जितना खन्ना के हृदय की प्रेम–संबन्धी उथल–पुथल का।[95] खन्ना के जीवन की यह कितनी बड़ी विडंबना है कि 'चन्दा' के प्रेम–संबन्धों की वजह से अपने ही देश में 'देशद्रोही' बन जाता है।

सुरेन्द्र चौधरी ने 'देशद्रोही' के सन्दर्भ में लिखा है कि ''निर्माण की दृष्टि से ऐसा उपन्यास यशपाल ने फिर कभी नहीं लिखा।''[96] रामविलास जी 'देशद्रोही को श्रीकांत की कोटि का सामाजिक उपन्यास मानते है लेकिन डॉ. खन्ना को उपन्यास की सबसे कमजोर कड़ी भी मानते हैं क्योंकि वह बिना जाने ही आध्यात्मिक प्रेम में विश्वास करता है। वह अपनी प्रेमिका (चन्दा) की गोद में सुख लेना चाहता है लेकिन उसके दुष्ट पति से छुटकारा दिलाने के लिए वह कोई प्रयास नहीं करता।[97] वस्तुतः देखा जाय तो यशपाल वर्गहीन और शोषणमुक्त समाज के साथ–साथ स्त्री–पुरूष काम संबन्धों में स्वतंत्रता के भी हिमायती थे। स्त्री–पुरूष के बीच काम संबन्धों को लेकर यशपाल ने अपने उपन्यासों में कुछ ऐसी मान्यताएँ व्यक्त की हैं जिनकी काफी आलोचना हुई है। सामाजिक नैतिकता के बारे में यशपाल ने लिखा है कि ''यदि स्त्री किसी को धोखा देकर अपने हृदय की तृप्ति के लिए घण्टा भर प्रेम करना चाहती है तो वह कुलटा है और यदि वह अपने जीवन, अपनी संतान के जीव–निर्वाह का कोई दूसरा उपाय न देख या समाज के भय से अपना शरीर जन्मभर किसी पुरूष की आवश्यकता पूर्ति के लिए देती है तो वह सती है।''[98] स्पष्ट है कि यशपाल उस भारतीय पितृसत्तात्मक समाज पर प्रश्नचिन्ह लगाते हैं जिसने सदियों से स्त्री जाति को शोषित–पीड़ित बनाए रखा, अपने स्वार्थ के लिए कुलटा या सती बनाता रहा है।

'दिव्या' उपन्यास के माध्यम से यशपाल ने नारी की विवशता को उसके समग्र सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और व्यावहारिक जीवन–सन्दर्भों में उठाया है। 'दिव्या' में पौराणिक पृष्ठभूमि में नारी को रखकर देखते हैं और स्त्री–पुरूष संबंधों पर पुरूष सत्तात्मक और सामंती व्यवस्थाओं के दबाव का जायजा लेते हैं। यशपाल एक उपनिवेश के रूप में डाल दी गई स्त्री का, उसके शोषण का, विरोध करते हैं। विवाह को वे धार्मिक आडम्बर और कर्मकांड के रूप में देखते हैं। बल्कि इसे वे दो स्वतंत्र व्यक्तियों के परस्पर प्रेम, विवेक और समान अधिकार के रूप में देखते हैं। मधुरेश ने ठीक लिखा है कि ''यशपाल दिव्या के रूप में एक ओर यदि पितृसत्ता के वर्चस्व को चुनौती देते हैं, वहीं वे आज के नारीवादी आन्दोलन के सन्दर्भ में देह के माध्यम से मुक्ति की खोज पर प्रश्न चिन्ह लगाते दिखाई देते हैं।''[99] 'दिव्या' में स्त्री अपने सामाजिक सन्दर्भों के साथ प्रस्तुत तो होती है लेकिन वह नियतिवादी दर्शन से बँधी हुई नहीं है। यशपाल के अपने समय के गाँधी–दर्शन सरीखे नैतिक आग्रह भी उसकी प्रतिरोध क्षमता को रोक नहीं पाते। स्त्री–विमर्श की दृष्टि से पौराणिक पात्र होते हुए भी दिव्या 'मृणाल' (त्यागपत्र) और 'शशि' (शेखर : एक जीवनी) से होड़ लेती है। नायिका प्रधान उपन्यास 'दिव्या' में पुराकालीन अथवा इतिहास के भीतर जाकर कुछ संभावनामय तथ्यों को उभारने के लिए यशपाल अतीत में प्रवेश करते हैं। वे राहुल सांकृत्यायान की तरह 'राजतंत्र बनाम लोकतंत्र' की बहस उठाकर लोकतंत्र के सुरक्षित क्षेत्रों की तलाश नहीं करते बल्कि अपने वर्तमान समय की समस्या को अतीत के काल–प्रवाह से जोड़कर प्रस्तुत करने के लिए ऐसा करते हैं। उनका यह अतीत अलग से कोई स्वायत्त काल–खंड नहीं है बल्कि वर्तमान का ही संकेतगर्भी रूप है।[100]

यशपाल 'दिव्या' में वर्ण–व्यवस्था के अन्तर्विरोधों को दिखाते हुए उसका विरोध करते हैं। यशपाल के प्रशंसक आलोचक मधुरेश ने लिखा है कि ''यशपाल की सांस्कृतिक दृष्टि वर्ण–व्यवस्था के विरोध की दृष्टि है। 'दिव्या' में एक ओर यदि वे विस्तारपूर्वक वर्ण–व्यवस्था के अन्तर्विरोधों को उद्‌घाटित करते हैं वहीं बौद्ध धर्म और दर्शन की

नियतिवादी दृष्टि की आलोचना भी करते हैं क्योंकि वह मनुष्य की संघर्ष–क्षमता का अवमूल्यन करती है। वर्ण–व्यवस्था के विरोध के कारण ही वे पितृसत्ता के वर्चस्व पर चोट करते हैं।''[101]

डॉ. रमेश कुन्तल मेघ 'दिव्या' में वैसी आधुनिक समस्याओं का भी साक्षात्कार करते हैं जो दासों तथा नारियों की मुक्ति से विशेष रूप से जुड़ा हुआ है। उन्होंने लिखा है कि ''दिव्या उपन्यास हमे ऐतिहासिकता के सामने ला खड़ा करता है। इसमें भी दासों तथा नारियों की मुक्ति–कथा है। 'दिव्या' ऐतिहासिक तथा समकालीन दोनों ही है। सागल की गण–व्यवस्था भी ऐतिहासिक तथा आधुनिक दोनों ही क्रमों का संयोजक है।''[102] डॉ. मेघ का 'ऐतिहासिक आधुनिकता' से तात्पर्य है ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति के वे चित्र आज भी किसी न किसी रूप में समाज में मौजूद हैं। डॉ. मेघ की राय में 'दिव्या' में राहुल सांकृत्यायन की सांस्कृतिक जीवन–दृष्टि अपनाते हुए यशपाल ने भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' के संपूर्ण जीवन की प्रत्यालोचना की है ताकि भारतीय इतिहास तथा समाज, भारतीय क्रांति और मानवीय संबन्धों की सही समझ विकसित हो सके। मेघ दिव्या को 'अतीत की मोहक उत्तेजक विलास गाथा' मानने के पक्ष में नहीं हैं; (जैसा कि कई आलोचकों ने माना है) 'दिव्या' उपन्यास की विचारधारा को स्पष्ट करते हुए मेघ ने लिखा है कि ''इतिहास में हर समाज के अन्तर्गत उत्थान और पतन की शक्तियाँ वर्ग–संघर्ष तथा वैचारिकी–संघर्ष रूप में टकराती हैं जिनसे समाज का विकास और परिवर्तन द्वन्द्वात्मक ढंग से होता है। चाहे विशाल सामाजिक उथल–पुथल हो चाहे सामूहिक अंतर्विरोध हो, चाहे वैयक्तिक अर्न्तद्वंद्व हो, इन सभी की परख सामाजिक जीवन और कलाकृति में विचारधारा की आँखों से होती है। 'दिव्या' ऐसा ही एक औपन्यासिक इतिहास है।''[103] स्पष्ट है कि यशपाल व्यक्ति और समाज को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखते हैं और मनुष्य के विकासमान जीवन्त और स्रष्टा रूप को परखने के लिए इतिहास का विश्लेषण जरूरी मानते हैं। इससे अतीत का जुड़ाव आज के समय से होता है।

उपन्यास में सामंती समाज और राज–व्यवस्था के अनेक दोषों–कुप्रवृत्तियों का यथार्थ अंकन हुआ है।

डॉ. गोपेश्वर सिंह 'दिव्या' की केन्द्रीय समस्या, समानता, धार्मिकता और आधुनिकता के निरन्तर कशमकश के बीच जीवन के सौन्दर्य और अर्थवत्ता की खोज में देखते हैं। 'दिव्या' के महत्व को बताते हुए वे लिखते हैं ''इसका महत्व मालती, मृणाल आदि स्त्री–चरित्रों की परंपरा को आगे बढ़ाने में है। इसका महत्व धर्मों के परे धरती के यथार्थ को अधिक महत्व देने में है। इसका महत्व सामाजिक यथार्थ की प्रतिष्ठा की दृष्टि से है।''[104] उपन्यास में पृथुसेन सत्वहीन होकर भिक्षु बन जाता है और दिव्या को भिक्षुणी बनने का उपदेश देता है। रूद्रधीर उसे कूलवधू बनाना चाहता है लेकिन 'दिव्या' दोनों को ठुकरा देती है और कलाकार मारिश को स्वीकार करती है जो सहज जीवन जीने का पक्षपाती है। वह संसार को छोड़ने का नहीं भोगने का पक्षपाती हैं। इस तरह यशपाल 'चित्रलेखा' वाले भगवतीचरण वर्मा के निष्कर्ष तक ही पहुँचते हैं।

डॉ. भगवतशरण उपाध्याय 'दिव्या' की भाषा और वाक्य विन्यास में अनेक खामियाँ पाते हैं। 'दिव्या' की भाषा उन्हें सृजनात्मक नहीं लगती, वह उनकी नज़र में पंसारी के रोजनामचे की भाषा है। शब्दों की एक लम्बी सूची बनाते हुए उपाध्याय जी ने यशपाल द्वारा उनके सही प्रयोग पर शंका भी प्रकट की है। इसी तरह वे यशपाल–वर्णित आभूषणों और श्रृंगार प्रसाधनों के उल्लेख का भी उपहास करते हैं।[105] डॉ. रामविलास शर्मा तो यशपाल के एकांगी और दुराग्रह पूर्ण विवेचन के लिए जाने ही जाते हैं, यद्यपि उन्होंने यशपाल की महत्वपूर्ण रचनाओं पर या तो लिखा नहीं फिर उस पर बहुत संक्षिप्त व अधूरी टिप्पणियाँ–भर की हैं। लेकिन 'दिव्या' के सन्दर्भ में उनकी राय है कि ''यशपाल का सबसे प्रतिभाशाली उपन्यास 'दिव्या' है कारण कि यहाँ राजनीति की स्लिप लड़खड़ाती नहीं है।''[106] डॉ. शर्मा को 'दिव्या' प्रभावशाली इसलिए दिखी है क्योंकि यहाँ दिव्या की मुक्ति चार्वाक दर्शन में होती है जो अपने भौतिक विचार में उन्हें मार्क्सवाद के करीब जान पड़ता है। डॉ़ भगवतशरण उपाध्याय की तरह विश्वम्भरनाथ उपाघ्याय को भी यशपाल की भाषा

से शिकायत है। उनकी राय में यशपाल के उपन्यासों की भाषा, उपन्यास की कम, तथ्य कथन की अधिक लगती है।[107]

'झूठा सच' (यशपाल) दो भागों में लिखा गया है। इसमें भारत विभाजन की पूर्वपीठिका, विभाजन की विभीषिका और उसके उत्तर प्रभाव का बहुत विशद चित्र उभरा है। प्रकाशचन्द्र गुप्त की राय में 'झूठा सच' हिन्दी उपन्यास के विकास के क्रम में एक अद्वितीय प्रयास है। प्रेमचन्द की यथार्थवादी परंपरा का अभूतपूर्व विकास इस उपन्यास में हुआ है। पट की विशालता, सामाजिक यथार्थ का मार्मिक अंकन, असंख्य पात्र, कथानक का अविरल प्रवाह, भारत के आधुनिक जीवन की गहरी सूझ और अनुभूति आदि अनेक गुण हमें इस विराट कलाकृति में मिलते हैं''[108] इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए वे यह भी लिखते हैं कि ''हिन्दी उपन्यास के विकास–क्रम में 'झूठा सच' एक नवीन और दुर्लभ मंजिल है। हिन्दी उपन्यास के इतिहास में यह एक आगे बढ़ा हुआ कदम है। प्रेमचन्द की परंपरा का यह उपन्यास नई दिशाओं में प्रसार और परिष्कार है। इस अमूल्य उपलब्धि के लिए हिन्दी संसार लेखक का चिर ऋृणी रहेगा।''[109] गुप्त जी यशपाल को प्रेमचन्द की परंपरा में इसलिए रखते हैं क्योंकि उनके अनुसार यशपाल के यहाँ (झूठा सच में) औपन्यासिक तत्वों का निर्वाह हुआ है तथा आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्ति के भी प्रयास हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा की नज़र 'झूठा सच' के सकारात्मक और नकारातमक दोनों पक्षों पर गई है। 'झूठा सच' के राजनीतिक महत्व को रेखांकित करते हुए डॉ. शर्मा ने लिखा है कि ''वह जनता को देश की प्रतिक्रियावादी शक्तियों का वास्तविक घृणित रूप दिखलाता है, उनसे जनता को सावधान रहना सिखाता है।''[110] यशपाल अपने उपन्यासों में जीवन का केवल निषेधात्मक चित्रण ही नहीं करते और न ही झूठ का पर्दाफाश करके केवल यथार्थ की नग्न अभिव्यक्ति की तीव्र आलोचना मात्र करते हैं बल्कि वे वर्तमान से अलग एक बेहतर जीवन का स्वप्न भी देखते हैं। डॉ. शर्मा ने 'झूठा सच' के सामाजिक महत्व को स्थापित करते हुए लिखा है कि ''इस उपन्यास का सामाजिक महत्व यह है कि

वर्तमान समाज में नारी की पराधीनता, उसकी घुटन और अपमान, व्यक्तिगत संपत्ति की तरह उसके क्रय–विक्रय की जघान्यता को स्पष्ट करता है। इस प्राचीन सांमती बंधनों से मुक्ति पाना कितना कठिन है, नारी किस वीरता से इनके प्रति विद्रोह करती है, स्वयं उसके संस्कार किस तरह उसकी मुक्ति में बाधक होते हैं इस सबका मार्मिक चित्रण उपन्यास में हुआ है।''[111] कहना न होगा कि यह उपन्यास कांग्रेस की अवसरवादी नीतियों का पर्दाफाश करता है। स्वाधीनता के पहले इस नेतृत्व (कांग्रेस) ने क्रांति के डर से समझौते का रास्ता आख्तिार किया जिससे देश का बँटवारा हुआ और इस बँटवारें में हजारों–हजार लोगों की जान गईं और और लाखों ही लोग बेघर हुए। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद बड़ी बहुमत के बावजूद कांग्रेस नेतृत्व वाली सरकार भारतीय जनता की आशाओं–आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर पाई बल्कि उसे अपने झूठे वादों से बहला–फुसलाकर अपना वर्ग–स्वार्थ साधती रहीं। लेकिन डॉ. शर्मा को यशपाल से शिकायतें भी हैं। जैसे–यशपाल 'झूठा सच' में सिखों के पारिवारिक जीवन का चित्रण नहीं किया है। मुसलमानों के घरों का भी चित्रण बहुत छोटे पैमाने पर किया है। वे किसानों और मजदूरों को दूर से ही देखते हैं। मध्यवर्ग के चित्रण में स्वयं यशपाल उस वर्ग के दृष्टिकोण से प्रभावित हो गये हैं और देश में जो सांप्रदायिक दंगे हुए उसके पीछे कार्य करने वाली शक्तियों की पहचान उन्हें नहीं है।[112] भले ही कोई डॉ. शर्मा के विचारों से पूरी तरह से सहमत नहीं भी फिर भी यह बात ठीक लगती है कि 'झूठा सच' में ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय सामंतवाद की प्रतिक्रियावादी भूमिका का वैसा चित्रण नहीं हो पाया है जैसा कि भारतीय पूँजीवाद के ढुलमूल का। कुल मिलाकर 'झूठा सच' को मानव–जीवन के विभिन्न कार्य–व्यापारों, घृणा–प्रेम तथा हिंसा–अहिंसा का ब्यौरा कहा जा सकता है।

नेमिचन्द्र जैन 'झूठा सच' की कलात्मकता को लेकर आश्वस्त नहीं हैं। उनको 'झूठा सच' 'अखबार की कतरनों का विशाल संग्रह' लगता है। उन्होंने लिखा है कि ''इस उपन्यास में संत्रस्त मानवों की आत्मा के आन्तरिक द्वन्द्व, उनके आत्ममंथन और उनकी

भौतिक आध्यात्मिक पीड़ा का अभाव है, इसका विस्तार विश्रृंखल है।''[113] ऐसा लगता है, नेमिचन्द्र जैन कहीं–कहीं यशपाल के जीवन–दर्शन और इतिहास–दृष्टि से सहमत नहीं हो पाते हैं। 'झूठा सच' भारतीय समाज में स्त्री की नियति को बहुत व्यापक रूप में चित्रित करता है। आज स्त्री–सन्दर्भ में विवाह और परिवार जैसी संस्थाओं पर जो पुनर्विचार हो रहा है उस स्त्री–शोषण की झलक यशपाल भी दिखाते हैं। इस उपन्यास में ऐसे कई प्रसंग हैं जहाँ स्त्रियाँ कहीं विवाह के नाम पर तो कहीं परिवार, धर्म और राजनीति के नाम पर पितृसत्तात्मक भारतीय समाज में देह–शुद्धता की धारणा की वजह से सताई जाती हैं। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने लिखा है कि ''राजनीति और यौन–संबन्ध यशपाल के उपन्यासों में परस्पर लिपटे रहते हैं। नारी के स्वतंत्र जीवन के प्रति यशपाल के विचार महत्व रखते हैं।''[114] लेकिन अपने इन्हीं विचारों की वजह से यशपाल आलोचकों के निशाने पर भी रहे हैं। यशपाल का मानना है कि स्त्री की पराधीनता सामंतवादी–पूँजीवादी संबन्धों की वजह से है, इसी ने पुरूष को स्त्री के मुकाबले श्रेष्ठ अधिकार दिये हैं। इन्हीं अधिकारों के कारण यौन–नैतिकता का एक पक्षीय आधार खड़ा हुआ है। खगेन्द्र ठाकुर यशपाल को 'इतिहास से आगे ले जाने वाला रचनाकार' मानते हैं। उन्होंने लिखा है ''यशपाल मनुष्य की वास्तविक मुक्ति के लेखक हैं। इस मनुष्य के दायरे में मजदूर, किसान, महिला, तमाम दलित शोषित–पीड़ित लोग आते हैं। हिन्दी में यथार्थवाद के विकास में यशपाल की विशिष्ट भूमिका रही है। इस माने वे साथ चलने वाले नहीं, इतिहास को आगे ले चलने वाले रचनाकार हैं।''[115] अपने समय की सामाजिक–राजनीतिक स्थितियों को यशपाल 'झूठा–सच' में चित्रित करते हैं। अतीत में जाकर वे परंपरा की जड़ों को बौद्ध–कालीन समाज में भी देखते हैं जिसके फलस्वरूप उन्होंने 'दिव्या' उपन्यास लिखा।

'झूठा सच' के बारे में नित्यानंद तिवारी की राय है कि ''यह उपन्यास इतिहास के अन्तर्जीवन की कथा कहता है लेकिन पात्रों के अन्तर्जीवन में पैठकर उनमें निहित गहराई के आयाम में उतरने की योग्यता भी 'झूठा सच' में कम नहीं है।''[116] लगता है कि तिवारी जी 'झूठा सच' को व्यक्ति के अन्तर्जीवन से अधिक इतिहास के अन्तर्जीवन की कथा

मानते है। सुरेन्द्र चौधरी को 'झूठा सच' में एक अधूरापन नज़र आता है क्योंकि उनके अनुसार उपन्यास के भीतर जो संकटापन्न जीवन और व्यापाररत समाज है वह अपनी परिणति के लिए चीखता रहता है।[117] फिर भी यह उपन्यास महत्व रखता है क्योंकि ''विभाजन की पीड़ा, दो जातियों के घृणापूर्ण पारस्परिक संघर्ष, उच्छेदन, और विस्थापन के बाद की परिस्थिति और जीवन–प्रवाह का ऐसा सांग–चित्रण शायद किसी दूसरी रचना में हिन्दी या हिन्दीत्तर भाषा में नहीं मिलता।''[118] वीरेन्द्र यादव ने 'झूठा सच' को एक औपन्यासिक कृति के साथ–साथ विभाजन के दौर और उसके बाद के भारतीय समाज व राजनीति का कालजयी दस्तावेज मानते हुए लिखा है कि ''यशपाल ने विभाजन की विभीषिका के दौरान स्त्रियों पर हुए अत्याचारों को मात्र कथात्मकता ही नहीं प्रदान की बल्कि इसे स्त्री–परिप्रेक्ष्य भी प्रदान किया। स्त्रियों की दुर्दशा के रोंगटे खड़े कर देने वाले जो चित्र यशपाल ने 'झूठा सच' में प्रस्तुत किये है, वे अविस्मरणीय हैं।''[119] यशपाल ने उपन्यास के पहले भाग (वतन और देश') में लिखा है ''बाँस के सिरे पर एक स्त्री का नंगा शरीर था। स्त्री बाँस के सिरे पर टाँगे फैलाए अटकी हुई थी। दोनों टाँगों पर ताजा खून क्षितिज से झांकते सूर्य की किरणों में चमक रहा था। स्त्री की गर्दन और बाँहें निर्जीव, शिथिल लटकी हुई थीं।''[120] कहना चाहिए कि 'झूठा सच' भारतीय समाज में स्त्री की नियति का सवाल व्यापकता के साथ उठाता है। कनक, श्यामा, बंती सहित अनेक वर्गों की स्त्रियों के माध्यम से वह स्त्री प्रश्नों को अपने केन्द्र में रखकर चलता है। मधुरेश 'झूठा सच' को 'अपने समय का एक प्रामाणिक दस्तावेज' मानते हुए लिखते हैं ''पंजाबियों के विस्थापन की पीड़ा, सगे–संबन्धियों को खाने और उनसे बिछुड़ने का अवसाद, पुनर्वास के लिए उनका कठोर संघर्ष और पहले ब्रिटिश साम्राज्यवाद और बाद में कांग्रेसी सरकार की जन–विरोधी नीतियों के कारण जनता का व्यापक मोहभंग–ये सारी चीजें मिलकर ही 'झूठा सच' को अपने युग की एक प्रतिनिधि और प्रामाणिक रचना बनाती है।''[121] 'झूठा सच' के सन्दर्भ में अरूण कमल की राय है कि ''गोदान यदि भारतीय जीवन के एक अत्यन्त व्यापक परिदृश्य का सारांश था तो 'झूठा सच' भी भारतीय जीवन के एक अत्यन्त

महत्वपूर्ण मोक्ष का साक्षी है।''[122] यशपाल के कथा–साहित्य के सन्दर्भ में शिवदान सिंह चौहान लिखते हैं कि ''अपने उपन्यासों और कहानियों में उन्होंने युग–जीवन और उसके संघर्षों को आकलित करने का प्रयत्न किया है। उनका उद्देश्य वर्तमान समाज की मान्यताओं के खोखलेपन को उघाड़कर सामने रखना रहा, ताकि उस द्वैत और वैषम्य के प्रति सचेत हो सके।''[123]

भारत–विभाजन के मद्दे–नज़र हिन्दी में ज़्यादा रचनाएँ नहीं हुई। विभाजन की त्रासदी को जानने–समझने के लिए 'झूठा सच' का अध्ययन सहायक होता है। उपन्यास की परिधि बड़ी है। उसका पहला खंड (वतन और देश) लाहौर पर केन्द्रित है। और दूसरा खंड (देश का भविष्य) जालंधर और दिल्ली पर। उपन्यास की केन्द्रीयता को और पठनीयता को भी बेहद लम्बा (और उबाऊ) मध्यवर्गीय 'प्रेम वर्णन' वंचित करता है।

स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यासकारों में नागार्जुन ऐसे पहले उपन्यासकार हैं जिनके उपन्यासों की कथावस्तु ग्राम्य–जीवन पर केन्द्रित है। उन उपन्यासों में ग्रामीण जीवन, आस्था, विश्वास और परिवर्तित अर्थव्यवस्था का रेखांकन हुआ है। नागार्जुन को प्रेमचन्द की परंपरा की कड़ी के रूप में देखा जाता है। बताया जाता है कि उन्होंने प्रेमचन्द के मोहभंग के बरक्स ग्रामीण चेतना को एक नया जीवन दिया। प्रेमचन्द–युगीन पराधीन ग्रामीण जीवन में तत्कालीन सामाजिक–राजनीतिक कारणों से जो हलचल थी और एक बहाव था। वह अपना मार्ग निर्धारित नहीं कर सका था, लेकिन नागार्जुन के समय में प्रगतिवादी आग्रह की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। 'रतिनाथ की चाची' से लेकर 'वरूण के बेटे' तक में वर्गीय संघर्ष के विभिन्न रूपों को देखा जा सकता है। उनमें समाजवादी विचारों की अनगूँज व्यावहारिक स्तर पर सुनाई देती हैं। उनके सभी उपन्यासों में मिथिला के गरीब किसानों और मजदूरों का चित्रण हुआ है। ग्रामीण जीवन के खान–पान, रीति–रिवाज, आस्था–विश्वास इत्यादि के वर्णनों से कथावस्तु जीवन्त हो उठी है।

मैनेजर पाण्डेय ने ठीक लिखा है कि ''नागार्जुन उन लोगों के हमदर्द और पक्षधर हैं जिन्हें भारतीय समाज की शक्तिशाली सत्ताएँ दबाती हैं, उनका शोषण और दमन करती हैं। नागार्जुन की यह पक्षधरता उनकी कविताओं में है और उपन्यासों में भी।''[124] 'रतिनाथ की चाची' (1948) नागार्जुन का पहला उपन्यास था जो अपनी कथा–मार्मिकता, यथार्थ–बोध, सामाजिक चेतना तथा कथा–भाषा की सर्जनात्मकता के कारण चर्चित रहा। मिथिला के ब्राह्मण समाज की 'गौरी' नामक विधवा स्त्री की यातना की दास्तान को उपन्यास का केन्द्रीय कथ्य बनाया गया है। प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों की यथार्थवादी परंपरा में नागार्जुन सबसे आगे हैं। मोटे तौर पर उनके उपन्यासों का विषय–भारतीय गाँव की शोषण–युक्त जिन्दगी। यह शोषण दलित और स्त्रियों पर और भी भयानक और क्रूर हो जाता है। 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास में विधवा गौरी की यातना और संत्रास का मूल कारण–ब्राह्मण समाज की मानसिकता, उसके रीति–रिवाज, उसकी परंपराएँ, प्रथाएँ और रूढ़ियाँ है। उपन्यास में स्त्री पात्रों द्वारा पुरोहितवाद के धार्मिक पाखण्डों की तीखी भर्त्सना की गई है। इसमें विधवा गौरी की यातना के साथ–साथ काशी की विधवाओं के जीवन के भी ब्यौरे हैं। (प्रसाद के उपन्यास 'कंकाल' से लेकर दीपा मेहता की फिल्म 'वाटर' तक में काशाी की विधवाओं की धर्म–द्वारा शोषित स्त्रियों और विधवाओं की यातनापूर्ण जिन्दगी का चित्रण होता रहा है।)

दरअसल, प्रेमचन्द युग में जहाँ विधवा–समस्या को आदर्शवादी ढंग से सुलझाने का प्रयास किया था। वहीं नागार्जुन ने 'रतिनाथ की चाची' में समाज के कुलीन वर्ग के अत्याचारों और सामन्ती–पितृसत्तात्मक व्यवस्था के दमनमूलक स्वरूप पर चोट करते हुए विधवा 'गौरी' के गर्भपात को एक विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया है। 'गौरी' की कहानी उन हजारों विधवाओं की यातना की दर्दनाक कहानी है जो सामाजिक नियमों, पितृसत्तात्मक समाज के अत्याचारों से पीड़ित है। 'रतिनाथ की चाची' का कथा–क्षेत्र बिहार के गाँव शुंभकरपुर से लेकर मधुबनी, दरभंगा, पटना तथा कलकत्ता के शहरी जीवन को छूता है। छूआ–छूत, भोज, जादू–टोने, अनेक धार्मिक कुप्रथाएँ, अनमेल–विवाह, बाढ़

और जमींदार के अत्याचार के साथ–साथ वहाँ के (शुंभकरपुर) ग्रामीणों के रहन–सहन, रीति–रिवाज, वेशभूषा, स्थानीय शब्दों का प्रयोग, प्राकृतिक वातावरण, खान–पान इत्यादि को भी उपन्यासकार ने सजीवता से चित्रित किया है। विजयमोहन सिंह की राय में 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास अपनी ढीली–ढाली औपन्यासिक संरचना तथा प्रायः सपाट–शिल्प के बावजूद हिन्दी का ऐसा पहला उपन्यास है जो ग्राम्य–समाज को पूरी तन्मयता से रेखांकित करता है। वह मूलतः नैतिक प्रश्न उठाने वाला उपन्यास है।[125]

नागार्जुन का 'बलचनमा' (1952) उपन्यास आजादी के तुरन्त बाद जमींदार और किसानों के बीच बनते–बिगड़ते संबन्ध, निरीह खेतिहर मजदूर और भूमिहीन किसानों पर होने वाले जमींदारी अत्याचार, बर्बरता, सरकारी अफसरों और पुलिस की भ्रष्टाचारिता, कांग्रेसी नेताओं की वर्गीय पक्षधरता, अहिंसात्मक आन्दोलन की क्रमशः विफलता, किसानों की समस्याओं के प्रति स्वदेशी सरकार की उपेक्षा, किसान–मजदूर और जमींदारों के बीच होने वाले वर्ग–संघर्ष का चित्र प्रस्तुत करता है। प्रेमचन्द के 'गोदान' का होरी तो अपने जीवन–समर में पराजित होता गया लेकिन उसकी अगली पीढ़ी को कई आलोचकों ने बलचनमा के रूप में देखा है जो दलित–शोषित किसानों को संगठित करके उनका नेतृत्व करता है। बलचनमा बचपन से ही जमींदारों के शोषण का भुक्तभोगी रहा है। उसका संघर्ष केवल जमींदारों से ही नहीं है बल्कि सामंती मान्यताओं तथा पण्डो–पुरोहितों द्वारा फैलाए जाने वाले आडम्बरों से भी रहा है। कुँवरपाल सिंह ने लिखा है नागार्जुन का 'बलचनमा' धैर्य और आस्था के साथ बिना रूके मंजिल तक पहुँचने का संदेश देता है। 'गोदान' के बाद 'बलचनमा' हिन्दी का प्रथम उपन्यास है जिसने स्वातंत्र्योत्तर भारतीय ग्राम्य–व्यवस्था पर गम्भीर दृष्टि से विचार किया है।[126] बलचनमा प्रेमचन्द के होरी की तरह किसान है किन्तु वह होरी की तरह पस्त, भाग्यवादी और निराश न होकर संघर्षशील चरित्र है। यह दूसरी बात है कि प्रतिपक्ष इतना सशक्त है कि उसका विद्रोह सफल नहीं हो पाता और वह संघर्ष करते हुए मारा जाता है। होरी जीवन में विस्थापित होता और टूटता है लेकिन बलचनमा नये निर्माण के लिए क्रांति करता है। बलचनमा की इस क्रांति

के मूल में उसकी व्यक्तिगत और सामाजिक परिस्थितियाँ अधिक सहायक हैं। जीवन की पहली घटना उसे याद रहती है। बलचनमा के माध्यम से नागार्जुन अपने समय के यथार्थ को बड़ी ही सूक्ष्मता से पकड़ते हैं और सामंती–पूँजीवादी शक्तियों का प्रतिरोध करते हैं।

शिवकुमार मिश्र ने लिखा है कि ''नागार्जुन प्रेमचन्द के बाद के पहले कथाकार हैं जिनकी कृतियों में ग्रामीण–जीवन का विशदता से अंकन हुआ है। उन्होंने जितनी गहराई से ग्रामीण जीवन के यथार्थ को, मिथिला की हरी–भूमि पर चलने वाले वर्ग–संघर्ष को, सतह पर उतराती हुई वर्ग–विषमता को मूर्त करती, उसका समसामयिक कृतियों प्रायः अभाव–सा है।''[127] ज्ञातव्य है कि प्रेमचन्द के बाद हिन्दी कथा–साहित्य में ग्रामीण–जीवन का चित्रण लगभग नदारद हो गया था। प्रेमचन्द और नागार्जुन के बीच में लगभग बारह साल का अन्तर है और यह आश्चर्य की बात है कि इस बीच में एक भी उपन्यासकार ने ग्राम्य–जीवन को अपने उपन्यास का विषय नहीं बनाया। शिवकुमार मिश्र की नागार्जुन के संबन्ध में टिप्पणी है कि ''उनकी रचनाओं में अवश्य भारतीय ग्राम्य–जीवन का वह वृत्त विशेष रूप से उभरा है जो जाना–पहचाना था और जिसके वे अंग थे। किन्तु उनका कोई भी उपन्यास उठा लिया जाय, उसे उपन्यास के भीतर से कोई अंचल–विशेष नहीं, वह मनुष्य ही अपने सुख–दुःख की संपूर्ण गाथा तथा अपनी लड़ाकू चेतना से हमारी पहचान करायेगा जो सदियों से सामंतवादी शिकंजे को छिन्न–भिन्न करने के लिए दरभंगा जिले के गाँवों में ही नहीं, समूचे देश के गाँवों और शहरों में संघर्ष कर रहा है, हार रहा है, जीत रहा है।''[128] यानी, यह संघर्ष और लड़ाई बिल्कुल नयी नहीं है, इसके मूल में सदियों पुराना सामंतवादी शोषण का दर्द है। आज संघर्ष करने वालों के पास मार्क्सवादी चेतना के औजार हैं। यानी, वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो गया है। सुरेन्द्र चौधरी का विचार है कि 'बलचनमा' में नाटकीयता तो नहीं है लेकिन समकालीन जीवन का एक अत्यन्त तत्कालिक रंग अवश्य है।[129] 'बलचनमा' देश की गुलामी के अन्त के पश्चात् का उपन्यास है और वह समय जमींदारी प्रथा के पतन और पूँजीवाद के आगमन का समय है, इसलिए उपन्यास में अपने युग की अनगूँज भी है। नेमिचन्द्र जैन ने लिखा है कि

''प्रेमचन्द के बाद से देहातों का जीवन हिन्दी उपन्यासों से लगभग गायब हो गया था। पर 'बलचनमा' में देहाती जीवन के उस वर्ग को छुआ गया है जिसे प्रेमचन्द भी करीब–करीब छोड़ गये थे।''[130] नेमिचन्द्र जैन के विचार से 'बलचनमा' में देहाती–राजनीति का चित्रण तो हुआ है लेकिन उसमें मानवीय तत्व संभवतः अपेक्षाकृत अधिक सशक्त रूप में है। 'बलचनमा' उस व्यक्ति की कथा है जो एक अर्द्धदास–खेतिहर मजदूर जीवन की टक्करें खाते–खाते राजनीतिक कार्यकर्ता बनता है और एक साधारण इन्सान के रूप में आत्मसजग होने और अपना भविष्य बनाने में स्वयं प्रवृत्त होता है। सुराजी बाबुओं की क्षुद्रता, स्वार्थपरता और ढोंग के एकांगी चित्रण के बावजूद 'बलचनमा' में सहज घनिष्ट अनुभूति की आत्मीयता अवश्य है जो उसकी राजनीति को सर्वथा अविश्वसनीय नहीं बनने देती।[131] यह नागार्जुन की पैनी अन्तर्दृष्टि है कि का ही परिणाम ही है 'बलचनमा' एक सशक्त चरित्र बन गया है। नागार्जुन स्वयं भी किसान आन्दोलनों से जुड़े हुए थे। फलतः उनकी रचनाओं में उसका सफलतापूर्वक अंकन हुआ है।

मधुरेश ने लिखा है कि ''नागार्जुन साधाराण जनता के परिवेश के बीच से ही सघर्ष के मुद्दे को उठाते हैं। ऐसा नहीं है कि उनमें आरोपित आशावाद है ही नहीं। नागार्जुन क्षेत्रीय संघर्ष को महत्व देने वाले लेखक हैं, इसी कारण उनके पात्रों का मार्क्सवाद किताबी से अधिक व्यावहारिक जीवन की खराद पर चढ़कर चमका और विकसित हुआ है।''[132] प्रकाशचन्द्र गुप्त भी नागार्जुन की प्रेरणा के मूल में उनके जीवन के गहरे अनुभवों की शक्ति को देखते हैं। उन्होंने लिखा है ''उनके कठोर अनुभवों की ज्वाला में तपकर उनकी प्रतिभा सोने के समान चमकी है। नागार्जुन की प्रेरणा शिल्प के कौशल से नहीं वरन् जीवन अनुभवों की गहराई और रिक्तता से शक्ति पाती है। उनकी साहित्यिकता का यही आधार है।''[133] वीरेन्द्र यादव ने 'बलचनमा' की नियति और यातना को भारतीय समाज की वर्णाश्रमी सामंती व्यवस्था में जी रहे हर दलित व पिछड़े की यातना के रूप में देखा है।[134] इस व्यवस्था की जड़ें बहुत ही गहरी हैं, जिसको काटते हुए बलचनमा मारा जाता है।

l UnHk xUFk&l phh

1. साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद – बच्चन सिंह, पृ. 05
2. देवकीनन्दन खत्री (मोनोग्राफ) – मधुरेश, (साहित्य अकादमी नई दिल्ली, सं. 2009) पृ. 17
3. हिन्दी उपन्यास का विकास – मधुरेश, पृ. 23
4. वही, पृ. 23
5. अठारह उपन्यास –राजेन्द्र यादव (अक्षर प्रकाशन, प्रा. लि. नई दिल्ली, प्र. सं. 1981) पृ. 25
6. वही, पृ. 32
7. वही, पृ. 38
8. आलोचना का जनपक्ष – चन्द्रबली सिंह (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं. 2003) पृ. 87
9. दे. हिन्दी उपन्यास जनवादी परंपरा – संपा. कुँवरपाल सिंह व अजय बिसरिया (नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली सं. 2004) में प्रदीप सक्सेना का संकलित लेख पृ. 20
10. वही, पृ. 23
11. वही, पृ. 29
12. वही, पृ. 40
13. वही, पृ. 42
14. प्रेमचन्द और उनका युग – रामविलास शर्मा, भूमिका (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली छात्र सं. 1993)
15. वही, पृ. 96
16. गोदान–प्रेमचन्द (सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, सं. 1980) पृ. 193
17. प्रेमचन्द और उनका य्रुग, पृ. 107
18. उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता – वीरेन्द्र यादव (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं. 2008) पृ. 34
19. गोदान – प्रेमचन्द, पृ. 108
20. उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, पृ. 38
21. दे. साखी, अंक 18–19, अक्टूबर–2008, मार्च–2009, मीनाक्षी मुखर्जी का लेख 'गोदान : कल्पना और यथार्थ, अनु. विनोद तिवारी, पृ. 181

22.प्रेमचन्द और भारतीय समाज – नामवर सिंह, संपा. डॉ. आशीष त्रिपाठी (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं. 2010) पृ. 153

23.नया हिन्दी साहित्य : एक भूमिका – प्रकाशचन्द्र गुप्त, पृ. 15

24.प्रेमचन्द परिचर्चा – संपा. कल्याण सिंह लोढ़ा व रामनाथ तिवारी (लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद सं. 1979–80) पृ. 01

25. वही, पृ. 37

26. मैनेजर पाण्डेय : संकलित निबंध – मैनेजर पाण्डेय (नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली, प्र. सं. 2008) पृ. 122

27. प्रेमचन्द परिचर्चा, पृ. 03

28.शताब्दी के ढलते वर्ष में – निर्मल वर्मा (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं. 1995) पृ. 208

29.उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, पृ. 25 पर उद्धृत

30.दे. साखी, अंक 18–19, अक्टूबर–2008 मार्च–2009, पी. सी. जोशी का लेख 'भारतीय साहित्य में हाशिए का समाज', अनु. आभा गुप्ता, पृ. 157

31.वही, पृ. 160

32.दे. वही, खगेन्द्र ठाकुर का लेख 'गोदान की विचारधारा' पृ. 232

33.मैला आँचल का महत्व – संपा. मधुरेश (सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय सं. 2008) पृ. 16

34. सुनीता – जैनेन्द्र कुमार (उद्योगशाला प्रेस, दिल्ली, सं. 1975) पृ. 17

35.हिन्दी उपन्यास का विकास, पृ. 71

36.आस्था और सौन्दर्य – डॉ. रामविलास शर्मा, (राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, सं. 1990) पृ. 121

37. दे. इन्द्रप्रस्थ भारती, अप्रैल–सितम्बर 2005, अंक 2–3, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का लेख 'जैनेन्द्र–पुनर्मूल्यांकन की पेशकश' पृ. 299–300

38.दे. वही, डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी का लेख 'कथा–साहित्य के स्तंभ रचनाकार थे जैनेन्द्र' पृ. 194

39.मैनेजर पाण्डेय संकलित निबंध, पृ. 135

40.दे. इन्द्रप्रस्थ भारती, अप्रैल–सितम्बर 2005, भीष्म साहनी का लेख 'जैनेन्द्र जी की देन का अपना महत्व है' पृ. 53

41.त्यागपत्र – जैनेन्द्र (पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1977) पृ. 63

42.उपन्यास का पुनर्जन्म – परमानंद श्रीवास्तव (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1995) पृ. 40

43.इन्द्रप्रस्थ भारती, अप्रैल–सितम्बर 2005, डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी का लेख 'कथा–साहित्य के स्तम्भ रचनाकार थे जैनेन्द्र' पृ. 194

44.दे. पूर्वग्रह, अंक 72, जनवरी–फरवरी 1986, पृ. 37

45.उपन्यास का विकास, पृ. 72

46.अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन, (अक्षर प्रकाशन, प्रा. लि. दिल्ली) पृ. 97

47.वही, पृ. 103

48.उपन्यास का पुनर्जन्म, पृ. 48 पर उद्धृत

49.शेखर : एक जीवनी, भाग–एक (भूमिका) – अज्ञेय (सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, सं. 2004) पृ. 07

50.शेखर : एक जीवनी, भाग–दो – अज्ञेय (सरस्वती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2004) पृ. 174

51.शेखर : एक जीवनी : मूल्यांकन – गोपाल राय (अनुपम प्रकाशन, पटना पंचम सं. 1997) पृ. 17

52.उपन्यास का समाजशास्त्र –(संपा. गरिमा श्रीवास्तव) में संकलित विजयमाहन सिंह का लेख 'शेखर : एक जीवनी' , संजय प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2006, पृ. 205

53.आधुनिक साहित्य – नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ. 219

54.हिन्दी उपन्यास का विकास, पृ. 84

55.दे. आलोचना प्रकाशचन्द्र गुप्त का लेख 'यशपाल के उपन्यास' पृ. 83

56.शेखर : एक जीवनी का महत्व – संपा. परमानन्द श्रीवास्तव (सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय सं. 2005) पृ. 146

57.अधूरे साक्षात्कार – नेमिचन्द्र जैन पृ. 21

58.शेखर : एक जीवनी का महत्व, पृ. 134

59.शेखर : एक जीवनी, भाग–दो (सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, दिल्ली सं. 2004)

60.शेखर : एक जीवनी का महत्व, पृ. 125

61. शेखर : एक जीवनी, पृ. 135

62. साहित्य की पहचान – नामवर सिंह, संपा. आशीष त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2012, पृ. 167

63.उपन्यास का समाजशास्त्र – (संपा. गरिमा श्रीवास्तव) में संकलित भगवान सिंह का लेख, पृ. 189

64.शांति निकेतन के शिवालिक – सपां. शिवप्रसाद सिंह (भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, प्र. सं. 1967) पृ. 255–266

65.दे. आलोचना, सहस्राब्दी अंक 28, जनवरी–मार्च 2008, में नामवर सिंह का लेख 'पुनर्नवता की प्रतिमूर्ति' पृ. 10

66.वही, पृ. 10

67.बाणभट्ट की आत्मकथा – हजारी प्रसाद द्विवेदी (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाचवाँ सं. 1990) पृ. 234

68.शांतिनिकेतन के शिवालिक, पृ. 280

69.बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ. 142

70.हिन्दी उपन्यास के सौ बरस – संपा. रामदरश मिश्र (गिरनार प्रकाशन, पिलानीगंज मतेसानर, गुजरात) पृ. 375

71.दे. आलोचना सहस्राब्दी अंक 28, जनवरी–मार्च 2008, में नन्दकिशोर नवल का संकलित लेख 'बाणभट्ट की आत्मकथा : स्वछन्द चेतना का स्मारक, पृ. 77

72.दे. वसुधा, अंक 10, फरवरी 1958, में प्रकाशचन्द्र गुप्त का लेख 'आज का हिन्दी उपन्यास' पृ. 18

73. शांतिनिकेतन के शिवालिक, पृ. 282

74.आधुनिक हिन्दी उपन्यास – संपा. भीष्म साहनी व अन्य (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं. 1980) पृ. 362

75.उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा – परमानंद श्रीवास्तव, पृ. 101

76.बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ. 233–234

77.वही, पृ. 334

78.प्रगतिशील वसुधा–91, अप्रैल–जून 2012, में गजेन्द्र पाठक का लेख 'सोने के बालू में बाणभट्ट की तलाश' पृ. 75

79.मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य – रामविलास शर्मा, पृ. 172–73

80.वही, पृ. 173

81.राहुल का कथा कर्म – मधुरेश, पृ. 62

82.वही, पृ. 60

83.वही, पृ. 72

84.जय यौधेय (भूमिका) – राहुल सांकृत्यायन, पृ. 01

85. दे. आलोचना, अक्टूबर 1954, में राहुल सांकृत्यायन का संकलित लेख, पृ. 170

86.क्रांतिकारी यशपाल : एक समर्पित व्यक्तित्व –संपा. मधुरेश, पृ. 102

87.राहुल का कथा कर्म, पृ. 73

88.हिन्दी उपन्यास का विकास, पृ. 118

89.राहुल का कथा कर्म, पृ. 63

90.मनन और मूल्यांकन – विश्वम्भरनाथ उपाध्याय व मजुल उपाध्याय (आराधना बदर्स, कानपुर) पृ. 35

91.विस्मृत यात्री – राहुल सांकृत्यायन, पृ. 370 तथा 375

92.अंधेरे कुएँ से आवाज – परमानन्द श्रीवास्तव (मेधा बुक्स, दिल्ली, प्र. सं. 2005) पृ. 34

93.क्रांतिकारी यशपाल : एक समर्पित व्यक्तित्व, पृ. 79

94.क्रांतिकारी यशपाल : एक समर्पित व्यक्तित्व, पृ 79

95.कथा विवेचन और गद्य शिल्प – डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 49

96.क्रांतिकारी यशपाल : एक समर्पित व्यक्तित्व, पृ. 60

97.कथा विवेचन और गद्य शिल्प, पृ. 50

98.चक्कर क्लब – यशपाल, पृ. 89

99.यशपाल : रचनात्मक पुनर्वास की एक कोशिश – मधुरेश, पृ. 329

100. दिव्या का महत्व – मधुरेश (सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय सं. 2008) पृ. 135

101. यशपाल : रचनात्मक पुनर्वास की एक कोशिश, पृ. 328

102. क्रांतिकारी यशपाल : एक समर्पित व्यक्तित्व, पृ. 108

103. वही, पृ. 101

104. वही, पृ. 108

105. साहित्य से संवाद – गोपेश्वर सिंह (मेघा बुक्स, नवीन शहदरा, दिल्ली, पृ. 169 तथा 176

106. दिव्या का महत्व, पृ. 34

107. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ – डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 118

108. क्रांतिकारी यशपाल : एक समर्पित व्यक्तित्व, पृ. 85

109. वही, पृ. 76

110. वही, पृ. 77

111. कथा विवेचन और गद्य शिल्प, पृ. 75

112. वही, पृ. 76

113. वही, पृ. 77

114. हिन्दी वार्षिकी – नेमिचन्द्र जैन, पृ. 27

115. क्रांतिकारी यशपाल : एक समर्पित व्यक्तित्व, पृ. 71

116. यशपाल : पुनर्मूल्यांकन – संपा. कुँवरपाल सिंह (शिल्पायन प्रकाशन, नई दिल्ली) में खगेन्द्र ठाकुर का लेख, पृ. 121

117. वही, पृ. 139

118. क्रांतिकारी यशपाल : एक समर्पित व्यक्तित्व, पृ. 61

119. क्रांतिकारी यशपाल : एक समर्पित व्यक्तित्व, पृ. 61

120. दिव्या का महत्व, पृ. 64

121. झूठा–सच, भाग : एक – यशपाल, (विप्लव प्रकाशन, लखनऊ पंचम सं. 1975) पृ. 481

122. दे. भारतीय लेखक, अंक 5–6 अक्टूबर 2003, मार्च 2004 (का यशपाल विशेषांक) में मधुरेश का लेख 'झूठा सच : उपन्यास में महाकाव्य, पृ. 286

123. गोलमेज – अरूण कमल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2009, पृ. 157

124. आलोचना के मान – शिवदान सिंह चौहान, संपा. विष्णुचन्द्र शर्मा, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं. 1954, पृ. 113

125. मैनेजर पाण्डेय : संकलित निबंध, पृ. 143

126. दे. हंस जनवरी 1999 में विजयमोहन सिंह का लेख 'नागार्जुन के उपन्यास : ग्राम जीवन के अर्ध–विराम' पृ. 23

127. हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना – कुँवरपाल सिंह (पांडुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1976) पृ. 161

128. हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष – संपा. डॉ. रामदरश मिश्र, पृ. 69

129. अलोचना, जुलाई–सितम्बर, अक्टूबर–दिसम्बर, 1980, पृ. 30

130. दे. गूँज, अंक 12, अप्रैल 2010, में सुरेन्द्र चौधरी का लेख 'समकालीन यथार्थवाद और रेणु' पृ. 13

131. अधूरे साक्षत्कार – नेमिचन्द्र जैन, पृ. 160

132. हिन्दी उपन्यास का विकास–मधुरेश पृ. 126

133. आज का हिन्दी साहित्य–प्रकाशचन्द्र गुप्त पृ. 49,

134. उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता–वीरेन्द्र यादव, पृ. 117,

pkFkk v/;k; %

fgUnh d fof'k"V miU;kl vkj ekDloknh vkykpuk&nk

'मुर्दो का टीला' (1948) रांगेय राघव का ऐतिहासिक उपन्यास है। मोहनजोदड़ों की संस्कृति और सभ्यता को इस उपन्यास की कथा का आधार बनाया गया है। रांगेय राघव ने तटस्थ भाव से द्रविण–सभ्यता की कहानी कही है। प्रकारान्तर से इसमें दास–प्रथा के स्वरूप और गणतन्त्रात्मक शासन की समस्याओं का चित्रण हुआ है। उपन्यास की भूमिका में लेखक ने लिखा है कि ''मैने विशेष ध्यान रखा है कि उस काल के अनुसार ही सबका वर्णन किया जाये।.....खेद है कि आपको यहाँ दास, दासों की–सी बात करता मिलेगा। उसकी परिस्थितियाँ प्रगट हैं। वह उस काल के दार्शनिकों की–सी शिक्षित बहस नहीं कर सकता, न वह वैज्ञानिक भौतिकवाद ही मानता है न द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक व्याख्या ही। मैं समझता हूँ इतिहास को इतिहास की सफल झलक करके, देना ठीक है, न कि अपने आपको पात्र बनाकर किये–किराये पर पानी फेर देना।''[1] रांगेय राघव की प्रसिद्ध पुस्तक 'प्राचीन भारतीय इतिहास और परंपरा' की समीक्षा करते हुए डॉ. भगवतशरण उपाध्याय ने उन पर इतिहास को द्रविण दृष्टि से देखने का, इतिहास के स्थान पर परंपरा को प्रतिष्ठित करने और पुनरूत्थानवादी होने का दोषारोपण किया था।[2] मधुरेश, उपाध्याय जी के इन सारे आरोपों को निराधार मानते हैं। उनके विचार से ये सारे आरोप रांगेय राघव के साहित्य के सम्यक् और गम्भीर अध्ययन–विश्लेषण के आधार पर न होकर उसके अंश–मात्र को ही लेकर है। भगवतशरण जी से गलत सन्दर्भों में मनमानी व्याख्या हुई है और उनके मतभेदों का आधार, उतना वस्तुपरक नहीं है जितना कि व्यक्तिगत राग–द्वेष और अहं से प्रेरित।[3] डॉ. भगवतशरण के लिए 'मुर्दों का टीला' का कोई महत्व नहीं है क्योंकि वेणी और योगिराज पर उनकी (भगवतशरण उपध्याय की) उसी काल से संबन्धित कहानी की स्पष्ट छाया है।[4]

'मुर्दों का टीला' के संन्दर्भ में कुँवरपाल सिंह की टिप्पणी है कि ''तत्कालीन गणतन्त्रात्मक शासन–प्रणाली का लेखक ने ऐतिहासिक–भौतिकवादी दृष्टि से विश्लेषण किया है, जिसमें कल्पना का सहारा लिया गया है। लेकिन उपन्यास में कोरी कल्पना ही नहीं है, यथार्थ का अद्‌भुत मिश्रण है। मोहनजोदड़ों के गणतंत्रात्मक शासन में निम्नवर्ग तथा उच्च वर्ग के लोगों की स्वतन्त्रता, नारी स्वातंत्र्य, सामूहिक क्रिया–कलाप आदि के साथ लेखक ने द्रविणों द्वारा की जाने वाली मूर्ति–पूजा, रीति–नीति, गणतन्त्रात्मक चुनाव–प्रणाली, गण–सभा, कुलीन और दासी के पारस्परिक संबन्धों, नारी की स्थिति, धन–संचय, एकतन्त्रीय शासन की स्थापना, दैवी प्रकोप, महानगर के वैभव और विलास आदि का चित्रण तत्कालीन ऐतिहासिक परिवेश में किया है।''[5] लेखक की दृष्टि ऐतिहासिक–भौतिकवादी (मार्क्सवादी) है। वह कुलीनता के दंभ पर प्रहार करता है और नारी–स्वातंत्र्य तथा मानव समानता का पक्ष लेता है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने रांगेय राघव पर नस्लवादी होने का आरोप लगाया था जिसका प्रतिवाद मधुरेश करते हैं। उन्होंने लिखा है कि ''रांगेय राघव इतिहास को न नस्लवादी दृष्टि से देखते हैं और न ही द्रविड़ दृष्टि से। लेकिन वह इतिहास को राष्ट्रीय–दृष्टि से अवश्य देखते हैं जिसमें जनता की प्रतिरोध चेतना पर वह पर्याप्त बल देते हैं।''[6] रांगेय राघव का अतिलेखन उनके मूल्यांकन में सदैव बाधा बनता रहा। शायद यही कारण है कि हिन्दी आलोचकों ने प्रायः उनकी उपेक्षा की। जहाँ दूसरे लेखकों की साधारण कृतियों पर भी बहुत कुछ लिखा गया वहीं रांगेय राघव की श्रेष्ठ कृतियों को उपेक्षित किया गया है। 'मुर्दों का टीला' के सन्दर्भ में रमेशकुन्तल मेघ लिखते हैं कि ''यहाँ प्रेमचन्द के ग्राम जगत से या यशपाल के शहरी उत्थान–पतन से एक भिन्न संसार है जिसमें क्रूरता, नीचता, नृशंसता है जिसकी वजह से मोहनजोदड़ों को मदिरा और स्त्री, स्वर्ग और अधिकार के दम्भ ने अंधा कर दिया है। एक भरी–पूरी सभ्यता की दारूण मुत्यु की त्रासदी को मणिबन्ध के चरित्र के प्रतीकरूप में केन्द्रीभूत किया गया है। उसमें वासन, शक्ति, कुटिलता के घात–प्रतिघात सिन्धु घाटी–सभ्यता में पनप रही इन प्रवृत्तियों के लघु

प्रतिरूप हैं।''[7] स्पष्ट है कि उपन्यास में शोषक व्यवस्था से जन–जीवन के संघर्ष की कहानी कही गई है। इसके चरित्रों के निर्माण में तत्कालीन सामाजिक पृष्ठभूमि का ध्यान तो रखा ही है आधुनिक मनोविज्ञान का भी उपयोग आवश्यकतानुसार किया है।

प्रकाशचन्द्र गुप्त को रांगेय राघव की कल्पना–शक्ति प्रभावित करती है। गुप्त जी ने रांगेय राघव के उपन्यासों का सार्थक मूल्यांकन करते हुए पाया कि ''ऐतिहासिक उपन्यासों के अन्तर्गत रांगेय राघव की कृति 'मुर्दों का टीला' उल्लेखनीय है। इस उपन्यास में लेखक ने मोहनजोदड़ों के प्राचीन वैभव और उसकी संस्कृति का प्रासाद कल्पना की शक्ति से खड़ा किया है।''[8] रांगेय राघव की रचनाओं में कल्पना का बल, यथार्थ–सामाजिक चेतना की गति और शिल्प के स्तर पर बरसाती नदी का वेग दिखाई देता है। प्रो. प्रकाशचन्द्र गुप्त की रांगेय राघव से यह उम्मीद थी कि यदि उन्होंने 'घरौंदे' बनाए हैं, तो आगे चलकर घर भी बनायेंगे।[9]

रांगेय राघव ने 'कब तक पुकारूँ' (1957) में करनटों की जीवन–गाथा को प्रस्तुत किया है। उपन्यास का प्रधान चरित्र 'सुखराम' है जिसका जन्म व पालन–पोषण खानाबदोश समाज में हुआ है। यह समाज घोर उत्पीड़न और शोषण का शिकार था। सुखराम अपने आपको ठाकुर कहता है और उच्चजाति (ठाकुर) की तरह रहने का प्रयत्न भी करता है। उच्चजाति के अधिकार को प्राप्त करने के संघर्ष में ही उसके चरित्र के विकास को देखा जा सकता है। प्रकाशचन्द्र गुप्त की नज़र में 'कब तक पुकारूँ' नटों के जीवन का विस्तृत और गंभीर अध्ययन है जिसमें रांगेय राघव बड़ी लगन, तन्मयता, ओज और प्रभाव से कथा कहते हैं। उनकी रचनाओं में बरसाती नदी का तीव्र प्रभाव होती है जो कूल–कगार सभी गिराता हुआ बढ़ता है। 'कब तक पुकारूँ' में भारतीय जीवन के सामंती तत्वों को चित्रित किया गया है।[10] हिन्दी के कुछेक आलोचकों ने 'कब तक पुकारूँ' को आँचलिक उपन्यासों के अन्तर्गत रखा है लेकिन इस उपन्यास का स्वरूप रेणु की आँचलिकता से भिन्न है। इसमें किसी अंचल विशेष के व्यापक और बहुविध जीवन का

चित्रण उस रूप में नहीं हो पाया है जैसा कि 'मैला आँचल' व 'परती परिकथा' में हुआ है।

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय की दृष्टि में 'कब तक पुकारूँ' अनेक सूक्ष्म पर्यवेक्षणों से सजा–बजा उपन्यास है। इसमें लेखक ने छोटे संवादों और लघु गतिशील वाक्यों द्वारा किस्सागोई की है। विषय की दृष्टि से यह अभिनव प्रयोग है क्योंकि इसमें अधूरे विषय और सभ्यता की तस्वीरें हैं। अपने 'कथ्य' के बल पर 'कब तक पुकारूँ' एक नित नई जान पड़ने वाली रचना बन गई है।[11] उपन्यास का क्षेत्र राजस्थान और ब्रज की सीमा पर बसे गाँवों तक सीमित है। इसलिए उसमें वहाँ के लोगों के अज्ञान, अशिक्षा, अंध–विश्वास, गरीबी, शोषण, रीति–रिवाजों और परंपराओं का भी चित्रण हुआ है। मधुरेश का विचार है कि उपन्यास में नट जाति के स्त्री–पुरूषों के सामजिक संबन्धों को उनके आचार–विचार और यौन–नैतिकता को बड़े विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है।[12] गौरतलब है कि करनटों की लाचारी, उनकी नारकीय जीवन पद्धति, नारियों में देह–व्यापार की प्रथा आदि के चित्रण के बावजूद रांगेय राघव ने मानव–प्रकृति के विषय में मार्क्सवादी दृष्टि अपनाते हुए मानवीय–वफादारी, प्रेम, आत्म–सम्मान और आत्मबलिदान की उच्चता को भी रेखांकित किया है। शिवकुमार मिश्र ने लिखा है कि ''रांगेय राघव के उपन्यास युग–विशेष को एक कदम आगे ले जाकर मूर्त करते है।''[13] दरअसल, रांगेय राघव ने शहरी–जीवन, ग्रामीण–जीवन, ऐतिहासिक और जीवन–चरित प्रधान उपन्यास लिखे हैं। उनके सृजन का श्रेष्ठ रूप उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में मिलता है, फिर भी 'कब तक पुकारूँ' उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है, और हिन्दी साहित्य में उसका विशिष्ट स्थान है। डॉ. रमेशकुन्तल मेघ का विचार है कि 'कब तक पुकारूँ' में अधूरे किले के प्रतीकात्मक रूप द्वारा रांगेय राघव ने मिथक, मानवीय विवेक तथा भावना के रहस्यों को ढूँढ़ा है जो उनका मार्क्सीय रोमांटिक यथार्थ भी है। इसमें जो भी कल्पित तत्व हैं, वे सामूहिक जीवन की गहरी जड़ों से अंकुरित, पल्लवित तथा पुष्पित हुए हैं, इस उपन्यास में सामाजिक एवं रोमांटिक (कल्पित) अनुभव का समन्वय हुआ है। यहाँ एक कबीलाई समाज की संरचना तथा उसकी

संस्कृति का अनुसंधान और सर्वेक्षण किया गया है, जिस समाज में बहुत स्पष्ट वर्ग–भेद और निजी संपत्ति नहीं है, और प्रेम ही सामाजिक संबन्धों का मूलाधार बन गया है।[14] उपन्यासकार मार्क्सवादी दृष्टि से सामाजिक और आर्थिक स्थितियों, द्वंद्व एवं परिवर्तनों का अध्ययन करता है। कुँवरपाल सिंह ने 'कब तक पुकारूँ' के महत्व को दर्शाते हुए लिखा है कि ''लेखक ने एक ऐसे समुदाय के जीवन को उठाया जो अब तक अछूता था। रांगेय राघव ने 'नट समाज' की सांस्कृतिक छवियों, रूढ़ियों, अंधविश्वासों, जादू–टोने आदि को इस प्रकार सामने रखा है कि सामाजिक परिस्थितियों से उनका घनिष्ट संबन्ध देखा जा सकता है।''[15]

राजेन्द्र यादव के 'सारा आकाश' (1952, पहले 'प्रेत बोलते हैं'' नाम से प्रकाशित।) उपन्यास में 'समर' नामक मध्यवर्गीय नामक पात्र के माध्यम से पूरे समाज की जड़ता का चित्रण किया गया है। पतनशील सामंती संस्कारों और अंधपरंपरा के विश्वासी, अतीत के मोह से ग्रस्त और धर्म एवं समाजभीरू परिवार का सदस्य समर पूरे मध्यवर्ग के नवयुवकों की तात्कालिक सामाजिक–नैतिक चेतना का प्रतिनिधितत्व करता है। अपने इस उपन्यास के बारे में राजेन्द्र यादव ने लिखा है कि ''सारा आकाश की 'ट्रेजडी' किसी सन्, समय या व्यक्ति–विशेष की 'ट्रेजडी' नहीं, खुद चुनाव न कर सकने की, दो अपरिचित–व्यक्तियों को एक स्थिति में झोंककर भाग्य को सराहने या कोसने की 'ट्रेजडी' है। संयुक्त परिवार में जब तक यह चुनाव नहीं है, सँकरी और गंदी गलियों की खिड़कियों के पीछे लड़कियाँ 'सारा आकाश' देखती रहेंगी। लड़के दफ्तरों, पार्कों और सड़कों पर भटकते रहेंगे, 'एकांत आसमान' को गवाह बनाकर अपने आप से लड़ते रहेंगे, दो नितान्त–अकेलों की यह कहानी तब तक सच है, जब तक उनके बीच का समय रूक गया है।''[16] उपन्यास में समर और प्रभा–इन दो अपरिचित–व्यक्तियों के जीवन की कहानी कही गयी है। समर विवाह नहीं करना चाहता लेकिन माँ–बाप के दबाव के फलस्वरूप वह विवाह करने के लिए बाध्य होता है। राजेन्द्र यादव ने लिखा है कि ''जब तक विवाह करने की डोर माँ–बाप के हाथों में है, 'सारा आकाश' की सच्चाई जिन्दा है। लड़के–लड़कियों को आपस

में एक–दूसरे को समझने की यातनाओं से गुजरना ही है।''[17] डॉ. बच्चन सिंह ने 'सारा आकाश' की प्रासंगिकता पर प्रश्न–चिन्ह लगाया है। उनकी राय में 'सारा आकाश' जिस अकेलेपन को चित्रित करता है उसकी आधार–भूमि ही स्खलित हो गई है। क्योंकि जिन परिस्थितियों और स्थितियों के कारण मुख्य पात्र अलगाव की मनःस्थिति में पहुँचता है वे बदल गई हैं।[18] अगर 'सारा आकाश' की मुख्य समस्या हम खुद चुनाव न कर पाने को मानें तो इसकी टीस उपन्यास में ही नहीं, जीवन में भी मिलती है।

डॉ. रामविलास शर्मा की नज़र में राजेन्द्र यादव नारी उत्पीड़न और उच्चवर्गों, विशेषकर 'देशभक्त', पूँजीपतियों की संस्कृति की वास्तविकता चित्रित करने में अमृतलाल नागर के साथ हैं। उनके अधिकांश पात्रों को जैसा हम आरम्भ में पाते हैं, अंत में वे उन्हें वैसा ही नहीं छोड़ते।[19] समर का प्रभा के प्रति जैसा व्यवहार आरम्भ में रहता है वैसा अंत में नहीं रहता है। वह कई सालों तक प्रभा से बातचीत नहीं करता है लेकिन जब उसे अपनी गलती का एहसास होता है तब वह प्रायश्चित करता है और फिर उसके लिए प्रभा का महत्व सबसे अधिक हो जाता है। 'सारा आकाश' को केवल समर–प्रभा तक ही सीमित नहीं करके देखना चाहिए। उसमें मध्यवर्ग की घुटन, पराजय और दर्द को भी रेखांकित किया गया है। डॉ. शिवकुमार मिश्र ने लिखा है कि ''सारा आकाश' में मध्यवर्ग की घुटन, पराजय तथा मायूसी ही नहीं, इस घुटन तथा बेवसी से मुक्ति पाने की बलवती आकांक्षा भी आत्मीयता से उभारी गई है। उन शक्तियों का भी उद्‌घाटन किया गया है जो एक ओर इस वर्ग की जिन्दगी को तोड़ रही हैं, दूसरी ओर इस जिन्दगी के भोक्ताओं को नए जीवन की ओर अग्रसर भी कर रही है।''[20] उपन्यास में लेखक ने उन पूँजीवादी शक्तियों की खोज की है जो निम्न तथा मध्यवर्गीय मनुष्य को तोड़ने का कार्य करती हैं।

नेमिचन्द्र जैन को राजेन्द्र यादव से शिकायत है कि उनके सभी उपन्यासों में एक तरह की तिलिस्माती रहस्यमयता का वातावरण पैदा होता है–स्थितियों, चरित्रों, घटनाओं सभी में–जो अन्ततः रचना को हलका और मनोरंजक बना देता है जिससे गम्भीर कलात्मकता नहीं आ पाती।[21] 'सारा आकाश' में कस्बाई मध्यवर्गीय नवयुवक की मानसिकता, उसके

संघर्ष, उस पर पड़ने वाले समाजार्थिक दबावों को बड़ी मनोवैज्ञानिकता से प्रस्तुत किया गया है। उपन्यासकार की इस कथाकृति में चेतना–प्रवाह (Stream of Consciousnes) के शिल्प का बहुत ही अच्छा प्रयोग किया है।

हिन्दी कथा–साहित्य में अंचल विशेष की जहालत, अंधविश्वास, भोलापन, तिकड़म, माटी की महक, लोक–संस्कृति, गाँव की बोली–बानी को जिस समग्रता से फणीश्वरनाथ रेणु ने किया है वह हिन्दी उपन्यास में पहली बार प्रकट हुआ। एक उपन्सासकार के रूप में उनकी ख्याति के मुख्य आधार हैं–'मैला आँचल' (1954) और 'परती परिकथा' (1957)। रेणु ने 'मैला आँचल' की भूमिका में लिखा है ''यह है मैला आँचल, एक आँचलिक उपन्यास। कथानक है पूर्णिया।.....मैंने इसके एक हिस्से के एक ही गाँव को–पिछड़े गाँवों का प्रतीक मानकर– इस उपन्यास–कथा का क्षेत्र बनाया है। इसमें फूल भी है शूल भी है, धूल भी है, गुलाब भी, कीचड़ भी है, चन्दन भी, सुन्दरता भी है कुरूपता भी–मैं किसी से दामन से बचकर निकल नहीं पाया।''[22] इसके द्वारा रेणु ने हिन्दी कथा–साहित्य को 'आंचलिक उपन्यास' की भारतीय अवधारणा दी।

'मैला आँचल' के केन्द्र में 'मेरीगंज' नामक ग्राम है। रेणु अपनी गहरी ग्रामीण संवेदना के आधार पर 'मेरीगंज' को उसके संपूर्ण अन्तर्विरोध के साथ जीवन्त औपन्यासिक रूप देते हैं। रेणु का गाँव प्रेमचन्द का गाँव नहीं है। यहाँ पुरानी जड़ता और नवीन गत्यात्मकता की टकराहट है। विभिन्न राजनीतिक आन्दोलनों के अन्तर्विरोध हैं और बिरादरीवाद की कड़वाहट है लेकिन लोक–संस्कृति की मिठास भी है। 'मैला आँचल' के प्रकाशित होते ही रेणु को हिन्दी आलोचना ने पर्याप्त चर्चा का विषय बनाया, सिवाय कुछ मार्क्सवादी आलोचकों के। उस समय के प्रायः सभी महत्वपूर्ण आलोचकों ने रेणु के 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' पर कुछ न कुछ अवश्य लिखा रेणु की प्रशंसा में हो या निंदा में। नामवर सिंह–जैसे आलोचकों ने अवश्य उपेक्षा की चुप्पी साधे रखी।

प्रकाशचन्द्र गुप्त को 'मैला आँचल' के निर्मम यथार्थ, सुगठित कथानक, लोकगीतों की ध्वनियाँ और राजनीतिक–सामाजिक संबन्धों के चित्रण ने बेहद आकर्षित किया था। उन्होंने रेणु की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि ''मैला आँचल आज के हिन्दी उपन्यास की प्रेरणा और शक्ति का प्रतीक बनकर पाठक के सामने आता है।''[23] 'मैला आँचल' में सन् 1942 की घटनाओं से लगाकर सन् 47 की आजादी और कांग्रेस राज का विवरण है। पहले–पहल गुप्त जी ने ही रेणु की दृष्टि को 'मानवतावादी दृष्टि' कहा था।[24]

रेणु 'मैला आँचल' के माध्यम से जीवन–यथार्थ की खोज में गाँव की सोंधी–सुगन्ध का अनुभव करते हैं, पर साथ ही विषाद, निराशा आदि से मुठभेड़ भी करते हैं। उन्होंने गाँव की संपूर्णता को, ग्रामीण छवियों को, अत्यन्त आत्मीयता के साथ उभारा है। शिवदान सिंह चौहान ने लिखा था–''मैला आँचल' में ग्रामीण–जीवन का अत्यन्त सफल चित्रण हुआ है। हर पहलू सजीव हो उठा है। ग्रामीण–जीवन के सहस्रों छोटे–छोटे चित्र मीठे व्यंग्यों और सरस–सरल हास्य से भरे पड़े हैं।''[25] वस्तुतः देखा जाय तो 'मैला आँचल' में रेणु ग्रामीण–जीवन की विवशताओं एवं त्रासद स्थितियों के यथार्थ से साक्षात्कार करते हैं। ''कफ से जकड़े दोनों फेफड़े, ओढ़ने को वस्त्र नहीं, सोने को चटाई नहीं, पुआल भी नहीं। भीगी हुई धरती पर लेटा न्यूमोनिया का रोगी मरता नहीं है जी जाता है.....कैसे?....खेतों में फैली हुई काली मिट्टी की संजीवनी इन्हें जिलाए रहती है।[26]

रेणु का विरोध रामविलास शर्मा ने किया उन्होंने प्रेमचन्द की परंपरा का सवाल उठाते हुए 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' दोनों को उस परंपरा से खारिज किया। 'परती परिकथा' की बिंबात्मकता और प्रतीक–बहुलता को फ्रेंच प्रतीकवादियों से जोड़कर देखा और पॉस्तरनाक और टी. एस. इलियट की काव्य–परंपरा के गद्य रूपांतरण के रूप में उसकी भर्त्सना की। 'परती परिकथा' के अनेक बिंबों को उन्होंने डॉ. जिवागो से जोड़कर देखा। उन्होंने 'मैला आँचल' की भाषा–शैली को 'बलचनमा' की शैली माना और उसके चित्रण–पद्धति को प्रतीकवाद के करीब।[27] 'मैला आँचल' की आलोचना करते हुए रामविलास शर्मा ने लिखा है कि ''लेखक के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर आस्था के

प्रश्न का उत्तर दिया जाय, तो कहना पड़ेगा कि जनता और उसकी राजनीतिक कार्यवाही में उसकी आस्था नहीं है। उसे लोक–संस्कृति प्रिय है, किन्तु इस संस्कृति के रचने वालों में उसे कहीं प्रकाश की किरणें नहीं दिखाई देतीं। उसे आँचल की मिट्टी से प्रेम है। किन्तु उस मिट्टी में मरने–खपने वाले उसे पशु से भी सीधे और पशु से भी ज्यादा खूंखार दिखाई देते हैं।''[28] इतना ही नहीं इसी क्रम में आगे उन्होंने लिखा है कि रेणु ने जनता के अंधविश्वास को बढ़ा–चढ़ाकर तथा जमींदार के अत्याचारों को कम करके पेश किया है। राजनीतिक पार्टियों के दोषों का अतिरंजित और गुणों को नज़रांदज किया है।[29] रेणु के दोनों उपन्यासों (मैला आँचल और परती परिकथा) के मूल्यांकन में रामविलास जी के ध्यान में 'गोदान' का गाँव प्रतीत होता है और वे बदली हुई जमींदारी की परिस्थितियों को नहीं देखते। रेणु ने भारतीय सामंतवाद का जिस सूक्ष्मता से चित्रण किया है वह शर्मा जी की दृष्टि से ओझल हो गया है।

दरअसल, ''लेखक के दृष्टिकोण'' पर बल देने वाली मार्क्सवादी 'अतिक्रांतिकारिता' का परिणाम ही है कि रामविलास जी रेणु और उनके पात्रों से वैसी आन्दोलनात्मक कार्यवाही की माँग करते हैं जो तत्कालीन भारतीय सामाजिक परिदृश्य में नहीं था अतः वह उन्हें रेणु के यहाँ नहीं मिला। रेणु को लेकर रामविलास जी की आलोचना पद्धति निर्मम और असहिष्णु है, निष्कर्षवादी और अतार्किक और विरोधाभासी भी। 'मैला आँचल' को लेकर वे यह भी कहते हैं कि ''बहुत कम उपन्यासों में पिछड़े हुए गाँवों के वर्ग–संघर्ष, वर्ग शोषण और वर्ग अत्याचारों का ऐसा जीता–जागता चित्रण मिलेगा।''[30] मगर उनका निष्कर्ष यही है कि ''मैला आँचल का लेखक प्रेमचन्द की परंपरा से दूर जा पड़ा है।''[31] रामविलास जी के इस अन्तर्विरोध से लगता है कि उनका अवचेतन रेणु के महत्व को कहीं–न–कहीं स्वीकार करता है। दरअसल, उनके विरोध का महत्वपूर्ण कारण राजनैतिक है। परिमलवादी लेखकों ने रेणु को प्रेमचन्द से बड़ा बताया जो रामविलास जी को कतई पसन्द नहीं था। रामविलास जी ने रेणु की भाषा पर भी गलत कटूक्तियाँ कीं।

रेणु के मूल्यांकन में डॉ. शिवकुमार मिश्र 'मार्क्सवादी दृष्टिकोण' से आक्रांत रामविलास शर्मा का ही अनुसरण करते हैं। उन्होंने लिखा है कि ''रेणु प्रेमचन्द की अपनी परंपरा में यथार्थवाद की जमीन पर अपनी सर्जनात्मक क्षमता का परिचय देते हैं, अपनी मानवीय संवेदना के बल पर कुछ चरित्रों को उभारते है, परन्तु उनका संकल्प, शुरू से ही आंचलिक उपन्यास लिखने का रहा, अतएव उस संकल्प के तहत जब वे इस आंचलिकता के मोह में पड़ते हैं, सब कुछ 'डिस्टार्ट' होने लगता है, विशिष्ट होने लगता है। अलग–थलग होने लगता है। यह विशिष्टता वे बोली–बानी की भिन्नता तथा लोकगीतों, रीति–रिवाज तथा तमाम सारे बाहरी उपकरणों के सहारे उसे देते हैं।''[32] स्पष्ट है कि मिश्र जी को रेणु की सहज–स्वाभाविक आंचलिकता रास नहीं आती। उन्हें 'मैला आँचल' के लोक–गीत, रीति–रिवाज इत्यादि बाहरी उपकरण लगते हैं, जबकि यही सब चीजे उपन्यास को लोक–भूमि से और चरित्रों की मनोभूमि से जोड़ती हैं। रेणु की अंचल–केन्द्रित दृष्टि से उन्हें ऐतराज है क्योंकि उन्हें लगता है कि रेणु ने अपनी अंचल–दृष्टि के मोह में मनुष्य की समस्याओं पर ध्यान नहीं दिया है। उन्होंने लिखा है ''अंचल–केन्द्रित उनकी दृष्टि फिर मनुष्य और उसकी समस्याओं से हट जाती है और सूक्ष्मतम ब्यौरों की, विस्तृत असम्बद्ध विवरणों की, रिपोर्ताज शैली में उस अंचल की उन तमाम सारी ऊपरी विशेषताओं को उभारते हैं कि वह दूसरे अंचलों से अलग लगे। उनके पात्र, उनका आचरण सब कुछ अजूबा और विलक्षण प्रतीत हो और इसके लिए वे हर नुस्खा अपनाते हैं।''[33] मिश्र जी रेणु पर प्रकृतवादी और रूपवादी होने का आरोप लगाते हैं। उनको लगता है कि रेणु ने लोक–संस्कृति के नाम पर मरणशील तत्वों को प्रस्तुत किया है। मिश्र जी द्वारा लगाये गये इस प्रकृतवाद और रूपवाद का प्रतिवाद करते हुए आलोचक सुवास कुमार की यह टिप्पणी विचारणीय है–''यथार्थवाद और प्रकृतवाद का घपला नया नहीं है। ऐसे आलोचक भी मिल जाते हैं जो जोला में यथार्थवाद और बालजाक में प्रकृतवाद ढूँढ़ते–पाते हैं।....सच तो यह है कि यथार्थवाद और प्रकृतवाद दोनों ही सत्य की निकटतम प्रतिकृति बनना चाहते हैं। प्रकृतवाद में यह प्रतिकृति साध्य होती है

जबकि यथार्थवाद में साधन। जहाँ भी कोई लेखक सत्य के निकटतम पहुँचता लगा मिलता है उस पर प्रकृतवादी होने का आरोप लगाकर हम छुट्टी नहीं पा सकते। अपनी आलोचना–क्रम में मिश्र जी ने रेणु की 'ईमानदारी', 'उनके विचार' और 'व्यंग्य' सबको नज़र–अंदाज कर दिया है।''[34] सब कुछ के बावजूद मिश्र जी रेणु के महत्व को स्वीकारने को विवश होते हैं। उन्होंने 'मैला आँचल' के सन्दर्भ में लिखा है ''हिन्दी कथा–साहित्य को रेणु का यह बहुत बड़ा योगदान है कि लम्बे अरसे के बाद उन्होंने एक बार फिर देश की नब्ज पर हाथ रखा और उसके प्रति लोगों को जागरूक किया।''[35] क्या प्रकृतवाद ऐसा परिणाम ला सकता है?

नेमिचन्द्र जैन के अनुसार 'मैला आँचल' में एक ऐसा गाँव है जो निरन्तर बदल रहा है। यह सर्वथा विशिष्ट होकर भी केवल मिथिला तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि उत्तर भारत के प्रत्येक गाँव का प्रतिनिधित्व करता है। क्योंकि भारतीय देहात के मर्म का जितना सरस और भावप्रवण प्रस्तुतीकरण 'मैला आँचल' में हुआ है वह हिन्दी में संभवतः पहले कभी नहीं हुआ।[36] जिन आलोचकों ने 'मैला आँचल' को प्रेमचन्द के 'गोदान' के बरक्स रखकर मूल्यांकन किया उसे नेमिचन्द्र जी 'एकांगी दृष्टि' बताते हैं। उनकी राय में ऐसा करने से दोनों लेखकों के साथ अन्याय होगा क्योंकि दोनों उपन्यासों का युग और मूल भाववस्तु भिन्न–भिन्न हैं। 'मैला आँचल' में युगजन्य दबाव के परिणाम–स्वरूप तीव्रता से बदलते हुए ग्राम की गति का चित्रण तो हुआ है, लेकिन उसमें 'गोदान'–जैसी 'क्लासिक' तस्वीर नहीं बन पाई है। 'मैला आँचल' के पात्र एक युग की उपज हैं, जो जितनी तेजी से आते हैं उतनी ही तेजी से गतिचक्र में विलीन भी हो जाते हैं। वे 'गोदान' के होरी और धनिया को अजन्ता के भित्ति–चित्रों के रूप में देखते हैं, जो सैकड़ों वर्ष बाद भी उतने ही जीवन्त रूप में उपस्थित हैं।[37] दरअसल, रामविलास जी की भाँति नेमि जी भी प्रेमचन्द ग्रन्थि से मुक्त नहीं हो पाते हैं इसलिए उन्हें 'गोदान' में 'क्लासिक तस्वीरें' तो नज़र आती हैं, लेकिन 'मैला आँचल' में नहीं। 'मैला आँचल' के अविस्मरणीय चरित्रों को भी वे भुला देते हैं। फिर भी 'मैला आँचल' की विशिष्टता उन्हें इस बात में दिखाई देती है कि ''वह राजनीतिक

फार्मूलों और सिद्धांतों की मारामारी तथा खून–खच्चर से हटाकर फिर से ग्रामवासिनी भारतमाता के मैले धूल–भरे श्यामल आँचल तले, आँसू से भीगी हुई धरती पर लहलहाते हुए प्यार के पौधे की ओर खींच ले गया, जहाँ आषाढ़ के बादल मादल बजाते हैं, बिजली नाचती है, और पुरवैया के झोंके के साथ खेतों में जिन्दगी झूम उठती है।''[38] स्पष्ट है कि नेमि जी, रेणु की 'लोकवृत्ति' की प्रशंसा करते हुए 'मैला आँचल' के महत्व को स्वीकारते हैं। वे रेणु में जितनी सरसता, आत्मीयता और कविता को देखते हैं उतनी परिपक्वता को नहीं देख पाते हैं। उन्होंने माना है कि मेरीगंज की घटनाएँ लेखक के नियंत्रण से बाहर निकल गई हैं। तो क्या रचनाकार को सायास लेखन करना चाहिए–स्वाभाविक लेखन नहीं? मार्क्सवादी आलोचकों में कुछ सैद्धांतिक आग्रहों के दायरे में रचना को देखना चाहते थे, और यही उनकी आलोचना की सीमा थी।

रमेशकुन्तल मेघ ने 'मैला आँचल' को उपनिवेशवाद से उत्तर उपनिवेशवाद के जटिल व द्वन्द्वात्मक संक्रमण का बौद्धिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक दस्तावेज माना है। उन्होंने लिखा है कि ''मैला आँचल में राजनीतिक शक्ति को दो चरणों में समयांतर ढंग से निरूपित किया गया है। पहले में उपनिवेशवाद के पाशविक शोषण–उत्पीड़न तथा सामंतवाद की भयकारक शोषण एवं जातिगत विषमताओं द्वारा, दूसरे चरण में राजनीतिक पार्टियों द्वारा सेंटर, सभा, चुनाव शासन में भागीदार की तिकड़मों का भंडाफोड़ करके।''[39] दरअसल, रेणु की सूक्ष्म दृष्टि का ही परिणाम है कि उन्होंने 'मैला आँचल' की एक–एक चीज को बारीकी से देखा–परखा है। रेणु की दृष्टि से 'मेरीगंज' का कुछ भी नहीं बच पाया है। अन्र्स्ट फिशर ने कला और पूँजीवाद के संबन्धों के विषय में कहा था कि पुरानी दुनिया की मृत्युपीड़ा और नई दुनिया की प्रसव–पीड़ा में टूटकर खंडहर हुई इमारत और उभरती हुई नई इमारत में फर्क करने के लिए एक ऊँचे दर्जे की सामाजिक चेतना की आश्यकता होती है। निसंदेह 'मैला आँचल' रेणु को सामाजिक चेतना से संपन्न लेखक के रूप में प्रतिस्थापित करता है। अतः 'मैला आँचल' को अपने समय का सच्चा 'आईना' कहना गलत न होगा।

परमानंद श्रीवास्तव ने लिखा है कि ''मैला आँचल में एक ओर सामाजिक तनाव और संघर्ष के अनेक रूपों की झलक है, जिसके जरिए आगे की उग्रतर स्थितियों की भी कल्पना की जा सकती है।, दूसरी ओर मूल मानवीय रागात्मकता पर इतना बल है कि मानवीय दुर्बलताओं को सहानुभूति देना भी उससे बाहर की चीज नहीं है।''[40] स्पष्ट है कि 'मैला आँचल' में रेणु अपने क्रांतिकारी पात्रों (कालीचरन, चरित्तर कर्मकार) को जिलाए रखते हैं क्योंकि उनसे आगे बड़ी क्रांति की संभावना है। मन्मथनाथ गुप्त को रेणु के चित्रित गाँव प्रेमचन्द के चित्रित गाँवों से अलग और जटिल लगे हैं।[41] रेणु के गाँव अपनी समस्त आँचलिक विशेषताओं के साथ उपस्थित है। क्या इसलिए मन्मथनाथ जी को जटिल लगते है? रेणु के गाँव जितनी स्थूलता में चित्रित हुए हैं, उससे कहीं अधिक सूक्ष्मता में। आश्चर्य नहीं कि गाँव की सरलता ही लोगों को जटिल लगती हो!

नित्यानंद तिवारीने लिखा है कि ''मैला आँचल' की ताजगी और जीवतंता यदि सिर्फ दृश्यों तक सीमित होती तो आज कोई उसका नामलेवा न होता। उसमें विषयवस्तु (Content) की ताजगी और जीवन्तता है। विषयवस्तु यानी व्यक्ति और संस्थाओं (सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक) के बीच उभरने वाले नए संबन्ध की व्याकुलता, उत्साह, अंधकार और प्रकाश। 'मैला आँचल' में विषयवस्तु अपनी संपूर्ण प्रक्रिया में है। वह व्यक्ति और समाज के परिवर्तन के बीच से कुछ परिणामी लक्षणों को लेकर भाषा के खेल से मनुष्य को आत्म–साक्षात्कार नहीं कराता है जिसके बीच सचमुच उसे रहना और जीना है। वह मनुष्य को उस कठोर वास्तविकता के सामने खड़ा करता है जिसके बीच सचमुच उसे रहना और जीना है। यह दृश्य की ताजगी जीवंतता से संभव नहीं है। दृश्य को भेदने वाली गहरी अंतर्दृष्टि से संभव है।''[42] स्पष्ट है कि रेणु की यह गहरी अंतर्दृष्टि व्यक्ति और संस्थाओं के बीच के अन्तर्संबन्ध को पहचानती है। इतना ही नहीं, रेणु, उपनिवेशवादी और पूँजीवादी शक्तियों को भी दो–टूक पहचानते हैं। इन दोनों ही शक्तियों ने हमारी मनुष्यता और मानवीय मूल्यों पर गहरा आघात किया है। बावनदास की मृत्यु को 'मूल्य आधारित' मृत्यु के रूप में देखा जा सकता है।

अरूण कमल की दृष्टि में'मैला आँचल' में भारतीय ग्रामीण जीवन अपने संपूर्ण सौन्दर्य, संघर्ष और नई कलात्मकता के साथ उपस्थित है। एक क्षेत्र–विशेष के जीवन का इतनी बारीकी से चित्रण पहले नहीं हुआ था।[43] स्पष्ट है कि रेणु 'मैला आँचल' में रेणु उस वृहत्तर भारतीय यथार्थ की तलाश करते हैं जो भारत का समकालीन यथार्थ था। यह गाँव–शहर के विभाजन के फलस्वरूप भी आया था। सुरेन्द्र चौधरी ने लिखा है कि ''समकालीन यथार्थ को 'मैला आँचल' अपनी पूरी छविमयता से प्रतिबिंबित करता ही है, साथ ही उसके व्यवहारगत परिवर्तनों को भी साकार करता दिखाई देता है।''[44] दरअसल, 'मेरीगंज' में 'बेतार का तार' (रेडियो) पहुँच चुका है जो स्थानीय से बड़ी खबरें देता है। यहाँ पहली बार देश के साथ गाँव भौतिक रूप में दैनंदिन जीवन में जुड़ रहा है। यानी 'मेरीगंज की काया' में देश का प्रवेश हो रहा है। सुरेन्द्र चौधरी ने भूमि–समस्या को 'मैला आँचल' की धुरी समस्या माना है तथा यहाँ कृषि–संबन्धों के पुनर्गठन का प्रश्न एक जीवित प्रश्न बनकर उपन्यास में आता है। अतः स्पष्ट है कि रेणु ने प्रेमचन्द की तरह ही इस प्रश्न को जीवन–संबन्धों की व्यापकता में और दैनंदिन जीवन के क्रिया–कलापों में उतारकर देखा है।[45]

'मैला आँचल' में रेणु की कथा का 'व्यंग्य' जीवन को संपूर्णता में देखता है। व्यक्ति–चरित्रों (बालदेव, कालीचरन, प्रशांत, तहसीलदार विश्वनाथ) और वर्गीय प्रवृत्तियों का जैसा आलोचनात्मक चित्रण 'मैला आँचल' में हुआ है वह बाद में चलकर तीखेपन के साथ 'रागदरबारी' में प्राप्त होता है। रेणु ने अपनी यथार्थवादी दृष्टि से समाज में पनप रही क्रांति को पहचानने की कोशिश की है लेकिन यह कोशिश पूर्ण रूप में है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है। रेणु के लिए कालीचरन और चरितर कर्मकार दोनों ही भविष्य की क्रांति की चिनगारियाँ हैं लेकिन रेणु की कमजोरी इस बात में है कि वे क्रांति के लिए अपेक्षित विश्वसनीय स्वप्न नहीं बुन पाये हैं, फलस्वरूप उनका 'नेहरू–मार्का समाजवाद' वाला स्वप्नदर्शी पात्र प्रशांत कमजोर रह गया है। (जिसके पास कल्पना के पंख तो हैं लेकिन यथार्थ के मजबूत पाँव नहीं।) इसी तरह कालीचरन और चरितर कर्मकार

व्यक्तिवादी रूमानी क्रांतिकारिता का शिकार हो गये हैं। रेणु इन दोनों को मिला नहीं पाये हैं लेकिन उन्होंने इन स्वप्नों और संघर्षों को गाँव और देश में देख लिया था। उस समय के पीछे गाँव में इससे बड़ी क्रांति की बात मेल में नहीं होती।[46]

'परती : परिकथा' का कथा–समय और परिवेश नेहरूयुगीन भारत है यानी आजादी के बाद का भारत। 'परानपुर' गाँव की हजारों एकड़ बंध्या धरती को उपजाऊ बनाने की मुख्य कथा के साथ गीता मिश्र के डायरी वृत्त को मिलाकर दो पीढ़ियों के अन्तराल को रचनात्मक धरातल पर चित्रित किया गया है। कलात्मक दृष्टि से भी 'मैला आँचल' की दुनिया का विस्तार–विकास 'परती : परिकथा' में हुआ है। यानी हर लिहाज से 'परती : परिकथा' 'मैला आँचल' से 'आगे की रचना' है। लेकिन अनेक आलोचकों ने इसे 'मैला आँचल' की तुलना में 'पीछे की' भी बताया है। डॉ. रामविलास शर्मा का विचार है कि ''परती : परिकथा में 'मैला आँचल' के गुण प्रायः लुप्त हो गये हैं और दोषों का पूर्ण विकास हो गया है। अनेक अंशों को पढ़कर लगता है कि लोकगीतों पर लेख लिखा जा रहा है। कथा का सूत्र और भी जल्दी टूटता है। भर्ती के अंश ज्यादा हैं। लेखक सुनता है देखता है लेकिन अपने इन्द्रियबोध को बुद्धि की सहायता से व्यवस्थित नहीं करता। तरह–तरह की नकल हास्यप्रद हो गई है।''[47] इसी क्रम में आगे लिखा है ''परती : परिकथा' में अनेक परिकथाएँ हैं जिनमें हीरो जित्तन की अंग्रेज माँ की कहानी काफी सनसनीखेज है। परती में पानी भरे गड्ढों की तरह इस निबंधमूलक उपन्यास के विवरण–वीरान में यूरोप और भारत के दो प्रेमी जीवों की मर्म–गाथा पाठक के लिए मृत संजीवनी का काम करती है।''[48] स्पष्ट है कि रामविलास जी को रेणु के लोकगीतों (किसी भी ग्रामांचल की मूलभूत विशेषता होती है।) से ऐतराज है। उन्हें उपन्यास में आयी उपकथाओं से चिढ़ है। इसलिए तो उन्हें लगता है कि प्रेमचन्द की परंपरा के जो कुछ निशान 'मैला आँचल' में बचे थे वह आकर 'परती : परिकथा' में समाप्त हो जाते हैं।

निर्मल वर्मा ने लिखा है कि ''परती : परिकथा के मूल्यांकन में उसकी प्रशंसा और भर्त्सना करते हुए जो अतिरंजित विशेषण प्रयोग किए गये हैं, उसे देखकर लगता है मानो

उसके गुण–दोषों का विश्लेषण कम हुआ है। आलोचकों ने उसे अपने सैद्धांतिक मानदण्डों के अमूर्त चौखटों (ऐब्सट्रेक्टकेटोगेरीज) में फिट करने का प्रयत्न ही अधिक किया है।''[49] आश्चर्य है कि रामविलास जी को शिवेन्द्र मिश्र–गीता मिश्र के रोमानी (किन्तु 'अवैध') प्रेम–प्रसंगों में 'मृत–संजीवनी' मिलता है किन्तु वे मूल कथा में विभिन्न लोककथाओं और लोकगीतों की प्रासंगिकता नहीं देख पाते–सांकेतिक और प्रतीकात्मक स्तर पर भी नहीं। जबकि परती जमीन के चित्रण में उन्हें टी. एस. इलियट तो दिखाई देता है, लेकिन अपने देश का बंजरपन गुलामी के बाद देश–विभाजन, शोषण, अकाल–वगैरह) नहीं।

नेमिचन्द्र जैन 'परती : परिकथा' को एक असफल कृति मानते हैं। उनकी राय में लेखक ने 'परानपुर' में भूमि के नए बन्दोबस्त को लेकर चलनेवाले दाँव–पेंचों और देहाती राजनीति के बहुत से हथकण्डों का विस्तार से चित्रण किया है। विभिन्न पार्टियों की दलबन्दी, गंदगी और सिद्धांत हीनता पर प्रकाश डालता है, नई योजनाओं की चर्चा करता है। लेकिन यह सब चित्रण किसी कलात्मक समग्रता की ओर नहीं बढ़ता। उसे कोई गहरी सार्थकता प्रदान नहीं करता क्योंकि यह सब सतही चंचलता किसी गहरे विक्षोभ से नहीं जुड़ पाती। उससे कोई मौलिक मानवीय तत्व नहीं उभरता।[50] नेमि जी के लिए कलात्मक समग्रता क्या है यह वे नहीं बताते हैं। इससे अलग निर्मल वर्मा को 'परती : परिकथा' पढ़ने के बाद लगता है कि ''किसी गाँव का अद्‌भुत विचित्र 'कार्नीवाल' देख आये हैं अनेकानेक, सुरों की हरहराती धारा, हमारे बीच बहकर आगे बढ़ गई है, अनेक व्यक्तियों की असंगतियों, सुख–दुःख, हास–विलास से हमने अपने को संपृक्त किया है किंतु ये चेहरे, रंग और सुर अपने में महत्वपूर्ण नहीं हैं–महत्वपूर्ण है इस 'कार्नीवाल' की गतिमयता, अविरल प्रवाह की कलकल, हवा में उड़ते रंगों की आभा, एक मायावी लय जो समस्त व्यक्तियों और घटनाओं के बीच गुजरती हुई हमारे मस्तिष्क और हृदय को आलोड़ित कर देती है।''[51] स्पष्ट है कि निर्मल जी 'परती : परिकथा' के 'कार्नीवाल' (आन्दोत्सव) की गतिमानता तथा प्रवाह को अधिक महत्व देते हैं। मिखाइल बाख्तिन

(Mikhail Batkhtin) ने महान उपन्यासों में इसी बहुस्वरीय 'कार्नीवाल' वाले तत्व को महत्वपूर्ण बताया था।[52]

उपन्यास में आजादी के बाद की परती (गाँव–देश) की कथा है अतः स्वाभाविक है कि इसमें भारत–निर्माण की परिकल्पना है जो उपन्यास में भरपूर उपस्थित है। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने लिखा है कि ''परती : परिकथा' में राष्ट्र–निर्माण की समस्याएँ कलात्मक रूप में व्यक्त हुई हैं। रेणु की कला ने हिन्दी उपन्यास के विकास की संभावनाओं के नए द्वार खोल दिये हैं।''[53] 'परती : परिकथा' में भारत का वह पिछड़ा गाँव है जहाँ सामंती और पूँजीवादी शक्तियाँ एक साथ मिलकर अपना शोषण का चक्र चला रही हैं। 'परानपुर' में नई शिक्षा तथा बाज़ार का प्रवेश हो गया है जिसके फलस्वरूप गाँव में व्यक्ति धीरे–धीरे वर्ग और संगठनों में तब्दील होने लगा है। परमानंद श्रीवास्तव ने लिखा है कि ''परती : परिकथा' स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण सामाजिक परिवेश के व्यापक परिवर्तनों के बीच व्यक्तियों वर्गों, संगठनों की इच्छाओं, स्वार्थों, संकल्पों की ऐसी गाथा है जिसमें स्वरों, लयों, रूप–रस–गंध–स्पर्श की प्रतियों का अविरल प्रवाह बना हुआ है।''[54] यह प्रवाह पूरे उपन्यास में बना रहता है। रेणु की एक खास विशेषता है कि उनके यहाँ (कथा–साहित्य में) जो गाँव हैं वे अपनी पूरी जीवन्तता में उपस्थित रहते हैं। यहाँ लोक के गहरे और चटख रंग हैं तो लोक के बहुविध शोषण के भी रंग हैं। यानी, रेणु आजादी के तुरन्त बाद के भारतीय ग्रामीण जीवन की एक मुकम्मल चलती–फिरती तस्वीर पेश करते हैं इसलिए 'परती : परिकथा' के संन्दर्भ में सुरेन्द्र चौधरी ने लिखा है : ''सामंती शक्तियों के साथ जो नई पूँजीवाद शक्तियाँ ग्राम–व्यवस्था में प्रवेश कर रही थीं, उनका शोषण तंत्र और भी ज्यादा संगठित था। 'परती : परिकथा' में इसी नए तन्त्र की व्याख्या की पृष्ठभूमि में किसानों के संघर्ष का चित्रण करके रेणु ने भारतीय साहित्य की एक बड़ी कमी को पूरा करने का भरसक प्रयास किया है।''[55]

स्पष्ट है कि नई शिक्षा–व्यवस्था तथा आधुनिकता के फलस्वरूप सामंती–पूँजीवादी शक्तियों के शोषण का तरीका भी बदला है जिसकी गहरी और व्यापक पहचान रेणु को

है। आलोचक सुवास कुमार ने लिखा है कि ''परती : परिकथा' में स्वातंत्र्योत्तर परिवेश का सबसे विश्वसनीय ग्रामीण समाजशास्त्र है जो जितना ही यथार्थ है, उतना ही कलात्मक भी। सामुदायिक जीवन (कम्युनिटी लाइफ) का ऐसा बेजोड़ चित्रण भारतीय उपन्यास साहित्य में गिना–चुना ही होगा।''[56] 'परती : परिकथा' में स्वातंत्र्योत्तर ग्राम के प्रायः सभी विषयों और समस्याओं का समागम मिलता है। इस सन्दर्भ में सुवास कुमार लिखते हैं कि ''परती : परिकथा', 'मैला आँचल' तथा रेणु की दूसरी कृतियों से अनेक अर्थों में विशिष्ट है। यहाँ कलाकार, नृतत्वशास्त्री और समाजशास्त्री का अद्‌भुत समागम हुआ है। व्यक्ति और समाज–मनोविज्ञान, इतिहास, संस्कृति, भूगोल तथा और भी बहुत सारे ज्ञान–विज्ञान को पचाया गया है।''[57] इस दृष्टि से भी उसे 'मैला आँचल' से आगे की रचना कहा जा सकता है।

शिवदान सिंह चौहान ने 'परती : परिकथा' को आधुनिक युग का महाकाव्य कहा है।[58] 'परती :परिकथा' के सन्दर्भ में चौहान जी ने लिखा है कि ''रेणु ने किसी मतवादी विचारधारा का पिष्टपेषण करने की खातिर कहानी नहीं कही है। (दरअसल 'परती : परिकथा' में राजनीतिक पार्टियाँ–कांग्रेसी, समाजवादी और कम्युनिस्टों–की अवसरवादिता, स्वार्थपरता व धूर्तता को रेखांकित किया है।) बल्कि शेक्सपीयर के बारे में कहे कार्लाइल के शब्दों में 'कुदरत को आईना' दिखाया है, यानी भारत के सबसे पिछड़े, गाँव 'परानपुर' के लोगों के आचरण और विश्वासों, उनके रूढ़ि–जर्जर जीवन और उनकी आकांक्षाओं और संकल्पों के विराट संघर्ष की कहानी कही है, जिसकी सूत्रधार नियति नहीं, बल्कि आधुनिक युग की विकासोन्मुख चेतना है।''[59]

इलाचन्द जोशी का 'जहाज का पंछी' (1956) उपन्यास का कथानायक एक शिक्षित नवयुवक है। जीवन–संघर्ष में उलझा वह कलकत्ता महानगरी में काम की तलाश में भटकता है। वह ज्योतिषी के रूप में, धोबी के मुनीम के रूप में, भादुड़ी परिवार में रसोइयें के रूप में, गिरहकट के रूप में, टयूटर के रूप में, चकले में और निपट अकेली संपन्न

महला लीला के सेवक के रूप में आधुनिक महानगरी की विविध जीवन–स्थितियों को अनुभव करता है।

प्रकाशचन्द्र गुप्त ने लिखा है कि जोशी जी के कथानायक बड़े पेचीदे और घटना–प्रधान होते हैं, उनमें जीवन के प्रतिनिधि रूपों की सहज स्वाभाविकता नहीं मिलती। उपन्यास में लेखक ने कलकत्ता शहर को 'फ्री वर्ल्ड' के रूप में देखा है, और यहाँ की गरीबी, कुरूपता और अनेक दुःखों और संताप भरे जीवन का करूणा मर्म बेधने वाला चित्र प्रस्तुत किया है।[60] कथानायक किसी आकर्षणवश या जिज्ञासा के कारण कलकत्ता नहीं आया है, उसकी जिन्दगी के भटकावों ने ही उसे यहाँ ला पटका है। लेकिन यहाँ भी उसके भटकावों का अंत नहीं दिखता। अस्पताल में उसकी भेंट 'प्यारे' (धोबी) से होती है, जेल के भीतर 'मजीद' (कैदी) से और जेल के बाहर 'करीम चाचा' से। ये सब कलकत्ता शहर में मरूस्थल होती संवेदना को जिलाए हुए हैं। महानगर भीड़ आपस में कितनी अजनबी, संवेदनहीन और यांत्रिक है, पग–पग पर इसका एहसास कथानायक को होता है। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने लिखा है ''जहाज का पंछी का कथानायक व्यापक है और इसमें प्रसार अधिक है। लेखक की निर्मम दृष्टि जीवन के अनेक घृणित और कुत्सित व्यापारों पर घूमी है और उनका यथार्थमय अंकन किया है। यह उपन्यास आज के भ्रष्ट पूँजीवादी समाज की नैतिकता पर कठोर मर्म–प्रहार करता है और जीवन की स्वस्थ, संघर्षरत प्रवृत्तियों को बल देता है।''[61] अपनी ईमानदारी के कारण कथानायक बार–बार अपनी बेकारी और यातना में वापस आता है। वह धनी महिला के प्रेम को तभी स्वीकार करता है जब वह उसके प्रगतिशील संस्कार और परिवेश से प्रभावित होकर अपना अभिजात संस्कार छोड़ देती है।

'जहाज का पंछी' के सन्दर्भ में अरूण कमल की यह टिप्पणी ध्यान देने योग्य है ''हिन्दी उपन्यासों की गौरवशाली परंपरा में यह उपन्यास एक महत्वपूर्ण पड़ाव है। अपनी बड़ी चिन्ताओं, विचार करने की शक्ति, सूक्ष्म अवलोकन और बाँध लेने वाली किस्सागोई तथा चरित्र–घटनाओं की विपुलता के लिए इसे याद किया जायेगा। 'फ्री–वर्ल्ड' की तीखी

आलोचना के लिए 'जहाज का पंछी' को फिर से पढ़ने की जरूरत है। बाज़ार–व्यवस्था की, इसके समर्थकों एवं इसकी बर्बरता की ऐसी कठोर आलोचना कम ही हुई है।''[62] स्पष्ट है कि वामपंथी विचारों के माने जाने वाले अरूण कमल ने उपन्यास के औपन्यासिक तत्वों की भरपूर सराहना की है। अरूण कमल 'जहाज का पंछी' को स्वतंत्रता और मनुष्य की अस्मिता की खोज का वृत्तान्त मानते हैं। उसका बिम्ब अपने आप में गहरी स्वतंत्रता की आकांक्षा और अन्ततः बँधकर रह जाने की विवशता का बिम्ब है।[63] लेकिन 'जहाज का पंछी' के बारे में दूसरे वामपंथी आलोचक परमानंद श्रीवास्तव का विचार अरूण कमल के ठीक उलटा है ''यदि अपवादों को छोड़ दें तो, व्यक्तियों की चरम अविश्वसनीयता के चलते वह स्वाभाविक संसार है ही नहीं। यानी, वह एक भ्रामक संसार है। यहाँ न हमारी समस्याओं के अनुरूप समस्याएँ हैं न हमारी चेतना के अनुरूप चेतना। मानव अस्तित्व के जिस केन्द्रीय सच को पकड़ने की जो कोशिश जब–तब दिखाई भी देती है वह हमारी माँगों का प्रक्षेप है।''[64] उपन्यासकार ने जिस महानगरीय जीवन–मूल्यों और यथार्थ को पकड़ने की कोशिश की है वह परमानंद श्रीवास्तव को 'भ्रामक' लगता है और कथानक का चरित्र अविश्वसनीय। कथानायक ईमानदार और आदर्शवादी है वह पग–पग पर गिरता और टूटता है लेकिन उसकी आदर्शवादिता असत्य और अन्याय से समझौता नहीं करती। यदि कभी वह गलत मार्ग पर जाता भी है तो वह गलत काम के फल का उपयोग लोकगीत में ही करता है। पाण्डेय शशि भूषण 'शीतांशु' ने 'जहाज का पंछी' में दमित कामनाएँ, अपराध मनोवृत्ति, आत्मनाशी प्रवृत्ति, मिसेश्रापी घृणा की प्रवृत्ति, हीनता ग्रन्थि इत्यादि मनोवृत्तियों को देखा है।[65]

अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' (1956) तथा 'अमृत और विष' (1966) दोनों ही उपन्यास सामाजिक आलोचनात्मक यथार्थ से जुड़े हैं। शायद यही कारण है कि हिन्दी आलोचकों का ध्यान उनकी ओर गया है। 'बूँद और समुद्र' की भूमिका में नागर जी ने लिखा है कि 'इस उपन्यास में मैंने अपना और आपका, अपने देश के मध्यर्गीय नागरिक समाज का गुण–दोष भरा चित्र ज्यों का त्यों आंकने का यथामति, यथातथ्य प्रयत्न किया

है।' नागर जी का उपर्युक्त विनम्र कथन कितना सही था, यह हिन्दी समीक्षाओं से सिद्ध भी हुआ है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने 'बूँद और समुद्र' को पुरानी समाज–व्यवस्था के बनते–बिगड़ते तथा बदलते हुए भारतीय जीवन का महाकाव्य कहा है।[66] नागर जी ने 'बूँद और समुद्र' के केन्द्र में लखनऊ को रखा है उसमें भी विशेष रूप से 'चौक' के गली–कूँचों को। कुछ समय के लिए नागर जी चौक से बाहर मथुरा–वृन्दावन की भी सैर करते हैं लेकिन यह वर्णन गौण रूप में ही है। डॉ. शर्मा के लिए लखनऊ के मुहल्ले बूँद की तरह हैं जिसमें समुद्र की तरह लहराते विशाल भारतीय समाज के विभिन्न रूपों के दर्शन करा दिया है।[67] रामविलास जी का विचार है कि 'बूँद और समुद्र' में रेखाचित्रों की समृद्धि है जो प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों में नहीं दिखाई देता। लेखक ने ऐसे जीते–जागते और कोलाहलमय संसार का चित्रण किया है जिसकी समृद्धि की तुलना केवल 'बालजाक' की रचनाओं से ही हो सकती है।[68] दरअसल उस कोलाहलमय संसार में क्षीण होता सामंतीय समाज भी है जिसकी खामियों को चित्रित करना नागर जी नहीं भूलते। सामन्ती मानसिक विकृतियों और नैतिक दुर्बलताओं को उन्होंने अधिक उभारा है और उसकी मानवीय अच्छाइयों को कम। नारी–जाति के प्रति लेखक की गहरी सहानुभूति है। पूरे उपन्यास में स्त्रियों की दयनीयता, विवशता और सहायता और कभी न समाप्त होने वाली पराधीनता का चित्रण ईमानदारी से किया है। रामविलास शर्मा ने लिखा है कि ''बूँद और समुद्र का परिवेश अधिक विस्तृत है। उसमें कुछ समय के लिए भी आने वाले पात्र अपनी सजीवता से पाठक को मुग्ध कर देते हैं। उनकी बोली–बानी द्वारा उनकी चरित्रगत विशेषताओं प्रकट करते ही हास्यरस की निष्पत्ति में 'बूँद और समुद्र' के लेखक ने हिन्दी के सभी कलाकारों को पीछे छोड़ दिया है। समाज की विभत्सता को उद्‌घाटित करने में और पाठक के मन को झाकझोरने में उसका सानी नहीं है।''[69] रामविलास जी को लखनऊ के चौक में संपूर्ण भारत के दर्शन होते हैं। ताई, सज्जन, महिपाल, रायसाहब आदि उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं लेकिन 'ताई' के चरित–चरित्र में नागर जी की विशेष रूचि रही है। ताई

उपन्यास की केन्द्रीय पात्र हैं। उनका चरित्र अत्यन्त जटिल और बहुस्तरीय है जो तमाम अन्तर्विरोध से ग्रस्त है। नागर जी अपनी सूक्ष्म दृष्टि से जिस समाज का अवलोकन करते हैं उसमें एक जीवन–व्यवस्था (पुरानी, जर्जर) टूटती है और एक नई जीवन–व्यवस्था जन्म लेती दिखती है। उपन्यास में एक तरफ पुराने मूल्यों के टूटने का दुःख है तो दूसरी तरफ नये मूल्यों के आगमन का हर्ष भी।

नेमिचन्द जैन ने लिखा है कि ''बूँद और समुद्र में एक पूरे नगर, एक पूरे समाज, जीवन के कुछेक महत्वपूर्ण वर्ष सजीव हो उठते हैं। उसमें जहाँ एक ओर परंपरागत जीवन–पद्धति, रीति–रिवाज, आचार–व्यवहार, विचार–विवेक का, पुरानी चाल के लोगों और उनकी जीवन–दृष्टियों का, सटीक चित्रण है, वहीं दूसरी और आधुनिक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक शक्तियों, विचारधराओं और परिस्थितियों के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली जीवन–दृष्टियों, व्यक्ति और उनकी समस्याएँ रहन–सहन, उलझनें आदि भी अधिक व्यापकता में मौजूद हैं।''[70] उपन्यास में आज का मध्यवर्ग नहीं है बल्कि इसमें मुख्यतः उन्नीसवीं सदीं के अंतिम चरण से लेकर 1952 तक के मध्यवर्ग के विकास, निर्माण और संघर्ष का अंकन हुआ है। मुहल्ले में शायद ही कोई घर बचा हो जिसके सर्वनाश के लिए ताई ने कोई टोना–टोटका न किया हो। उन्हें अशुभ अनुष्ठान करने में खुशी होती है। ताई के चारों ओर का परिवेश प्रामाणिक है। नेमि जी का विचार है कि यदि उपन्यास ताई की जीवनगाथा और कार्यकलाप के घेरे को लेकर होता और उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाता तो कहीं अधिक सशक्त और सक्षम होता।[71] दरअसल, ताई की मृत्यु के बाद की घटनाओं को जबरन खींचा गया है। अतः वे अप्रामाणिक लगती हैं। नागर जी ने जिस तरह का चरित्रांकन पुरानी पीढ़ी के पात्रों का कर दिया है वैसा चरित्रांकन वे आधुनिक पीढ़ी के पात्रों का नहीं कर पाए हैं।

परमानंद श्रीवास्तव ने लिखा है कि ''व्यक्ति की सामाजिक चेतना के अध्ययन को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य देने के लिए अमृतलाल नागर ने 'बूँद और समुद्र' को ऐसा महाकाव्योचित विस्तार दिया है, जिसमें एक साथ कई युगों, कई वर्ग–संस्कारों, व्यक्तिगत विलक्षणताओं,

स्त्री–पुरूष संबन्धों, परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों, चरित्रों, अंधविश्वासों और रूढ़ियों, कुठांओं और प्रगतिप्रेरक उत्तेजनाओं के एक–दूसरे में गुंथे हुए रूप और स्वर देखे और सुने जा सकते हैं।''[72] उपन्यास की एक–एक चीज को नागर जी ने बड़ी तल्लीनता से सजोया है। उनके लिए तो हर बूँद का महत्व है क्योंकि वही तो असीम सागर (समुद्र) है। जिस तरह से 'बूँद और समुद्र' का अस्तित्व एक–दूसरे से जुड़े हुआ है ठीक उसी तरह से व्यक्ति और समाज का भी अस्तित्व जुड़ता है। किसी एक के अभाव में दूसरे की कल्पना करना बेमानी होगी।

प्रकाशचन्द्र गुप्त की नज़र में 'बूँद और समुद्र' में नागर जी ने विशाल 'कैनवास' लिया है। छोटी–बड़ी अगणित रेखाएँ खींची हैं और उनमें विविध रंग भरे हैं। अतः उसको हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में रखा जा सकता है।[73] वास्तव में 'बूँद और समुद्र' का संसार व्यापक तथा विस्तृत है। इसमें मनुष्य की निजी भावनाओं, उलझनों, कुंठाओं और संघर्ष को एक पूरे नगर की सापेक्षता में रेखांकित किया गया है। टूटती हुई पुरानी व्यवस्था और जन्म लेती हुई नयी व्यवस्था के अन्तर्संबन्ध को दिखाने के लिए लेखक ने उपन्यास में कई–एक कथासूत्रों और जीवनखण्डों का समानांतर प्रयोग तथा चित्रण किया है। राजेन्द्र यादव 'बूँद और समुद्र' को हिन्दी के श्रेष्ठतम उपन्यासों में स्थान देते हैं। उनके अनुसार यह अपने वर्ग और काल (युग) की बेजोड़ तस्वीर है। उन्होंने लिखा है कि ''व्यक्ति को समाज के सन्दर्भ और परिपार्श्व में समझने और इस सारे समाज के विस्तृत विशद विहंगावलोकन के परिणामस्वरूप व्यक्ति को सामाजिक परिभाषा देने की दिशा में 'बूँद और समुद्र' अकेला है।''[74] देश–काल, पात्र, कथोपकथन की भाषा जितनी समर्थ नागर जी की है शायद उस युग के लेखकों में किसी की हो। विभिन्न प्रदेशों की बोलियों के शब्द नागर जी को मिल जाते हैं तथा जिस वर्ग की जो भाषा है वह उसी भाषा में बात करता हुआ उनके उपन्यासों में दिखेगा। शायद यही कारण है कि राजेन्द्र यादव ने 'बूँद और समुद्र' को 'गोदान' के बाद उत्तर भारतीय जीवन का दूसरा महाकाव्य माना है जिसमें आधी सदी बोलती है।[75] उनके मंतव्य में चाहे अतिशयता हो लेकिन यह कहना होगा कि नागर जी

के उपन्यासों में महाजनी सभ्यता व मध्यवर्ग की उठती रोशनी में राजा–रईसों के अंतिम दिनों के दम तोड़ते जीवन का चित्रण हुआ है।

'बूँद और समुद्र' अपने युग का आईना भी है जिसमें कमोवेश भारत का टुकड़ा प्रतिबिंबित होता है। 'व्यक्ति और समाज' के अन्तर्संबन्धों का लेखा–जोखा 'बूँद और समुद्र' देता है। मधुरेश लिखते हैं : ''बूँद और समुद्र व्यक्ति और समाज के अन्तर्संबन्धों का विश्वसनीय विश्लेषण तो है ही, हिन्दी में धुरीहीनता और अनास्था के उस दौर में यह मानवीय आस्था की खोज की दृष्टि भी महत्वपूर्ण है।''[76] नागर जी 'बँद और समुद्र' के माध्यम से मनुष्य के उस आत्मविश्वास की तलाश करते हैं जो उस समय क्षीण होता जा रहा था।

'अमृत और विष' कथ्य की दृष्टि से 'बूँद और समुद्र' की ही परंपरा में आता है। लेकिन इसका फलक 'बूँद और समुद्र' से आगे का और विस्तृत है। यह चौक तक सीमित न रहकर सम्पूर्ण लखनऊ को अपनी कथा का क्षेत्र बनाता है। आजादी के प्रथम पन्द्रह वर्षों का परिदृश्य उपन्यास में वर्णित हुआ है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक स्थितियों से उपन्यास अछूता नहीं रहा है। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है कि ''अमृत और विष संवादों का पिटारा नहीं है, यह एक उपन्यास है जिसका गठन एक संघर्ष को लेकर हुआ है। यह संघर्ष समाज के रूढ़िवादी, पुरातनपंथियों, भारतीय संस्कृति का दंभ करने वाले ढोंगियों, पूँजीपतियों, उनके दलालों तथा नई पीढ़ी के रास्ता खोजते हुए अपने अधिकारों के लिए जनता की सेवा करने वाले अपने ही भीतर पुराने संस्कारों से जूझते हुए नई पीढ़ी के युवकों के बींच है।''[77] इस संघर्ष में जीत नई पीढ़ी की होती है। हिन्दी का संभवतः यह पहला उपन्यास है जहाँ नई पीढ़ी (रमेश, लच्छू, रानी आदि) की भावनाओं, आकांक्षाओं, और संघर्ष को इतने विस्तार से जगह मिली है। उपन्यास का महत्व कथा–प्रसंग को लेकर भी है। इसमें दोहरा कथानक है। एक तो उसके नायक–लेखक अरविन्द शंकर का जीवन और दूसरा उस उपन्यास में क्रमशः वर्णित होता जीवन जिसे अरविन्द शंकर लिख रहे हैं। इस तरह अमृतलाल नागर दो कथावस्तुएँ एक साथ प्रस्तुत

कर रहे हैं। उपन्यास की सबसे बड़ी शिल्पगत विशेषता है और नागर जी की प्रयोगशीलता इस बात में है कि दोनों कथाएँ एक दूसरे के समानांतर चलती हुई रचना–प्रक्रिया पर भी प्रकाश डालती हैं। मधुरेश ने लिखा है–''अमृत और विष' उपन्यास प्रयोगशीलता की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण रचना है क्योंकि उपन्यास की मूलकथा के साथ इसमें अरविन्द शंकर नामक एक उपन्यासकार की संघर्ष कथा को भी पिरोया गया है–जिसमें एक लेखक के संघर्ष और संवेदना के बचाव की लड़ाई को उन्होंने गहरी हार्दिकता के साथ अंकित किया है।''[78] अरविन्द शंकर के स्वगत कथन को रामविलास जी ने उपन्यास का सबसे कमजोर हिस्सा माना है।[79]

उपन्यास का मूल कथ्य नेहरू–युग की नई पीढ़ी की हताशा, भटकाव, और महत्वाकांक्षाओं से संबद्ध है। राजनीतिक भ्रष्टाचार, युवा पीढ़ी का आक्रोश, रूढ़िवादिता, पूँजीपतियों की लूट, लेखक की संवेदनशीलता, बुद्धिजीवियों का चारित्रिक खोखलापन, सड़ती–गलती मान्यताएँ इत्यादि का सफल चित्रांकन नागर जी ने किया है। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है ''उपन्यास में भारत बोलता है। रूढ़ियों से सड़ता हुआ, रूढ़ियों से लड़ता हुआ, वीर रस के आलम्बनों के बिना, साधारण जनों की असंगतियों से भरे दलदल के ऊपर सर उठाता हुआ अपराजेय भारत।''[80] 'अमृत और विष' में केवल सामाजिक विसंगतियों का ही चित्रण नहीं है। बल्कि उन विसंगतियों से उबरने की अन्तर्दृष्टि भी है। परमानंद श्रीवास्तव ने लिखा है कि 'अमृत और विष' समाज–जीवन की त्रासद और क्षुद्र पहलुओं का विस्तृत इतिहास बन गया है जिसमें अंशतः जीवन को उचित दिशा की ओर प्रेरित करने वाली अन्तर्धाराएँ भी विद्यमान हैं। विष का प्रतीकार्थ एक बड़े हिस्से पर घटित होता है। इसलिए उपन्यास का यथार्थ अधिक कटु, भयानक और उत्तेजक है लेकिन व्यक्तिमन की अन्तर्धाराओं पर उपन्यास की पकड़ ढीली हैं।[81]

राही मासूम रजा ने 'आधा गाँव'(1966) में गाजीपुर जिले के गंगौली गाँव के आधे भाग में रहने वाले सैय्यद मुसलमानों की कहानी कही है। यह कहानी देश के स्वतंत्र होने, उसके दो टुकड़ों–पाकिस्तान और हिन्दुस्तान–में बँटने, जमींदारी के समाप्त होने, और नये

जमाने में राजनेताओं के रूप में एक अलग शक्तिशाली वर्ग के उदय की है। राही ने इसे गंगोली वाले समय की कहानी कहा है। उन्होंने लिखा भी है–''यह कहानी न कुछ लोगों की है, न कुछ परिवारों की। यह उस गाँव की कहानी भी नहीं है जिसमें इस कहानी के बुरे–भले पात्र अपने आपको पूर्ण बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह कहानी न धार्मिक है न राजनीतिक क्योंकि समय न धार्मिक होता है, न राजनीतिक.....और यह कहानी है समय ही की। यह गंगोली में गुजरने वाले समय की कहानी है।.....यह कहानी है उन खंडहरों की, जहाँ कभी मकान थे और यह कहानी है उन मकानों की जो खंडहरों पर बनाए गये हैं। और यह कहानी जितनी सच्ची है उतनी ही झूठी भी।''[82]

दरअसल राही ने 'आधा गाँव' के माध्यम से विभाजन तथा भारतीय मुसलमान का देशज व निम्नवर्गीय विमर्श रचने की कोशिश की है जिसमें सन् 1937 से लेकर 1952 के उन डेढ़ दशकों की कहानी कही गई है जिस समय सीमित मताधिकार पर आधारित प्रान्तीय असेम्बलियों के पहले चुनाव, द्वितीय विश्वयुद्ध, भारत छोड़ो आन्दोलन, पाकिस्तान का निर्माण तथा आजादी के बाद भारत का पहला आम चुनाव हुए थे। 'आधा गाँव' को एक आँचलिक उपन्यास मानकर केवल सैय्यद मुसलमानों के रीति–रिवाज तक ही सीमित करके देखना उचित नहीं। वीरेन्द्र यादव ने लिखा है कि ''यह वास्तव में दुर्भाग्यपूर्ण है कि हिन्दी के जिस अकेले उपन्यास 'आधा गाँव' विभाजन, सांप्रदायिकता और मुस्लिम अस्मिता के प्रश्न को उसकी संपूर्णता–संश्लिष्टता में कथात्मक बनाया गया है, उसे मात्र सैय्यदों की रीति–रिवाजों व आँचलिकता के विमर्श तक सीमित कर दिया जाता है।''[83] पता नहीं वीरेन्द्र यादव का किस पर आक्षेप है? वस्तुतः 'आधा गाँव' बदलते हुए केवल गंगोली का समाज ही नहीं, विभाजन और उससे प्रभावित हमारे पूरे समाज का भी एक जीवन्त दस्तावेज है। विभाजन और उसके फलस्वरूप भारतीय मुसलमान की मिली–जुली त्रासदी को यदि किसी एक उपन्यास के द्वारा समझा जा सकता है तो वह है 'आधा गाँव'। कुँवरपाल सिंह ने लिखा है कि ''राही का पूरा लेखन सांप्रदायिकता के विरूद्ध एक सतत संघर्ष है। उनका पूरा लेखन हिन्दुस्तानी सभ्यता–संस्कृति और उसकी विरासत का प्रबल

पक्षधर है। राही हमेशा उन शक्तियों और प्रवृत्तियों का विरोध करते रहे हैं जो भारतीय जनता की एकता को धर्म, संप्रदाय, क्षेत्रीयता, जातिवाद और भाषा के आधार पर अपने राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थों के लिए बाँट रही हैं।''[84] राही 'आधा गाँव' में मुसलमानों के उस पाकिस्तान–अभियान पर प्रश्न चिन्ह लगाते हैं जो हिन्दू–मुसलमानों के दो राष्ट्रों के सिद्धांतों को मानकर इस्लामी राष्ट्रवाद व भाईचारे का नारा बुलन्द करता था। उपन्यास में मुसलमानों की टूटती हुई स्थिति, उनकी पीड़ा, भय, आशंका, पाकिस्तान बन जाने के बाद का उनका दोचित्तापन और जमींदारी टूटने के बाद जमींदारों और नीची जातियों के संबंधों में होने वाले परिवर्तन का यथार्थ रेखांकन हुआ है। ''एक ठो बेटा रहा.....ऊ पाकिस्तान चला गया। एक ठो जमींदारी रही, उनको समझो कि पाकिस्तान चली गयी। अरे, जउन चीज हमारे पास ना है, ऊ पाकिस्तान न गयी? हमरे पास रह का गवा है? एक ठो बेवा बेटी, तीन ठो यतीम नवासे–नवासी, एक ठो बहू और उहो बेवा ही है। तीन ठो पोते–पोती, उहो को यतीम समझो।.....हमारी समझ में तो भाई, कुछ आता ना। नौ परानी का पेट कैसे चलाएँ?''[85]

एक समय में 'आधा गाँव' के ऊपर सबसे अधिक प्रहार उसमें उपस्थित गालियों को लेकर हुआ था और उसे अश्लीलता के कटघरे में लाकर खड़ा कर दिया गया था। इतना ही नहीं कई विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में से उसे यह कहकर निकाल दिया गया कि यह उपन्यास अश्लील है और साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देता है। स्वयं डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा था कि ''साम्प्रदायिकता तो नहीं पर अश्लील है और विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जाने लायक नहीं है।''[86] राही ने 'आधा गाँव' में भारतीय समाज के एक बड़े हिस्से–मुस्लिम समाज–के सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन को आधार बनाकर यह स्पष्ट किया है कि यह देश भारत, इसमें बसे सभी नागरिकों का है चाहे वे किसी भी धर्म के हों। उपन्यास में लेखक ने जमींदारी–व्यवस्था, ऊँची जाति के हिन्दू–मुसलमान तथा छोटी जाति के हिन्दू–मुसलमान में आए परिवर्तनों की बड़ी बारीकी से तफ्शीस की है और उसे आर्थिक प्रश्नों तथा सामाजिक सम्मान से जोड़कर देखा है।

परमानंद श्रीवास्तव ने लिखा है कि ''उपन्यास के अंतिम पृष्ठों तक आते–आते गंगोली जैसा एक समूचा अंचल एक बहुत ही महत्वपूर्ण और सार्थक प्रतीक में बदल जाता है, जो समय की तमाम विसंगतियों से उत्पन्न एक ऐतिहासिक ट्रेजडी का साक्षात्कार कराने में समर्थ है।''[87] यह 'ऐतिहासिक ट्रेजडी' भारत–विभाजन के रूप में हमारे सम्मुख आयी थी। दरअसल, भारत–विभाजन का प्रस्ताव चन्द नेताओं की स्वार्थपरस्ती के कारण हुआ था, इसमें आम जनता की राय नहीं ली गई थी। राही लिखते हैं कि ''हमारे देश के इतिहास की सबसे बड़ी ट्रेजडी यह है कि सन् 47 के अगस्त की पन्द्रहवीं से फौरन पहले अगस्त की चौदहवीं भी आई। मेरा उपन्यास 'आधा गाँव' उसी चौदह अगस्त के जहरीले समुद्र को बिलोकर अमृत निकालने की एक कोशिश है।''[88] गंगोली की कहानी केवल आप–बीती नहीं है। राही ने गाँव के बनते हुए आर्थिक संबन्धों, नये राजनीतिक प्रश्नों, सामाजिक समस्याओं और भारत–विभाजन की समस्या को बहुत गहराई से चित्रित किया है। 'आधा गाँव' की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में है कि पूरे परिवेश, उसकी समस्याओं और पात्रों को लेखक ने नज़दीक से देखा–परखा है।

मधुरेश ने लिखा है कि ''उच्चकुलीन मुसलमानों कुल–बधुओं के अन्तःपुर की भी अंतरंग झाकी प्रस्तुत की गई है। समय की प्रक्रिया में बदलते हुए गाँव को उसकी सघन होती पीड़ा और अवसाद को लेखक ने गहरी संवेदना से अंकित किया है।''[89] उपन्यास की केन्द्रीय वस्तु है 'समय की गति' और समय को ही उपन्यास का नायक माना जाना चाहिए क्योंकि उसी की गतिविधि से उपन्यास निर्मित हुआ है। कुँवरपाल सिंह का विचार है कि 'गोदान' और 'झूठा सच' के बाद 'आधा गाँव' इसकी अगली कड़ी है।[90] सच तो यह है कि कथ्य के लिहाज से आधा गाँव 'गोदान' से नहीं, 'झूठा सच' से जुड़ता है। कुँवरपाल सिंह 'आधा गाँव' से पूर्व के रेणु के महत्वपूर्ण उपन्यासों–'मैला आँचल', 'परती : परिकथा' और 'जुलूस'–का उल्लेख नहीं करते हैं जबकि सही मायने में 'आधा गाँव' को मैला आँचल की विरासत मिली है। सन् 1947 के बाद इस देश के आगे लूट–पाट, हत्या, हिंसा, घृणा, तथा अमानवीयता से जुड़े जो नये जीवन मूल्य बँटवारे के साथ उभरे उनकी

सही स्थितियों के विषय में कुछ कहने की दिशा में यशपाल, खुशवंत सिंह, कर्तार सिंह दुग्गल और भीष्म साहनी की अपेक्षा कहीं ज्यादा सही जगह पर खड़े होकर राही कुछ कहते हैं। राही का भारत के बँटवारे के प्रश्न पर दो–टूक खरी–खरी बातें करना साहस की बात तो है। लेकिन राही जब इस्लामी संस्कृति के भीतर से नवोदित पाकिस्तान परस्ती की वास्तविकता को खोलते हैं तो वह साहस जोखिम–भरा हो जाता है। राही के लिए अपनी जमीन की राष्ट्रीय पीड़ा का साक्षात्कार जितना प्रखर, तेज और ताजा है उतना ही क्रांतिकारी भी है।[91]

स्पष्ट है कि राही की राष्ट्रीय पीड़ा है–विभाजन। उपन्यास में विभाजन, इस्लाम और पाकिस्तान का जो विमर्श राही तैयार करते हैं वह किसी सैद्धांतिक बहस के लिए नहीं है। बल्कि उन ओझल सच्चाइयों को दृश्यबद्ध करने के लिए है जिससे इस विमर्श की गुत्थियों को खोला जा सके। विवेकी राय का यह सवाल है कि गंगोली में गुजरते समय की कहानी के भीतर सार्वभौम मानवीय स्थितियों की साझेदारी कितनी है?[92] इस सवाल के जवाब में कहा जा सकता है कि द्वितीय–विश्वयुद्ध के पश्चात् भारत में सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास नये औद्योगीकरण के साथ तीव्रगति से हुआ लेकिन 'आधा गाँव' का क्षोभ, बिखराव और मनोह्रास विराट मानव समुदाय से जुड़ता है। यह क्षोभ, बिखराव, देश के चुनाव–जैसे द्वन्द्व केवल 'आधा गाँव' के मुसलमानों के नहीं, बल्कि भारत के हर एक नागरिक को भी उद्वेलित करने वाले थे। वीरेन्द्र यादव ने लिखा है कि ''राही मासूम रजा झंगटिया चमाइन, दुलरिया भंगिन, मेहरुनिया व सैफुनिया नाइन, नईमा बीवी कुलसुम जुलाहिन सरीखे पात्रों के माध्यम से जहाँ नारी–विमर्श को सामाजिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हैं, वहीं वे सामंती अभिजात्य की पवित्रता व बड़प्पन के छद्म को भी बेपर्दा करते हैं।''[93]

प्रख्यात उर्दू कथा लेखिका कुर्रतुल ऐन हैदर की गाँव की स्त्रियों के संबंध में जो रोमाटिंक छवि रही है उसको राही ने तोड़ा है। निम्न जाति की स्त्रियों के माध्यम से राही जो विमर्श तैयार करते हैं वह सामंती समाज के पितृसत्तात्मक समाज के एक–एक रेशे को उघाड़कर रख देता है।

श्रीलाल शुक्ल के 'रागदरबारी' (1968) का हिन्दी कथा–साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान है। शुक्ल जी ने पूरा उपन्यास व्यंग्यात्मक शैली में लिखा है। यद्यपि कथा के केन्द्र में 'शिवपालगंज' (पूर्वांचल का एक गाँव है।) है, लेकिन यह कथा भारत के किसी भी गाँव की हो सकती है। स्थूलतः मुख्य समस्या शिवपालगंज के कॉलेज की है लेकिन सारी समस्याएँ–स्वार्थ, मूल्यहीनता, सड़ी–गली शिक्षा पद्धति, अमानवीयता, अवसारवाद, नैतिक गिरावट, कुत्सित राजनीति आदि– एक साथ जुड़ी हैं। गाँवों के आज के जीवन–यथार्थ को 'रागदरबारी' में अच्छी तरह से देखा जा सकता है।

श्रीपत राय ने 'रागदरबारी' को 'ऊब का महाग्रन्थ' तथा कुरचित कृति माना था और उसके अपठित रह जाने की भविष्यवाणी की थी। नेमिचन्द्र जैन ने असंतुष्ट, क्षुब्ध व्यक्ति की बेशुमार शिकायतों और खीझ भरे आक्षेपों का अन्तहीन सिलसिला कहा था।[94] गोपाल राय ने भी 'रागदरबारी' को एक असफल कृति माना क्योंकि उनके अनुसार लेखक ने उपन्यास और व्यंग्य जैसे दो परस्पर विरोधी अनुशासनों को एक दूसरे से जोड़ने का प्रयास किया है।[95] लेकिन इन आलोचकीय मंतव्यों के समानांतर 'रागदरबारी' के ऐसे अनेक प्रशंसक आलोचक भी हैं जो 'रागदरबारी' को कालजयी कृति का दर्जा देने में नहीं हिचकते।

श्यामाचरण दुबे का मंतव्य है कि ''विराट समाजशास्त्रीय कल्पना वाले बीस विद्वान ग्रामीण यथार्थ के बारे में जो नहीं कह सकते, वह इस उपन्यास में श्रीलाल शुक्ल ने कह दिया है।''[96] श्यामाचरण दुबे के उपर्युक्त विचारों के बावजूद 'रागदरबारी' को स्वीकृत अर्थों में केवल ग्रामीण यथार्थ–केन्द्रित उपन्यास कहना ठीक न होगा। दरअसल, उपन्यास का कस्बाई वातावरण गाँव–नगर का अंतर मिटाते हुए उन कुप्रवृत्तियों को भी रेखांकित करता है जो भारतीय जनतंत्र व विकास के मॉडल को खोखला बना रही है। यह केवल ग्रामीण जीवन का ही बड़ा दस्तावेज नहीं है बल्कि राजधानी और नगरो–कस्बों की भी भारी गिरावट का, निहित स्वार्थों एवं अवांछनीय तत्वों का भी। इस संदर्भ में 'रागदरबारी' की यह लेखकीय टीप बिल्कुल सटीक है ''रंगनाथ को शिवपालगंज के बारे में ऐसा लगने

लगा कि महाभारत की तरह जो कहीं नहीं है वह यहाँ है और जो यहाँ नहीं है, वह कहीं नहीं है।''[97] अपने आप में शिवपालगंज महत्वपूर्ण और प्रतिनिधि गाँव है। जिस समय 'रागदरबारी' लिखा गया वह राजनीतिक दृष्टि से नकारवाद का दौर था। इसलिए इसे एक प्रकार से नकारवादी प्रभाव की रचना कहा जा सकता है लेकिन यह नकारवाद किसी व्यक्तिगत कुंठा तथा निराशा का परिणाम न होकर उन सामाजिक विद्रूपताओं व कुरूपताओं की देन है, जिनकी जड़ें भारतीय समाज में गहरी होने लगी हैं।[98] अपने समय के उपन्यासों से आगे बढ़कर यह बिल्कुल अ–रूमानी दृष्टिकोण से आज के भारतीय जीवन की सारी विसंगतियों को उद्‌घाटित करता है। आज की राजनीति ने भारतीय गाँव की जिन्दगी को कितना तोड़ दिया है, उसमें किस तरह से अजनबी स्वर उभरे हैं–शुक्ल जी ने बहुत ही सहज ढंग से इस यथार्थ को रेखांकित किया है। वीरेन्द्र यादव ने लिखा है कि ''अपनी संपूर्णता में यह उपन्यास नेहरू युग की 'माइक्रो आलोचना' है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में 'वैद्य जी' सरीखे परजीवी वर्ग द्वारा जनतांत्रिक संस्थाएँ एवं विकास योजनाएँ किस प्रकार व्यक्तिगत हित साधन हेतु अपहृत कर ली गई, रागदरबारी इसकी मनोरंजक औपन्यासिक पैरोडी है।''[99]

'रागदरबारी' के केन्द्र में वैद्य जी की बैठक, छंगामल कॉलेज, कोऑपरेटिव सोसाइटी एवं ग्राम पंचायत जैसी संस्थाएँ हैं जो भारतीय समाज विकास की संवाहक हैं। आज के गाँव की सारी मूल्यहीनता को उपन्यास में श्रीलाल शुक्ल ने बड़ी निर्ममता के साथ साकार किया है। वीरेन्द्र यादव ने लिखा है कि ''वंशवाद, कुनबापरस्ती, जाति–प्रेम, राजनीति का अपराधीकरण और अपराध का राजनीतिकरण आदि वे सभी विकृतियाँ जो आज भारतीय जनतंत्र के लिए एक बड़ी चुनौती बन गई है, 'रागदरबारी' में उनकी पहचान की गई है।''[100] यह केवल शिवपालगंज की स्थिति नहीं है बल्कि भारत की स्थिति है, आजादी के बाद विकसित हुए हिन्दुस्तान की।

परमानंद श्रीवास्तव का विचार है कि ''आजादी के बीस वर्ष बाद के भारतीय लोकतंत्र के इस कठोर तटस्थ औपन्यासिक विवरण में सारा ही नैतिक या राजनीतिक अवमूल्यन

बड़े ही तीखे ढंग से व्यक्त हुआ है। गबन, भ्रष्टाचार, घूसखोरी, स्वार्थपरता और भारतीय लोकतंत्रात्मक जीवन के कितने ही गिरे हुए हीन पहलू यहाँ अविकल रूप में सामने आए हैं।''[101] यानी, 'रागदरबारी' अपने व्यापक अर्थों में नेहरूयुगीन भारतीय समाज का हास्यप्रद भाष्य है। 'रागदरबारी' की भूमिका में शुक्ल जी ने लिखा था कि ''गाँवों की राजनीति का जो स्वरूप यहाँ चित्रित हुआ है, वह आज के राष्ट्रव्यापी और मुख्यतः मध्यम और उच्च वर्गों के भ्रष्टाचार और तिकड़म को देखते हुए बहुत अदना जान पड़ता है और लगता है कि लेखक अपनी शक्ति कुछ गँवारों के ऊपर जाया कर रहा है। पर जैसे–जैसे उच्चस्तरीय वर्ग में गबन, धोखाधड़ी, भ्रष्टाचार और वंशवाद अपनी जड़े मजबूत करता जाता है, वैसे–वैसे आज से चालीस वर्ष पहले का यह उपन्यास और ज्यादा प्रासंगिक होता जा रहा है।''[102] कहना न होगा कि आज के गाँवों का स्वरूप पहले से भी अधिक विकृत होता जा रहा है। यह स्थिति केवल गाँवों में ही नहीं, नगरों में भी है।

'रागदरबारी' के लिए 'भारत की आत्मा गाँवों में बसती है' वाली अवधारणा कोई मायने नहीं रखती। प्रेमचन्द और रेणु के गाँवों से बिल्कुल हटकर श्रीलाल शुक्ल के गाँव हैं। यानी 'रागदरबारी' के लेखक ने गाँव के सनातन मिथक को तोड़ दिया है। यहाँ पर मैथिलीशरण गुप्त के अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है, क्यों न इसे सबका जी चाहे?' की कोई परिकल्पना नहीं मिलती। भारतीय ठेठ गाँव (शिवपालगंज) के माध्यम से श्रीलाल शुक्ल ने पूरे देश के पतन को दिखलाने की कोशिश की है। आलोचक सुवास कुमार का यह वक्तव्य ध्यान देने योग्य है–''रागदरबारी एक पक्षीय लेखन नहीं है। दरअसल यह महाभारत की भाँति सभी संबन्धित पक्षों की अनैतिकता, भ्रष्टता और फूहड़ता को तीखी व्यंग्य दृष्टि से तार–तार करता है। यहाँ तक कि जो पात्र कथा–विकास का माध्यम होने का भ्रम पैदा करता है, खुद उसकी क्षुद्रताओं को भी बख्शा नहीं जाता। इस तरह 'रागदरबारी' व्यंग्यपूर्ण आत्मालोचना का जीवन्त दस्तावेज बनता है और उसके इस 'आत्म' में समाज का हर पक्ष शामिल है।''[103] यानी किसी एक भी पक्ष की उपन्यास में केन्द्रीय भूमिका नहीं बन पायी है। सभी पक्षों की समान भूमिका है। लेखक ने अपने सभी पात्रों

(वैद्य जी, पं. कालिका प्रसाद, गयादीन, रूप्पन, रंगनाथ, सनीचर, लंगड़ आदि) को उनकी स्वाभाविक संपूर्णता में चित्रित किया है।

नित्यानंद तिवारी के लिए 'रागदरबारी' की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है वस्तुओं, घटनाओं, दृश्यों, व्यक्ति और वर्णन करने के ढंग में। उन्होंने लिखा है कि ''मुख्य धारा और उसके अनेक पहलुओं की ठीक पहचान होने के बावजूद यह उपन्यास वास्तविकता का वह परिपार्श्व उभारते रह जाता है जिसे 'वस्तु' कहते हैं।''[104] इसी तरह कुछ आलोचक उपन्यास में संघर्षशील पात्रों और मानवीय संवेदना का अकाल–सा पाते हैं। एक के अनुसार समूचे उपन्यास में लंगड़ एक मात्र ऐसा चरित्र है, जो संघर्षशील होने का आभास देता है। उपन्यास में दलित पृष्ठभूमि के होने का संकेत भी है। लंगड़ ''भगत आदमी है। कबीर और दादू के भजन गाया करता था। गाते–गाते थक गया तो बैठे–ठाले एक दिवानी का मुकदमा दायर कर बैठा।''[105] 'मुकदमे की नकल प्राप्त करने का उसका संघर्ष हास्यास्पद हो गया है, क्योंकि उसके मूल में अन्याय या शोषण का प्रतिरोध नहीं है'। ऐसे वक्तव्य से सहमत होना कठिन है।

अरूण कमल की राय में 'रागदरबारी' ऐसी पहली कृति है जिसने गाँव के साहित्य–सिंचित रोमान को, लोकतंत्र के पाखंड और स्वाधीनता के छद्म को बिना किसी रियायत के प्रस्तुत किया है।[106] यह कहा जा सकता है कि 'रागदरबारी' प्रचलित साहित्यिक मानदण्डों के भले ही उतना करीब नहीं है जितना की जिन्दगी के करीब। यहाँ मानव–जीवन का पूरा समाजशास्त्र है। इसकी सार्थकता और महत्व को रेखांकित करते हुए सुवास कुमार ने लिखा है कि ''रागदरबारी बीसवीं सदी के महत्वपूर्ण हिन्दी उपन्यासों में इसलिए आता है क्योंकि इसने हमारे राष्ट्रीय जीवन की निरर्थकता के विशाल बंजर में हँसी–मुसकराहट के रूप में जिजीविषा बोने की भरपूर कोशिश की थी। इसी में इसकी सार्थकता है और महत्व भी।''[107] स्पष्ट है कि आजादी के बीस वर्षों में हिन्दुस्तान की तस्वीर में अनेक रंगों को भरने की कोशिश की गई लेकिन सभी कोशिशें असफल रहीं। देश की जनता को नेहरू से जो आशाएँ, आकाक्षाएँ और उम्मीदें थीं वो सब एक–एक

करके मरती रहीं। इसलिए 'रागदरबारी' के व्यंग्य के माध्यम से लेखक ने व्यक्ति–जीवन में जीवन की चाह पैदा करने की सफल कोशिश की है। सुवास कुमार ने लिखा है ''श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य में एक ऐसी ओढ़ी हुई निस्संगता है जिसकी आड़ में वे करुणा भाव को प्रच्छन्न रखने का प्रयत्न करते हैं। उनके औपन्यासिक स्थापत्य की भीतरी बुनावट में जीवन के प्रति गहरी आस्था झलक मारती है। यह गहन मानवीयता ही इस कृति को क्लैसिक का दर्जा दिलाती है।''[108]

राजेश जोशी ने 'रागदरबारी' को एक ऐसे रूपक के रूप में देखा है जिसने आजादी की कथा और आजादी के बाद के बने शक्ति केन्द्रों को महीन कुशाग्रता से उजागर किया है।[109] मधुरेश को 'रागदरबारी' में पैरोडी और कार्टून के तत्व अधिक दिखते हैं जिसका कोई दूरगामी और स्थायी प्रभाव नहीं होता। उन्होंने लिखा है कि ''रागदरबारी अपनी संरचना में बहुत कुछ ऐसे चमत्कारी झोले की तरह है जिसमें लेखक रास्ता चलते सब कुछ उठाकर रखते चलने की छूट चाहता है। अपने समय की विद्रूपताओं के प्रति वह एक तीखी और तल्ख टिप्पणी है।''[110] शिवकुमार मिश्र को श्रीलाल शुक्ल के यहाँ गाँवों के प्रति कोई संवेदनात्मक लगाव नहीं दिखाई देता। उन्होंने लिखा है कि ''रागदरबारी आजादी के बाद गाँवों की सतह पर बजबजा रही विकृति का आख्यान है जो इतनी विरूप और वीभत्स है कि असहनीय है।''[111] मिश्र जी की श्रीलाल शुक्ल से शिकायत है कि साधारण जन के बीच से, उस विकृति की शिकार मनुष्यता के बीच से एक भी ऐसे चेहरे को नहीं उभारते जो इस आकांक्षा को बल दे कि समाज तथा सत्ता के प्रभुओं का कारोबार अधिक दिनों तक नहीं चलेगा।[112]

'धरती धन न अपना' (1972) उपन्यास में जगदीशचन्द्र ने पंजाब के साधनहीन, पराश्रित, अपढ़ और शताब्दियों से अनेक तरह के अभावों से जूझ रहे हरिजनों के उत्पीड़न की कथा लिखी है। उपन्यास के प्रकाशित होने के बाद इसे प्रेमचन्द की परंपरा के विकास के रूप में देखा गया। (लेकिन दलित–विमर्श से जोड़कर देखने का प्रयास नहीं हुआ।) सन् 1990 ई. के बाद से हिन्दी साहित्य में जब दलित साहित्य केन्द्र में आने लगा तब 'धरती

धन न अपना' का भी पुनर्मूल्यांकन हुआ और इसे दलित–विमर्श से जोड़कर देखे जाने लगा।

मार्क्सवादी आलोचक शिवकुमार मिश्र का विचार है कि ''जगदीशचन्द्र ने 'धरती धन न अपना' में रेणु की नहीं, ग्राम–केन्द्रित उपन्यासों की प्रेमचन्द की इसी यथार्थवादी परंपरा को विकसित किया है, प्रेमचन्द से आगे जाकर उसे समृद्ध किया है, उसे और भी शक्ति सम्पन्नता के साथ आगे के रचनाकारों के लिए एक चुनौती फेंकी है।''[113] स्पष्ट है कि मिश्र जी का सारा जोर इस बात में है कि 'धरती धन न अपना' को आँचलिक उपन्यासों की परंपरा में न रखा जाय बल्कि उसे प्रेमचन्द की यथार्थवादी परंपरा में रखा जाय। उसी क्रम में उन्होंने आगे लिखा है कि ''धरती धन न अपना' में लेखक ने यथार्थवाद को समृद्ध किया है। स्थानीय विशिष्टताओं के बावजूद उन्होंने आँचलिक रूपवाद को अपनी रचनाशीलता को विरूप व क्षतिग्रस्त नहीं करने दिया है। उनके चित्रित गाँव तथा पात्र अपनी विशिष्टता के साथ जुड़ते और एक होते हैं। हिन्दुस्तान के उन दूसरे हजार गाँवों और अंचलों से जिनकी छाती पर असंख्य घोड़ेवाहा और चमादड़ी पनपा रहे हैं अपने वैसे ही सुख–दुःख और यातनाओं को लिए हुए।''[114] मिश्र जी पता नहीं किस तर्क से आंचलिकता को रूपवाद समझ बैठे हैं। वे जगदीशचन्द्र के उपन्यास में स्थानीय विशिष्टताओं यानी आंचलिकता को स्वीकार करते हैं लेकिन यह आंचलिकता रेणु की आंचलिकता से भिन्न है। दूसरे मार्क्सवादी आलोचक रमेशकुन्तल 'मेघ' भी 'धरती धन न अपना' में आंचलिकता का एक रूप देखते हैं, पर चिढ़ते नहीं हैं। वे वहाँ सामंतीय तत्वों की खोज करते हैं। वस्तुतः इस उपन्यास को आंचलिक उपन्यास नहीं माना जा सकता। मेघ जी उचित ही 'धरती धन न अपना' में 'आंचलिकता का एक रूप' पाते हैं, क्योंकि घोड़ेवाहा कोई आदिम इलाका नहीं है, घोड़ेवाहा में कबीलाई समाज रचना न होकर पिछड़ी हुई सामंतीय रचना है, चमादड़ी में सांस्कृतिक सौन्दर्य तथा सांस्कृतिक पर्वों के बजाय यथार्थ–चित्रण और सामाजिक अन्यायों को उभारा गया है।''[115] 'धरती धन न अपना' नायक–विहीन भी नहीं। उपन्यास का आरंभ केन्द्रीय चरित्र काली के गाँव

(घोड़ेवाहा, जिला–होशियारपुर, पंजाब) लौटने से होता है और उपन्यास का अंत उसके पुनः गाँव छोड़ने से। उपन्यास में चित्रित प्रत्येक परिस्थिति भूमिहीन चमारों की उदास व यंत्रणादायक दुर्दशा को चित्रित करती है।

दरअसल, दलित–जीवन के यथार्थ–चित्रण के साथ–साथ उपन्यासकार ग्रामीण समाज के समाजार्थिक अंतर्विरोधों को भी चित्रित करने में सफल रहा है। चमार सिर्फ चौधरियों के हाथों की ही यंत्रणा नहीं भोगते वे अपने समाज के सांस्कृतिक मूल्यों के भी दमन के शिकार होते हैं। उनमें धर्म का अंधविश्वासी रूप मौजूद है तथा एक आचारमूलक अंतर्विरोध भी दिखाई देता है। जब चमारों की बहू–बेटियाँ चौधरियों द्वारा भोगी जाती हैं (प्रीतो, पाशो, लच्छो) तब वह विवश स्वीकृति है, लेकिन काली और ज्ञानों के प्रेम को उन्हीं का समाज स्वीकार नहीं कर पाता है। यहाँ वह उच्च समाज उच्चवर्गीय नैतिकता की नकल में जकड़ा है। रमेशकुन्तल मेघ 'धरती धन न अपना' को धरती के दुखियारों का समाजार्थिक दस्तावेज मानते हैं तथा उनकी राय में उपन्यास में आंचलिक कथा–यात्रा की प्राकृतिक–सांस्कृतिक धुरी की अपेक्षा सामाजिक–आर्थिक धुरी अधिक गतिमान है और इसमें रोमाटिंक रूझान शैलीवादी मुहावरों, भावुक सूत्र, व्यक्तिवाद की अहंता तथा अन्तर्मुखी फॅन्तासियाँ नहीं हैं।[116]

उपन्यास का कथानायक (काली) भूमिहीन मजदूर है। वह छः साल पहले अभावग्रस्तता में गाँव छोड़कर रोजी–रोटी की तलाश में शहर चला गया था। वहाँ से लौटने के पश्चात् उसे लगता है कि गाँव तनिक भी नहीं बदला। अभाव, भुखमरी, शोषण का सिलसिला वैसा ही है जैसा कि छः साल पूर्व था। घोड़ेवाहा में ''जब किसी चौधरी की फसल चोरी हो जाती है, बरबाद कर दी जाती, चमार चौधरी के काम पर न जाता था फिर किसी चौधरी के अन्दर जमीन की मिलकियत का एहसास जोर पकड़ लेता तो वह अपनी साख बनाने और चौधराहट मनवाने के लिए इस मुहल्ले में चला आता है।''[117] सुधीश पचौरी उपन्यास के कथानायक (काली) को 'पेटी बुर्जुआ' वर्ग से जोड़कर देखते हैं। उनके अनुसार वह (काली) पूँजी और स्वामित्व के प्रति आग्रह की भावना रखने वाला है और

उसके महत्व को समझता है। वह अपने अल्प धन और तज्जनित साख के बल पर शोषित भू–दासों के बीच रहकर अपनी प्रतिष्ठा कायम करना चाहता है।[118] आगे उन्होंने लिखा है कि ''पंजाब में कृषि संबन्धों के 'पूँजीवादी विकास' की दावेदार भारत सरकार और उसके कमरे बुद्धिजीवियों के द्वारा पंजाब के कृषि–संबन्धों के बारे में फैलाए गये भ्रमों को तोड़ते हुए यह उपन्यास वस्तुतः भारत में कृषि के सामंतीय ढाँचे पर एक ऐसी टिप्पणी है जो अपनी वस्तुगत स्थिरता में भी हमें आज के सामाजिक यथार्थ से साक्षात्कार कराने में सक्षम है।''[119] पंजाब के गाँवों में चौधरियों (बड़े जाटो–जमींदारों) का दबदबा उनके द्वारा महाजनी या सूदखोरी के रूप में शोषण, भारत की दूसरी जगहों की तरह ही है। स्वयं चमादड़ी में मंगू जैसे जमींदारों के चाटुकार व अपने समुदाय के दुश्मन, चमारों को गैर–इंसानी जीवन जीने पर मजबूर करना, खेतों में प्राकृतिक कर्म के लिए जाना बन्द करना आदि स्थितियों का 'धरती धन न अपना' में विस्तार से अंकन हुआ है।

मधुरेश ने लिखा है कि 'धरती धन न अपना' दलित–वर्ग के जीवन का बहुत ही प्रामाणिक साक्षात्कार है जिसमें उनकी क्षुद्रताओं, द्वेष और स्वार्थों के प्रति लेखक कहीं भी उदास नहीं रहा है।[120] स्वातंत्र्योत्तर काल के हिन्दी उपन्यास की विकास यात्रा में 'धरती धन न अपना' को कात्यायनी ने 'मील का पत्थर' माना है उन्होंने लिखा है कि ''भारतीय समाज के अस्पृश्य हरिजनों की जीवन–स्थितियों, मूल्यों मान्यताओं, धारणाओं–परंपराओं, आकांक्षाओं के व्यापक और सूक्ष्म चित्रण के मामले में 'धरती धन न अपना' का स्थान वैसा ही है जैसा कहानियों के बीच प्रेमचन्द की 'सद्गति', 'ठाकुर का कुआँ' और 'कफन' जैसी कहानियाँ।''[121] स्पष्ट है कि हरिजनों की समस्याओं पर लिखे गये उपन्यासों में 'धरती धन न अपना' विशिष्ट स्थान का अधिकारी है। यह उपन्यास जिस समय लिखा गया था उस समय हिन्दी दलित साहित्य की कोई चर्चा नहीं थी। अपनी संपूर्णता में यह उपन्यास हमारे निम्नवर्गीय समाज का आईना है।

'तमस' भीष्म साहनी का सबसे चर्चित उपन्यास रहा है। उपन्यास की पृष्ठभूमि में देश–विभाजन के समय की घटनाएँ हैं। यह दौर देश के आधुनिक इतिहास का सबसे

दुःखद अध्याय है। भीष्म साहनी ने सन् 1947 के मार्च–अप्रैल में हुए भीषण साम्प्रदायिक दंगे के पाँच दिनों की कहानी इस रूप में प्रस्तुत की है कि देश–विभाजन के पूर्व की सामाजिक मानसिकता और उसकी अनिवार्य परिणति की विभीषिका की तस्वीर पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है। यह राजनीतिक चेतना का उपन्यास है लेकिन यह केवल राजनीतिक घटनाओं तक सीमित नहीं। राजनीति की विसंगतियों से उत्पन्न सामाजिक विभीषिकाओं, साम्प्रदायिक सद्भाव के टूटने तथा मानवता के लहूलुहान होने का बड़ा ही हृदय द्रावक चित्रण यहाँ हुआ है।

राजेन्द्र यादव के विचार में 'तमस' एक योजनाबद्ध रचना है। यह उपन्यास सांप्रदायिक विस्फोट के कार्य–कारण का समानान्तर अध्ययन करता। यहाँ स्थितियाँ विकसित नहीं होतीं, उद्घाटित होती है–कुछ–कुछ जासूसी उपन्यास की तरह।[122] राजेन्द्र यादव इसलिए 'तमस' में एक किस्म का बिखराव पाते हैं जिससे उपन्यास में संवेदना का अभाव हो गया है। उन्होंने लिखा है कि ''अपने स्वरूपात्मक बिखराव के कारण यह न तो तत्कालीन संवेदना की पुनर्सृष्टि कर पाता है, न अपनी योजना–बद्धता के कारण उस आतंक के दबाव की। ऐसा शायद तभी संभव था जब इसे बिखरी–बिखरी कथाओं के संकलन के स्थान पर किसी एक व्यक्ति या परिवार के आत्मीय–चित्रण के रूप में लिखा जाता....महान रचना की सारी संभावनाओं के बावजूद 'तमस' एक बहुत सुथरा और अच्छा उपन्यास बनकर रह गया है।''[123] राजेन्द्र यादव के मंतव्य से पूरी तरह असहमत नहीं हुआ जा सकता है। 'तमस' (अंधेरा) का विभाजन विमर्श केवल हिन्दू–मुसलमान या भारत–पाकिस्तान का तो है ही, बल्कि अंग्रेज बनाम हिन्दुस्तानी और सांप्रदायिक बनाम राष्ट्रवादी का भी है। सांप्रदायिकता कितनी गलत और व्यर्थ चीज है, यह दिखाने के लिए भीष्म साहनी ने ऐसे लोगों को मरते दिखाया है जो बिल्कुल निर्दोष हैं। रमेश उपाध्याय की राय में ''भीष्म साहनी ने व्यंग्य–विद्रूप वाली शैली में बहुत–सी चीजों का फालतूपन उजागर करते हुए उन तत्वों की तरफ पाठक का ध्यान खींचने की चेष्टा की है जो जनता को अज्ञान में रखते हैं और उसके अज्ञान–अंधकार का लाभ उठाकर उसकी

भावनाओं को गलत दिशा में मोड़ देते हैं।''[124] मुसलमान मुरादअली शहर में तनाव बढ़ाने के लिए सुअर को मरवाकर उसे मस्जिद की सीढ़ियों पर फिंकवा देता है और मुसलमानों को इस बात के लिए उकसाता है कि हिन्दुओं से बदला लेने के लिए गाय को मारे। लेखक उपन्यास में मुरादअली जैसे–पर्दे के पीछे छिपे–लोगों के इरादों को जाहिर करता ही है साथ में उस धार्मिक बेवकूफी को भी स्पष्ट कर देता है कि सुअर और गाय की हत्या का बदला मनुष्यों को मारकर लिया जाता है।

राजेश्वर सक्सेना की राय में 'तमस' में सांप्रदायिकता की लीला अधिक है, लेखक मार–काट, हत्या, लूट के चित्रण में रूपवादी–सा हो गया है। उसका इतिहास–बोध केवल स्मृति–दर्पण बनकर रह गया है।[125] कहना सही होगा कि 'तमस' सांप्रदायिकता के अंधकार पर लिखा गया एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह धर्मान्धता के क्रूरतम रूपों को रेखांकित करता है जिसमें सहिष्णुता और सद्भावना पूरी तरह नष्ट हो चुकी है। 'तमस' में सांप्रदायिकता केन्द्र में है मगर कथा के अर्थ–विस्तार को सीमित करके नहीं देखा जाना चाहिए। उसमें सत्ता के कुचक्रों की भी कहानी है जो अपने स्वार्थों के लिए किसी भी सीमा तक जा सकती है। इसका सबसे बड़ा प्रतिनिधि है अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड।

मधुरेश ने लिखा है कि ''आदमी की सद्प्रवृत्तियों पर छा जाने वाला तमस ही इस पूरे उपन्यास पर छाया हुआ है। लेखक का सारा कौशल इसी में निहित है कि एक ओर जहाँ उसने इस अंधेरे में छिपे चेहरों की वास्तविकता को उद्घाटित किया है, वहीं दूसरी ओर इन चेहरों के पारस्परिक क्रिया–कलाप द्वारा घने होते इस अंधेरे के स्वरूप को भी स्पष्ट कर सका है।''[126] यह उपन्यास भारत–विभाजन के समय की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों, समस्याओं एवं चुनौतियों को समझने की एक ईमानदार कोशिश है। परमानंद श्रीवास्तव की नज़र में 'तमस' का यथार्थ कहीं अधिक जटिल और भयावह है। यह उपन्यास आजादी कू बाद के सांप्रदायिक उन्माद और उसमें जन्म लेने वाले सांप्रदायिक राष्ट्रवाद की धज्जियाँ उड़ता है।''[127] शिवकुमार मिश्र ने

'तमस' को समय के एक विशेष दौर में देश के राजनीतिक–सामाजिक जीवन और देश–मानस पर छाए अंधकार के प्रतीक के रूप में देखा है।[128] यह अंधकार अचानक से पैदा नहीं हुआ है बल्कि सदियों से हिन्दु–मुसलमानों के मन में संदेह, अविश्वास, अलगाव, नफ़रत के रूप में धीरे–धीरे जन्मा और पनपा है। शिवकुमार मिश्र ने लिखा है कि ''तमस भीष्म जी की कालजयी कथा–कृति है। जब तक दुनिया है और दुनिया में मनुष्य नामक प्राणी है, तमस की संभावना बनी रहेगी, परन्तु उसके साथ इसी मनुष्य के जरिए जगाए हुए ज्योति के वे स्फुलिंग भी रहेंगे जो उस तमस में सुराख करेंगे, उसे आहत करेंगे, उसे आदमी की नियति नहीं बनने देंगे।''[129] स्पष्ट है कि मिश्र जी के लिए तमस का अंधेरा केवल सांप्रदायिक का अंधेरा नहीं है बल्कि वह औपनिवेशिक गुलामी का भी अंधेरा है। जिसमें गुलाम मानसिकता की अपनी पीड़ा, बेबसी भी घुल–मिल गयी है।

वीरेन्द्र यादव लिखते हैं कि ''तमस का ताना–बाना कांग्रेस के राष्ट्रवाद, मुस्लिम लीग के अलगाववाद और अंग्रेजों की लूटपरस्ती के जिस सरलीकृत विभाजन–विमर्श पर टिका है, वहाँ उस बेबाक पड़ताल की गुंजाइश नहीं है, जो कांग्रेस की राष्ट्रवादी संरचना में सुराख करती है।''[130] 'तमस' के विभाजन–सूत्र अंग्रेज डिप्टी कलेक्टर रिचर्ड और उस मुराद अली के हाथ में है जो दंगा कराने से लेकर 'अमन कमेटी' जिन्दाबाद तक के नारे लगाता है। 'तमस' में तो ''फसाद करने वाला भी अंग्रेज, फसाद रोकने वाला भी अंग्रेज, भूखों मारने वाला भी अंग्रेज, रोटी देने वाला भी अंग्रेज, घर से बेघर करने वाला भी अंग्रेज, घरों में बसाने वाला भी अंग्रेज...।''[131] स्पष्ट है कि उपन्यास में दंगे कराने का सूत्रधार रिचर्ड है क्योंकि अंग्रेजों की नीति रही है कि 'फूट डालो और राज करो'। रिचर्ड नहीं चाहता कि हिन्दू–मुसलमान एकजुट रहें। कृष्णा सोबती ने लिखा है कि ''तमस जिन्दगी की छोटी–बड़ी लड़ाइयों की कहानी नहीं है। यह विभाजन जैसी ऐतिहासिक घटना का संघर्ष का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है, जिसमें एक साथ लाखों लोग अपने–अपने ठिकानों से उखड़े थे।''[132] 'तमस' का महत्व इस बात में है कि लेखक ने सांप्रदायिकता फैलाने वाले तत्वों के चरित्र की कारगुजारियों को रेखांकित किया है। यही

कारण है कि विभाजन पर लिखे गये अन्य उपन्यासों से वह इसी बात में भिन्न भी है। हिन्दू–मुसलमान के आपसी वैमनस्य को उस वैमनस्य के कारणों, परिणामों और उससे जुड़े सन्दर्भों को भीष्म जी यथार्थ रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह संभव हुआ है उनके वस्तुपरक एवं तटस्थ दृष्टिकोण से। भीष्म जी उपनिवेशवाद के तहत सांप्रदायिकता का एक तटस्थ समाजशास्त्रीय विमर्श भी रचते हैं।

विनोद कुमार शुक्ल का 'नौकर की कमीज' (1979) उपन्यास अपने काव्यात्मक यथार्थवाद (पोयटिक रियलिज्म) के लिए बेहद चर्चित रहा है। इसमें एक ऐसा मध्यवर्गीय परिवार है जिसकी बहुत कम जरूरतें हैं, बहुत कम दिखावा है और परस्पर बहुत गहरा प्रेम है। स्थूल रूप से–यह घटना– विहीन उपन्यास है। कुल घटना घर से दफ्तर जाने और दफ्तर से घर आने तक सीमित है। एक संगोष्ठी में (कथाक्रम–98) में नामवर सिंह ने कहा था कि उपन्यासों की दुनिया में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन 'नौकर की कमीज से आया' है जिसने अर्से से चली आ रही परंपरा को तोड़ा, यह स्वागत योग्य है।[133] मध्यवर्ग की रोजमर्रा जिन्दगी का जिस सलीके से चित्रण 'नौकर की कमीज' में हुआ है वह और दूसरे उपन्यासों में नहीं दिखाई देता। दरअसल 'नौकर की कमीज' एक फंतासी है लेकिन उसमें एक त्रासदी भी छिपी हुई है जहाँ व्यवस्था की चोट से एक भरा–पूरा आदमी इंसानी ढाँचे में तब्दील हो जाता है जिसे पहले से तैयार 'कमीज' में 'फिट' किया जा सकता है।

'नौकर की कमीज' मुख्य रूप से तयशुदा वेतन पाने वाले संतू बाबू की कथा है। तयशुदा वेतन उनका कटघरा है, जो उनपर कमीज की तरह फिट बैठता है। संतू बाबू की बेचैनी, उनकी छटपटाहट कथा की पुरानी भाषा और ढाँचे में फिट नहीं सकती इसलिए विनोद कुमार शुक्ल उस ढाँचे को तोड़कर एक ऐसे नये ढाँचे को निर्मित करते हैं जो कथा के लिहाज से स्वाभाविक लगता है। कथाकार कमलेश्वर ने अपने साक्षात्कार में कहा था कि 'नौकर की कमीज' ने उपन्यास की संरचना को नई दिशा दी। उसकी संवेदना विषयवस्तु से गहरे स्तर पर गुँथी है। यह आज भी हिन्दी उपन्यास का नया प्रस्थान बिन्दु है जिसकी 'थीम' बड़ी है।[134] संतू बाबू का संघर्ष 'कुछ बदलने' के लिए है

लेकिन यह बदलना कुछ पाने का नहीं, बल्कि जो कुछ है उसे बचाए रखना चाहते हैं। इसलिए उनका संघर्ष तो सहज–स्वाभाविक लगता है लेकिन उनका विद्रोह बनावटी और काल्पनिक लगता है। वैसे विनोद कुमार शुक्ल ने भारतीय मध्यवर्गीय नौकरीपेशा जीवन की विसंगतियों तथा विडम्बनाओं को नया स्वर दिया है। संतू बाबू के जीवन से जुड़े रोजमर्रा के छोटे–छोटे ब्यौरों के जरिए बड़ी–बड़ी समस्याओं को कैनवास पर उतारा है। उनके छोटे–छोटे वाक्यों में अनुभव और यथार्थ का पैनापन है, जिसकी मारक क्षमता केवल तिलमिलाहट ही नहीं पैदा करती बल्कि बहुत अन्दर तक भेदती चली जाती है।

कथाकार–आलोचक दूधनाथ सिंह के लिए 'नौकर की कमीज' महज भाषा का खेल है। उन्होंने लिखा है कि ''विनोद कुमार शुक्ल तो महज भाषा का खेल ही पैदा करते हैं। इसके अलावा हिन्दी उपन्यास में उनका कोई योगदान नहीं है....शुक्ल की कोई 'आयडियोलॉजी' नहीं है। उनकी 'आयडियोलॉजी' है : जितना जीवन है उसमें मगन रहो, दूसरी बातों के बारे में चिन्ता बेकार है।''[135] दूधनाथ सिंह के उपरोक्त विचारों से किसी को भी ऐतराज हो सकता है। ऐसा क्यों है कि साहित्य में मूल्य–दृष्टि की उतनी खोज नहीं होती है जितनी विचारधारा की। यह सही है कि विनोद कुमार शुक्ल ने के यहाँ भाषा का खेल है लेकिन यह रूपवाद नहीं। उनकी भाषा की रचनात्मकता में गहरा जीवन–मर्म होता है। कह सकते हैं कि हिन्दी उपन्यास में उनके योगदान का सही आकलन नहीं हुआ है। हर रचना में विचारधारा के खोजी वीरेन्द्र यादव को अगर 'नौकर की कमीज' में एक रहस्यालोक नज़र आता है[136] तो इसमें क्या आश्चर्य? लेकिन यह रहस्यालोक किस तरह का है इस पर वे कोई बात नहीं करते।

संतू बाबू के समक्ष 'नौकर की कमीज' का खतरा है जो उन्हें नौकरों के संसार में ढकेलती है। उपन्यास में अंत में कमीज के टुकड़े–टुकड़े करके इसे जला दिया जाता है जो एक विद्रोह का प्रतीक है। संतू बाबू का दुःख 'गोदान' के होरी के या 'मैला आंचल' के बावनदास की तरह हालात के बरक्स उनके मन में उभरता है। मार्क्सवादी आलोचक स्व. कमला प्रसाद ने लिखा है कि विनोद कुमार शुक्ल पूरे जीवन–व्यापार के लेखक हैं।

उनका रचनाकर्म साधारण को असाधारण में बदलता है, उनका स्वभाव दुनिया को रूपात्मक दृश्यों में देखने का है। पेड़, चिड़िया, नदी, आकाश, चाँद–तारे, आदमी को एक दृश्य रूप में देखते हैं।[137] यह सब उनकी भाषा के कारण संभव हो पाया है। लेखक की दृष्टि से रोजमर्रा की छोटी–छोटी चीजें भी ओझल नहीं हो पायी है। ज्योतिष जोशी ने लिखा है कि ''नौकर की कमीज के माध्यम से विनोद कुमार शुक्ल ने उपन्यास के पारंपरिक शिल्प को तोड़कर एक मध्यवर्गीय क्लर्क की यातना को दिखाते हुए भारतीय व्यवस्था की विडम्बना को तार–तार कर दिया है।''[138] दरअसल भारतीय व्यवस्था की विडम्बना यह है कि आज भी सांमती मानसिकता की जड़ें समाज के भीतर मौजूद है। डॉक्टर साहब को एक ऐसे नौकर की जरूरत है जो पहले से बनी–बनाई कमीज में फिट हो सके। यह उसी मानसिकता का परिचायक है। व्यवस्था का एक स्थायी ढाँचा है जिसमें आदमी को 'फिट' कर बड़े यंत्र के छोटे पुर्जे के रूप में बदल कर उसका व्यक्तित्व खत्म कर दिया जाता है।

विनोद कुमार शुक्ल का काव्यात्मक यथार्थवाद और भी निखरकर चर्चित कृति 'दीवार में खिड़की रहती थी' में प्रस्तुत हुआ है।

lUnHkZ xzUFk&lwph

1. मुर्दों का टीला (भूमिका) – रांगेय राघव, पृ. 05
2. रांगेय राघव (मोनोग्राफ) – मधुरेश (साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, द्वितीय सं. 1990) पृ. 25 पर उद्धृत
3. वही, पृ. 25 पर उद्धृत
4. वही, पृ. 26
5. हिन्दी उपन्यास जनवादी परंपरा – संपा. कुँवरपाल सिंह व अजय बिसारिया (नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2004) पृ. 122
6. रांगेय राघव (मोनोग्राफ़), पृ. 27
7. यशपाल : पुनर्मूल्यांकन – संपा. कुँवरपाल सिंह, पृ. 103
8. दे. वसुधा, वर्ष 2, अंक 10, फरवरी 1958, में प्रकाशचन्द्र गुप्त का लेख 'आज का हिन्दी उपन्यास' पृ. 18
9. आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि – प्रकाशचन्द्र गुप्त, पृ. 180
10. दे. वसुधा, वर्ष 2, अंक 10, फरवरी 1958, में प्रकाशचन्द्र गुप्त का लेख 'आज का हिन्दी उपन्यास' पृ. 18
11. आधुनिक हिन्दी उपन्यास – संपा. नरेन्द्र मोहन (मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1975)
12. रांगेय राघव (मोनोग्राफ), पृ. 54
13. हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष – संपा. डॉ. रामदरश मिश्र, पृ. 69
14. यशपाल : पुनर्मूल्यांकन, पृ. 101
15. साहित्य और हमारा समय – कुँवरपाल सिंह (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2002) पृ. 69
16. अठारह उपन्यास – राजेन्द्र यादव, पृ. 205–206
17. वही, पृ. 205–206
18. आधुनिक हिन्दी उपन्यास – संपा. भीष्म साहनी व अन्य (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1980) पृ. 223
19. आस्था और सौन्दर्य – रामविलास शर्मा, पृ. 130
20. हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष – संपा. रामदरश मिश्र, पृ. 72

21. अधूरे साक्षात्कार, पृ. 135
22. मैला आँचल (भूमिका) – फणीश्वरनाथ रेणु, (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, आठवाँ सं. 1992)
23. दे. वसुधा, वर्ष 2 अंक 10, फरवरी 1958, में प्रकाशचन्द्र गुप्त का लेख 'आज का हिन्दी उपन्यास' पृ. 20
24. फणीश्वरनाथ रेणु और मार्क्सवादी आलोचना – संपा. मधुरेश (यश पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्र. सं. 2008) पृ. 65
25. आलोचना के मान – शिवदान सिंह चौहान, संपा. विष्णुचन्द्र शर्मा (स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1958) पृ. 74
26. मैला आँचल, पृ. 174
27. आस्था और सौन्दर्य – रामविलास शर्मा, पृ. 100
28. वही, पृ. 100
29. वही. पृ. 101
30. वही, पृ. 97
31. व्ही, पृ. 97
32. मैला आँचल का महत्व – संपा. मधुरेश, पृ. 12
33. वही. पृ. 18
34. आंचलिकता, यथार्थवाद और फणीश्वरनाथ रेणु – सुवास कुमार (साहित्य सहकार, कृष्णनगर, दिल्ली, प्र. सं. 1992) पृ. 09
35. साहित्य और सामाजिक सन्दर्भ – शिवकुमार मिश्र (कला प्रकाशन, शहदरा, दिल्ली 1977) पृ. 158
36. अधूरे साक्षात्कार – नेमिचन्द्र जैन (अक्षर प्रकाशन, प्रा. लि. दिल्ली) पृ. 34
37. वही, पृ. 42
38. वही. पृ. 42
39. मैला आँचल का महत्व, पृ. 45
40. वही, पृ. 73
41. रेणु का जीवन – संपा. भारत यायावर (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2002) पृ. 43
42. मैला आँचल का महत्व, पृ. 29

43. गोलमेज –अरूण कमल, (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2009, पृ. 157
44. दे. गूँज, अंक 12 अप्रैल 2010, में सुरेन्द्र चौधरी का लेख समकालीन यथार्थवाद और रेणु, पृ. 12
45. वही, पृ. 12
46. आंचलिकता, यथार्थवाद और फणीश्वरनाथ रेणु, पृ. 29
47. दे. फणीश्वरनाथ रेणु और मार्क्सवादी आलोचना, संपा. मधुरेश, में रामविलास शर्मा का लेख 'प्रेमचन्द की परंपरा और आंचलिकता' पृ. 08
48. वही, पृ. 08–09
49. शताब्दी के ढलते वर्ष में – निर्मल वर्मा (भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्र. सं. 2006) पृ. 234
50. अधूरे साक्षात्कार, पृ. 163
51. शताब्दी के ढलते वर्ष में, पृ. 235
52. दे. 'फणीश्वरनाथ रेणु–संचयिता' – संपा. सुवास कुमार (भूमिका, पृ. 20), मेधा बुक्स, दिल्ली प्र. सं. 2003
53. दे. वसुधा, अंक 10, फरवरी 1958 में प्रकाशचन्द्र गुप्त का लेख 'आज का हिन्दी उपन्यास' पृ. 20
54. उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा – परमानंद श्रीवास्तव, पृ. 63
55. दे. गूँज, अंक 12 अप्रैल 2010 में सुरेन्द्र चौधरी का लेख 'समकालीन यथार्थवाद और रेणु, पृ.21
56. आंचलिकता, यथार्थवाद और फणीश्वरनाथ रेणु, पृ. 56
57. वही, पृ. 60
58. आलोचना के मान – शिवदान सिंह चौहान, पृ. 28
59. वही, 29–30
60. दे. वसुधा, वर्ष 2 अंक 10, फरवरी 1958 में प्रकाशचन्द्र गुप्त का लेख 'आज का हिन्दी उपन्यास' पृ. 16
61. दे. आलोचना वर्ष 5 अंक 2 अप्रैल 1956 में प्रकाशचन्द्र गुप्त का लेख 'जहाज का पंछी'
62. गोलमेज – अरूण कमल, पृ. 167
63. वही, 163
64. उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा, पृ. 44

65. चिंतन और सर्जन का समीक्षा विवेक – पाण्डेय शशिभूषण शीताशु (भारत पुस्तक भंडार, दिल्ली, प्र. सं. 2011, पृ. 193
66. आस्था और सौन्दर्य, पृ. 108
67. वही, पृ. 108
68. वही, पृ. 109
69. वही, पृ. 129
70. अधूरे साक्षात्कार, पृ. 56
71. वही, पृ. 59
72. उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा, पृ. 53
73. दे. वसुधा, वर्ष 2 अंक 10, फरवरी 1958 में प्रकाशचन्द्र गुप्त का लेख 'आज का हिन्दी उपन्यास'
74. अठारह उपन्यास, पृ. 79
75. वही, 69
76. हिन्दी उपन्यास का विकास, पृ. 107
77. कथा विवेचन और गद्य शिल्प, पृ. 59
78. हिन्दी उपन्यास का विकास, पृ. 107
79. कथा विवेचन और गद्य शिल्प, पृ. 57
80. वही, पृ. 57
81. उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा, पृ. 84
82. आधा गाँव–राही मासूम रजा, पृ. 11
83. उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, पृ. 75
84. साहित्य और समय, पृ. 72
85. आधा गाँव – राही मासूम रजा, पृ. 322
86. दे. तद्भव अंक 2, सितम्बर 1999
87. उपन्यास का पुनर्जन्म, पृ. 119
88. आधुनिक हिन्दी उपन्यास, पृ. 492
89. हिन्दी उपन्यास का विकास, पृ. 146

90. साहित्य और हमारा समय, पृ. 87
91. आधुनिक हिन्दी उपन्यास, पृ. 497
92. वही, पृ. 496
93. उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, पृ. 93
94. वही, पृ. 105
95. हिन्दी उपन्यास का इतिहास – गोपाल राय, पृ. 261
96. उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, पृ. 112 पर उद्धृत
97. राग दरबारी – श्रीलाल शुक्ल (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौदहवाँ सं. 2009) पृ. 51
98. उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, पृ. 106
99. वही, पृ. 113
100. वही, पृ. 114
101. उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा, पृ. 110
102. राग दरबारी – भूमिका, पृ. 5–6 चौदहवाँ सं. 2009
103. गल्प का यथार्थ : कथालोचन के आयाम – सुवास कुमार (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं. 2010) पृ. 117
104. आधुनिक हिन्दी उपन्यास – संपा. भीष्म साहनी, पृ. 252
105. राग दरबारी, पृ. 36
106. गोलमेज – अरूण कमल, पृ. 170
107. गल्प का यथार्थ : कथालोचन के आयाम, पृ. 121
108. वही, पृ. 116
109. समकालीनता और साहित्य – राजेश जोशी (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2010) पृ. 265
110. हिन्दी उपन्यास का विकास, पृ. 186
111. प्रेमचन्द विरासत का सवाल – शिवकुमार मिश्र (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वि. सं. 2008) पृ. 138
112. वही, पृ. 139
113. जगदीशचन्द्र : दलित जीवन के उपन्यासकार – संपा. चमनलाल (आधार प्रकाशन, प्रा. लि. पंचकूला, हरियाणा) पृ. 34

114. वही, पृ. 44

115. वही, पृ. 66

116. जगदीशचन्द्र : एक रचनात्मक यात्रा – संपा. तरसेम गुजराल व विनोद शाही (सतलुज प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, प्र. सं. 2007) पृ. 106

117. धरती धन न अपना – जगदीशचन्द्र (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2001) पृ. 20

118. जगदीशचन्द्र : दलित जीवन के उपन्यासकार, पृ. 98

119. वही, पृ. 99

120. हिन्दी उपन्यास का विकास, पृ. 210

121. जगदीशचन्द्र : दलित जीवन के उपन्यासकार, पृ. 106

122. अठारह उपन्यास –राजेन्द्र यादव, पृ. 161–162

123. वही, पृ. 166

124. आधुनिक हिन्दी उपन्यास, पृ. 436

125. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना – संपा. राजेश्वर सक्सेना व प्रताप ठाकुर (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं. 1997) पृ. 84

126. हिन्दी उपन्यास का विकास ,पृ. 135

127. दे. आलोचना सहस्राब्दी अंक 17–18, अप्रैल–सितम्बर 2004 में परमानंद श्रीवास्तव 'अंधेरे बर्बर समय में विभाजन की त्रासदी' पृ. 102

128. दे. कसौटी–पन्द्रह, में शिवकुमार मिश्र का लेख 'तमस' पृ. 206

129. वही, पृ. 216

130. उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, पृ. 57

131. तमस – भीष्म साहनी, पृ. 223

132. भीष्म साहनी : व्यक्तित्व और रचना, पृ. 62

133. दे. हंस, पूर्णांक 149, वर्ष 13 अंक 6, जनवरी 1999, पृ. 147

134. दे. सापेक्ष – 51, जुलाई 2009, जून 2010

135. दे. हंस, जनवरी 1999, पृ. 148

136. वही, पृ. 149

137. दे. सापेक्ष–51, जुलाई 2009, जून 2010 में कमला प्रसाद का लेख 'जीवन के खिलने–खिलाने का लेखक'

138. दे. हंस, जनवरी 1999, पृ. 45

ikpok v/;k; %

fgUnh miU;kl vkj ekDlZoknh vkykpuk % miyfC/k vkj lhek,¡

जीवन में मनुष्य जो कुछ भी देखता, सुनता, अनुभव करता है। उन सबका वह विवेचन और स्तर–निर्धारण अवश्य करता है। साहित्य और कला संबंधी सृजन का कुछ निश्चित स्तरों और मानदण्डों के आधार पर मूल्यांकन किया जाता है। इन्हीं नियत मूल्यांकन दृष्टियों, मूल्यों और स्तरों को आलोचना कहा जाता है। ये आधार साहित्य को देखते–परखते हैं, मूल्यांकित करते हैं, परिमार्जित करते हैं और नियंत्रित करते हैं। यानी, जब साहित्य स्वयं अपनी तरफ उन्मुख होकर आत्मविश्लेषण की प्रक्रिया में संलग्न होता है तब आलोचना का जन्म होता है।

हिन्दी में 'समीक्षा' और 'समालोचना' को आलोचना के पर्याय के रूप देखा जाता है। लेकिन अंग्रेजी में 'आलोचना' (क्रिटिसिज्म) और 'समीक्षा' (रिव्यू) का अलग–अलग प्रकार और दायित्व है। साहित्यिक आलोचना लेखक और पाठक के बीच सेतु का काम करती है। ''आलोचना वस्तु के अन्तर्बाह्य का उसके संपूर्ण ऐतिहासिक सन्दर्भ में वैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या, परीक्षण और मूल्यांकन का प्रयास है जिससे सिद्धांत–निर्माण हो, मूल्य और पद का निर्णय हो, सद् और असद् का विवेक पैदा हो और पाठक का रूचि परिष्कार संभव हो सके।''[1] डॉ. श्यामसुन्दर दास के शब्दों में ''यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।''[2] रचना और आलोचना के क्षेत्र में अनेक स्तर तथा प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। यानी रचना और आलोचना के रिश्ते द्वन्द्वात्मक होते हैं। दोनों की रचना–प्रक्रिया सामाजिक–सांस्कृतिक स्थितियों में पूर्ण होती है। रचनाकार और आलोचक की वर्गीय रूचि में भेद होने से दोनों के संबंध असहमतिपूर्ण होते हैं। ऐसा उनकी कमजोरियों और अन्तर्विरोधों के कारण होता है। रचना में जहाँ लेखक के परिवेशगत अनुभव–अभिव्यक्ति का द्वन्द्व मौजूद रहता है, वहीं

आलोचना रचनागत वस्तु और शिल्प को, साहित्य की परंपरा और समकालीनता तथा उसमें निहित अनुभवों को कृति से बाहर के संसार के परिप्रेक्ष्य में परखती है। आलोचना को मूल्यांकन का एक ऐसा व्याकरण माना जा सकता है जो स्वभाव से तार्किक व सैद्धांतिक है। जहाँ एक ओर रचना अव्याख्येय है वहीं आलोचना का धर्म ही एक प्रकार से व्याख्या है। आलोचना रचना में मानवीय संवेदना की एक मुकम्मल तहकीकात करती है। आलोचना का यह दायित्व है कि वह रचना को मंत्र न बनने दे। आलोचना में यह नैतिकता, साहस और विवेक होना चाहिए कि वह अपनी भूमिका का सच्चाई से निर्वाह कर सके। वह कृति की संपूर्णता का विवेचन–विश्लेषण करे। कृति की संपूर्णता से तात्पर्य है उसमें निहित मूल्यवत्ता तथा सर्जनात्मक तत्वों की संगति के साथ उसके समग्र का विश्लेषण। इस विश्लेषण में कृतित्व का मूल्यांकन अधिक महत्वपूर्ण होता है। फलस्वरूप वह एक सर्जनात्मक वस्तु के अतिरिक्त कुछ भी नहीं प्रतीत होती। दूसरी ओर कृति का संपूर्ण विश्लेषण संभव नहीं हो सकता क्योंकि कृति भावात्मक प्रक्रिया की उपज होती है और भावात्मक प्रक्रिया को संपूर्णज्ञान द्वारा विश्लेषित करना बहुत ही कठिन है।[3]

एक कृति के मूल्यांकन में आलोचक का दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिए। उसमें साहस, अन्तर्दृष्टि, संवेदनशीलता, अध्ययनशीलता और मननशीलता के गुण प्रमुखता से होना चाहिए। उसे इतिहास का ज्ञान, अतीत के अन्तर्संबन्धों और समस्याओं का ज्ञान तथा परंपराओं का बोध होना चहिए। रचनाकार के साथ मानसिक भावात्मक तादात्म्य स्थापित करने का गुण विद्यमान होना चाहिए। उसे झूठी प्रंशसा और व्यक्तिगत आक्षेपों–दोनों से बचना चाहिए यानी निष्पक्ष होना चाहिए। एक आदर्श आलोचना का धर्म है कि वह कृति के मर्म को उद्‌घाटित करे। कृति में निहित संवेद्य वस्तु की संपूर्णता को व्याख्यायित करे। रचनाकार या लेखक क्या कहना चाहता है उसको बताये। रचना के व्यंग्य को उद्‌घाटित करे तथा सही परिप्रेक्ष्य में आग्रहमुक्त होकर, कृति का मूल्यांकन करे। आलोचना परंपरागत मूल्यों का पुनराख्यान करती है। नये मूल्यों की स्थापना और नवीन पद्धति की

प्रतिष्ठा करती हैं। अवांछित पद्धतियों एवं मूल्यों का विरोध करती है और रचना की वस्तु और शिल्प के संश्लिष्ट संबन्ध का विश्लेषण करती है।

रचना लेखक के लिए मुक्तिकारक होती है। उसके अन्तर्मन में उठने वाले किसी प्रश्न का उत्तर होती है। सवाल है कि लेखक के मानस में वह कौन सा प्रश्न था जिसका कि उत्तर रचना है? आलोचना उसी प्रश्न की तलाश करती है। यह रचना को प्राप्त करने की एक दिशा होती है, तथा लेखक के मन को पढ़ने और रचना–प्रक्रिया के क्रम में उसके द्वारा की गई जोड़–तोड़ को पहचानने का उपक्रम भी होती है। यानी आलोचना का काम है रचना की बुनावट को खोलना। देवीशंकर अवस्थी ने लिखा है कि ''प्रत्येक रचना स्वनिर्भर, एकतान एवं अत्यधिक जटिल संकुल स्तरों वाली होती है और युग तथा रचयिता से अलग होकर उसका अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व भी होता है। उसका इसी रूप में अध्ययन प्रारम्भ होना चाहिए।''[4] यानी, रचना के वास्तविक महत्व को जानने के लिए रचना का समीपी अध्ययन आवश्यक है। आलोचना की मूल्यवत्ता सहमति या असहमति पर नहीं, बल्कि सहमति–असहमति के ठोस कारणों और तर्कों पर निर्भर करती है। विचारधारा और साहित्य के द्वंद्वात्मक संबन्ध का विवेक आलोचना को अधिक मूल्यवान बनाता है। मुक्तिबोध समीक्षा के लिए प्रगाढ़ जीवनानुभूति की माँग करते हैं। उन्होंने लिखा है कि ''किसी भी कलाकृति के भीतर जो गतिमान तत्व होते हैं, उनके अर्थ व्यापक होते हैं। अतएव उन तत्वों के अन्तःसंबन्ध, उन संबन्धों के समुच्चय का विशेष गठन कम महत्वपूर्ण नहीं होता। जब हम उन गतिमान अन्तर्तत्वों के गहन पारस्परिक संबन्ध और उन पारस्परिक संबन्धों के समुच्चय की विशेषण गठन को हृदयंगम कर लेंगे, तब न केवल हम उस कलाकृति को उसकी समग्रता में समझ सकेंगे, वरन् लेखक–कलाकार के व्यक्तित्व और उसकी जीवनभूमि तक सहज ही पहुँच सकेंगे। किन्तु इसके लिए समीक्षा के पास प्रगाढ़ जीवनानुभूति चाहिए, वैविध्यपूर्ण प्रगाढ़ अनुभव–सम्पन्नता तथा मार्मिक जीवन–विवेक चाहिए।''[5] स्पष्ट है कि आलोचना का महत्व स्थापित होता है रचना में प्रकट अनुभव की जीवन–सम्पन्नता, उसकी जीवन–छवियों के पुनर्पाठ तथा नई व्याख्या से। आलोचना

सहमति से अधिक असहमति से अर्थवान होती है वह एक जिरह होती है जो वाद–विवाद–संवाद को जन्म देती है। आलोचना एक रेखीय नहीं होती। वह वर्तुल चक्राकार होती है। वह सीधे पाठ के बरक्स प्रतिपाठ होती है। आलोचना की अपनी भाषायी संरचना है।[6]

आलोचनाशास्त्र के अन्तर्गत मूल्यांकन के कई रूप होते हैं। पहला रूप है कृति के गुण–दोष निर्णय के विवेचन का जो हिन्दी आलोचना की आरम्भिक अवस्था में मिलता है जहाँ 'देव और बिहारी' तथा 'बिहारी और देव' जैसे आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे गये। आलोचना का दूसरा रूप व्याख्यात्मक आलोचना का है। यहाँ आलोचक रचनाकार की रूचियों, उसकी सहमतियों, असहमतियों, उसके प्रेरणा–स्रोतों, मान्यताओं आदि का विश्लेषण करते हुए उसके व्यक्तित्व के साथ कृति के विविध पक्षों को रखता है। आलोचना का तीसरा रूप सर्जनात्मक आलोचना का है जिसकी बात नामवर सिंह और रामस्वरूप चतुर्वेदी ने की है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'सर्जनात्मक आलोचना' की व्याख्या करते हुए लिखा है कि ''सर्जनात्मक आलोचना का अर्थ यही है कि अर्थ की जो संभावनाएँ रचना में निहित हैं, उन संभावनाओं को जोड़ना।''[7] डॉ. जगदीश गुप्त मानते हैं कि आलोचना रचना के आश्रित होती है न कि रचना आलोचना के। कला का स्वातन्त्र्य, आलोचक के स्वातन्त्र्य से बड़ा होता है।[8] एक कृति और दूसरी कृति में फर्क करना आलोचना का पहला काम है। परमानंद श्रीवास्तव के अनुसार ''आलोचना विचारोत्तेजन–भर नहीं है, वह गहरे अर्थ में रचनात्मक संवेदन है, जिसे संघर्ष करके अर्जित किया जाता है। उसका न कोई एक नियम है, न एक शास्त्र। वह शास्त्र के विरूद्ध लोक के सहजीवी की तरह अपना सफ़र तय करती है। आलोचना में जितना पाना है, उससे अधिक खोना है''[9]

बीसवीं सदीं में विश्व के साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवादी आलोचना और मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का विकास एक महत्वपूर्ण घटना है। मार्क्सवादी चिंतक ग्राम्शी ने कहा है कि महत्वपूर्ण साहित्यिक रचना एक कलाकृति होने के साथ ही अपने समय और समाज की

सभ्यता का हिस्सा भी होती है। ''कृति को समझने के लिए कवि का जीवन, उसकी विचारधारा, भावबोध और शिल्प सब जरूरी हैं। जरूरत इन सबको परस्पर–संबद्धता में देखने की है। यह परस्पर–संबद्धता ही काव्यार्थ का आकार ग्रहण करती है, उसी से निर्मित होती है।''[10]

शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना की एक सशक्त (और एक सीमा तक विवादास्पद भी) आलोचना धारा भी मार्क्सवादी आलोचना ही रही है जिसे प्रगतिशील आलोचना भी कहते हैं। सन् 1936 ई. में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना होने के बाद साहित्य की प्रकृति और दिशा में भी परिवर्तन हुआ। साहित्य को सामाजिक परिवर्तन के एक घटक के रूप में स्वीकृति मिली और एक वैज्ञानिक, समाज–संबन्द्ध आलोचना के निर्माण की आवश्यकता महसूस की गई। इसलिए कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स की जो साहित्य–संबन्धी धारणाएँ थीं उन धारणाओं को कला और साहित्य के सन्दर्भ में पुनर्व्यवस्थित किया गया। दरअसल, मार्क्सवादी आलोचना का मूलाधार साहित्य, कला, संस्कृति संबन्धी मार्क्सवादी विचार हैं। सन् 1938 ई. में प्रकाशित 'ऑन आर्ट एण्ड लिटरेचर' पुस्तक में उन टिप्पणियों और निबंधों का संकलन किया गया जो मार्क्स–एंगेल्स ने कला और साहित्य के विषय में कही थीं। इन्हीं टिप्पणियों और सूत्रों के आधार पर मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र और आलोचना विकसित हुई।

हिन्दी के गैर–मार्क्सवादी लेखकों (अज्ञेय, धर्मवीर भारती, इलाचन्द जोशी, निर्मल वर्मा आदि) ने रचना और आलोचना के क्षेत्र में विचारधारा के जबरन आरोप का विरोध किया है। उन्होंने अपनी कलाकृतियों में अत्यधिक और अमूर्त (Abstract) कला–मूल्यों की स्थापना की है। क्योंकि उन लोगों का मानना है कि प्रतिबद्ध सामाजिक विचार को जानबूझकर तरजीह देने से सहज साहित्य दृष्टि बंध जाती है, प्रदूषित होती है। इसलिए स्वाभाविक रूप से उन रचनाकारों ने अपनी कृतियों में व्यक्ति–स्वातंत्र्य और साहित्य की स्वायत्तता पर अधिक बल दिया है। दूसरी तरफ मार्क्सवादी या प्रगतिवादी लेखकों के बीच में मूल्यांकन के मानदण्ड के रूप में सर्वहारा के प्रति प्रतिबद्ध विचारधारा का प्रश्न एक

महत्वपूर्ण प्रश्न था। उनके लिए व्यक्ति–स्वातंत्र्य और साहित्य की स्वायत्तता के प्रश्न बेमानी और वायवीय थे। वे आत्मवादी दृष्टि वाले रचनाकारों को यथास्थितिवादी, कलावादी और प्रतिक्रियावादी मानते थे। भले ही उनकी रचनाएँ प्रगति विरोधी नहीं हों और कलातमक दृष्टि से उत्कृष्ट ही क्यों न हों। इसके विपरीत मार्क्सवादी दृष्टिकोण यह भी था कि यदि कोई लेखक प्रगतिवादी विचारधारा का अपने साहित्य में 'प्रचार' करता है और उसकी रचना कलात्मक दृष्टि से किंचित कमजोर भी क्यों न हो, तब भी उसे प्रगतिशील और जनपक्षी अतः श्रेष्ठ मानना चाहिए। डॉ. रामविलास शर्मा की मान्यता थी कि अप्रतिबद्धता के बावजूद कोई लेखक श्रेष्ठ साहित्य दे सकता है और केवल विचारधारा के आधार पर ही नहीं, उसके भाव, इन्द्रियबोध और चित्रण के आधार पर रचना का मूल्यांकन होना चाहिए।[13]

हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों ने फ्रायडवादी आलोचना सिद्धांत का भी पुरजोर विरोध किया। उनका मानना था कि इस तरह की आलोचना से पूँजीवाद के पतनशील मूल्यों को बढ़ावा मिलता है तथा नैतिक मूल्य की कोई चिंता नहीं होती। कलावादियों का कहना था कि कला का संसार स्वायत्त होता है। अर्थात् कोई भी कलाकृति समाज और समय से निरपेक्ष होकर भी अपने में पूर्ण होती है। उसके मूल्यांकन के लिए किसी बाहरी उपकरण की जरूरत नहीं होती है।[14] मार्क्सवादी आलोचकों ने आलोचना–कर्म को सामाजिक दायित्व से जोड़ते हुए स्थापित किया कि एक आलोचक का काम किसी रचना की केवल व्याख्या–विश्लेषण भर ही नहीं करना है। वस्तुतः व्याख्या के बहाने वह सभ्यता और संस्कृति का मूल्यांकन भी करता चलता है। कोई भी रचना अपने समय व समाज से पूर्णतः निरपेक्ष नहीं होती। बल्कि उलटे वह उसका प्रतिबिम्बन होती है। कलाकृति की कलात्मकता की सार्थकता तभी है जब वह जीवन व समाज के प्रश्नों को गम्भीरता से उठाये। गंभीर मार्क्सवादी आलोचक कला–मूल्यों की तलाश के साथ सामजिक मूल्यों की खोज को आलोचना के दायित्व से जोड़ते हैं। अब वे मानने लगे हैं कि 'रूप' और 'वस्तु'

अन्योन्याश्रित तो हैं मगर यह 'वस्तु' ही है जो रचनाकार की जीवन–दृष्टि व उसकी सामाजिकता को समेटता है।

''मार्क्सवादी आलोचक सबसे पहले विश्लेषण का आधार कृति की विषय–वस्तु और उसके द्वारा पड़ने वाले सामाजिक प्रभाव को बनाता है। वह विशेष सामाजिक समूहों के साथ कृति के संबंध को निर्धारित करता है जिसका प्रभाव पूरे सामाजिक जीवन पर पड़ सकता है। इसके बाद वह 'रूप' की ओर आता है और 'रूप' का विश्लेषण मुख्यतया इस दृष्टि से करता है कि 'रूप' विशेष अपने उद्देश्य में कितना सफल रहा है। यानी वह कृति को किस सीमा तक संभव रूप में प्रभावकारी और ग्राह्य बनाता है।''[15] सच्ची मार्क्सवादी आलोचना का चरम आनंद सच्चाई को खोज निकालने, उसे पूरी भव्यता के साथ पाठक तक पुहँचाने में होना चाहिए। ज्यादातर मार्क्सवादी आलोचक अपना रिश्ता लेखक के साथ एक शिक्षक का बनाता है। यानी वह दृढ़ और बहुश्रुत, पाडित्यपूर्ण व निर्दोष रूचि का व्यक्ति दिखना चाहता है।

पूरी मार्क्सवादी आलोचना मार्क्सवाद और साहित्यिक आलोचना के जटिल संबन्ध और दोनों के 'व्यक्तित्व' की एक साथ रक्षा नहीं कर पाती। इस समस्या को स्पष्ट करते हुए ग्राम्शी ने लिखा है कि ''दो लेखक एक ही सामाजिक ऐतिहासिक वास्तविकता की अभिव्यक्ति करते हैं, लेकिन उनमें से एक कलाकार होता है और दूसरा केवल कातिब। इन दोनों की रचनाओं की आलोचना करते समय केवल उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि बताना या रचना में व्यक्त सामाजिक ऐतिहासिक वास्तविकता की विशेषताएँ बताना कला की समस्या से पल्ला झाड़ लेना है। यह सब आवश्यक और उपयोगी है, लेकिन यह राजनीतिक आलोचना है और इसमें एक विशेष प्रकार के सामाजिक दृष्टिकोण की आलोचना होती है। यह कला की आलोचना नहीं है। इसे कलाकृति की आलोचना कहना आलोचना के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के बारे में भ्रम फैलाने और उसके विकास को रोकने के अलावा और कुछ नहीं है। एक तरह से यह सांस्कृतिक संघर्ष के आन्तरिक उद्देश्य से दूर जाना भी है।''[16]

हिन्दी साहित्य में पाँचवें दशक के बाद की मार्क्सवादी आलोचना ने लेखक के सामाजिक व्यक्तित्व को ही विशेष महत्व दिया है लेकिन धीरे–धीरे बाद में चलकर कृति के आविर्भाव–मूलक कारणों की पड़ताल करते हुए वह सामाजिक जीवन, भौतिक शक्तियों तथा आर्थिक संबन्धों और समाज तथा साहित्य के मध्य की महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में लेखक के विशिष्ट व्यक्तित्व को भी अपेक्षित महत्व देने लगी है। उसने स्वीकार भी किया है कि ''साहित्य के निर्माण में इस बीच की कड़ी–'लेखक के व्यक्तित्व'–का बहुत महत्व है और इस महत्व की महत्ता इस बात में है कि एक ओर इसका संबन्ध समाज से है, तो दूसरी ओर साहित्य से।''[17] स्वाभाविक रूप से हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों ने मार्क्सवादी चिंतन की मूलभूत उद्‌भावनाओं पर विशेष ध्यान दिया है। देश की आजादी के बाद मार्क्सवादी समीक्षा की मुख्यधारा सैद्धांतिक विवेचन पर केन्द्रित रही है। कला तथा साहित्य से सबंधित अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का भी इस बीच उद्‌घाट्न हुआ। रचना–रचनाकार की सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति और उसकी सार्थकता का विस्तृत विवेचन डॉ. रामविलास शर्मा ('लोक जीवन और साहित्य'), प्रकाशचन्द्र गुप्त ('साहित्यधारा'), शिवदान सिंह चौहान ('आलोचना के मान') और नामवर सिंह ('इतिहास और आलोचना') ने अतिशय तात्विकता के साथ किया। ऐसा नहीं है कि मार्क्सवादी आलोचना ने अपने सैद्धांतिक निष्कर्षों में रचना के सामाजिक संदर्भ से अधिक उसके सौन्दर्य–पक्ष को महत्वपूर्ण माना हो। उनके लिए तो सौन्दर्य आनुषंगिक है। कलाकार जिस सौन्दर्य का निर्माण करता है, वह समाज–निरपेक्ष नहीं होता, बल्कि सामाजिक जीवन और सामाजिक विकास से वह गहरे रूप में जुड़ा होता है।

मुक्तिबोध ने लिखा है कि ''आलोचक का कार्य केवल गुण–दोष विवेचन ही नहीं है, वरन् साहित्य का नेतृत्व करना भी है। आलोचक का धर्म साहित्यिक नेतागिरी करना नहीं है, वरन् जीवन का मर्मज्ञ बनना और उसकी विशेषता की सहायता से कला–समीक्षा करना भी है।''[18] मार्क्सवादी आलोचना मानती है कि कलाकार अपने समक्ष कला का जो मानदण्ड रखता है वह उसके वर्ग और युग की परिस्थितियों से निर्दिष्ट होने के कारण

उनसे स्वतंत्र या निरपेक्ष नहीं होता है बल्कि सापेक्ष होता है। मुक्तिबोध उस आलोचना दृष्टि का विरोध करते हैं जो साहित्य को किसी 'वाद' के दायरे में बाँधकर उसका मूल्यांकन करती है। वे साहित्य के 'वाद' को दार्शनिक या वैज्ञानिक प्रणाली नहीं मानते। उसे केवल साहित्य का दृष्टिकोण मानते हैं। अमृत राय ने मार्क्सवादी आलोचना की प्रकृति और प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए लिखा है–''मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की वह समाजशास्त्रीय आलोचना है जो साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या करते हुए समाज और साहित्य के अन्योन्याश्रय तथा गतिशील संबन्ध का उद्‌घाटन करती है और सचेतन रूप में समाज को बदलने वाले साहित्य की सृष्टि की ओर लेखक का ध्यान आकर्षित करती है।''[19] दरअसल, किसी रचना का मूल्यांकन करते हुए मार्क्सवादी आलोचना उसकी समसामयिक सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर इस बात का पता लगाने की कोशिश करती है कि उसने (कृति ने) अपने युग द्वारा उठायी गई मानव समस्याओं को समझने (और सुलझाने) का प्रयास किया है या उनसे पूरी तरह विमुख ही रही है। यदि वह अपने युग की मूलभूत समस्याओं से अनजान है तो मार्क्सवादी आलोचना उसे निम्नकोटि का तथा समाज की दृष्टि से महत्वहीन मानती है। इसके विपरीत यदि वह अपने समय की जीवन–समस्याओं से गहन साक्षात्कार करती है तो उसे वह श्रेष्ठ कृति मानती है।

सुमित्रानंदन पंत पर मार्क्सवादी आलोचकों द्वारा किये प्रहारों के प्रसंग में शिवदान सिंह चौहान ने मार्क्सवाद के सन्दर्भ में प्रश्न उठाया था कि ''क्या मार्क्सवाद को वैज्ञानिक या वस्तुवादी सिद्धांत मानते ही अन्य सभी सिद्धांतों को अबुद्धिवादी, अवैज्ञानिक तथा अंततः प्रतिक्रियावादी घोषित कर देना अनिवार्य हो जाता है? क्या मार्क्सवादी दृष्टिकोण मन पर ऐसे असहिष्णु तथा एकाधिकार प्रभाव डालता है कि मानव–चेतना की अब तक की सभी महान सांस्कृतिक तथा कलात्मक उपलब्धियाँ एक क्षण में ही तुच्छ, नगण्य और वर्ग–स्वार्थ से प्रेरित नज़र आने लगती हैं?''[20] चौहान जी ने आलोचना को केवल व्याख्या मानने का प्रतिवाद करते हुए उसे नैतिक मूल्यों का अनुसंधान करने वाला दार्शनिक उपक्रम मानने

का आग्रह किया था। चौहान जी आलोचना को एक रचनात्मक क्रिया मानते हैं। उन्होंने लिखा है ''व्यापक अर्थों में आलोचना मनुष्य की आत्मचेतना है। साहित्य और कला के रूप में निर्माण की हुई अपनी 'अर्थवान रचना' के सुन्दर–असुन्दर, शुभ–अशुभ, सत्य–असत्य पक्षों के प्रति जाग्रत हुई चेतना है।....एक बार जब आलोचना का जन्म हो जाता है, तो वह साहित्य–कला की केवल तटस्थ व्याख्याता या निरपेक्ष द्रष्टा ही नहीं बनी रहती। सांस्कृतिक परंपरा और मनुष्य के अर्जित ज्ञान का समाहार करके और वर्तमान की ऐतिहासिक चेतना लेकर संवेदनशील युग–द्रष्टा आलोचक प्रचीन और सामायिक साहित्य की कृतियों का मूल्य आँकते हुए नए व्याख्या–सूत्रों की उद्‌भावना भी करता है....इस प्रकार आलोचना स्वयं एक रचनात्मक क्रिया है।''[21] यानी चौहान जी आलोचना को केवल व्याख्या तक सीमित करके नहीं देखते हैं, बल्कि उसे सांस्कृतिक परंपरा और ऐतिहासिक चेतना से भी जोड़ते हैं।

एक सार्थक आलोचक की कठिनाइयों को रेखांकित करते हुए पुरूषोत्तम अग्रवाल ने लिखा है कि ''सार्थक आलोचक रचना से दोहरे स्तर पर टकराता है। एक तो रचना के अर्थ और महत्व का उद्‌घाटन करने के लिए, दूसरे स्वयं अपनी विश्वदृष्टिपरक कशमकश को व्यक्त करने वाले साहित्य–संस्कार को व्यक्त ही नहीं करता, उससे जिरह भी करता है।''[22] अर्थात् सार्थक आलोचना समूचे संस्कृति–बोध और परंपरा–बोध से जिरह करती है। ''साहित्य की कोरी वर्गवादी व्याख्या, अमूर्त–प्रवृत्ति निरूपण, राजनीतिक अभिश्रेणियों का साहित्य में अंधाधुंध प्रयोग ये कुछ चीजें हिन्दी में वयस्क मार्क्सवादी आलोचना के विकास में बाधक सिद्ध हुई हैं।''[23] किसी भी मार्क्सवादी रचनाकार या कलाकार को मार्क्सवादी साहित्यिक निष्कर्षों तक सीमित नहीं होना चाहिए। मार्क्सवाद एक विकासशील जीवन–दर्शन है। जब तक इसकी विभिन्न शाखाओं से परिचय नहीं होगा, इसकी व्यावहारिकता का अनुभव नहीं होगा तब तक यथार्थ की छिपी हुई और अव्यक्त स्थितियों को उजागर तथा उसकी बनावट को समझने और उन्हें समाजवादी रूप में प्रतिपादित करने का वस्तुपरक दृष्टिकोण नहीं बन सकेगा।[24]

दरअसल, मार्क्सवाद कला और साहित्य में सरलीकरण और यांत्रिकता का विरोध करता है। लेकिन विडम्बना यह है कि साहित्य कला–कृतियों के मूल्यांकन में प्रायः इसी सरलीकरण और यांत्रिकता का सहारा लिया गया है जिससे कृतियों की भ्रांत समीक्षा हुई है। इसका एक प्रमुख कारण उन्हें सन्दर्भों से अलग करके देखना रहा है। चूंकि आधार (आर्थिक–भौतिक जीवन) बाह्य–संरचना को प्रभावित, नियत और निर्धारित करता है इस स्थापना का सरलीकरण करते हुए साहित्य एवं कलाओं को आर्थिक–भौतिक जीवन का प्रतिबिंबन मान लिया गया, जबकि आर्थिक–भौतिक जीवन पर उनका भी प्रभाव पड़ता है, उनकी भी अपनी सक्रियता होती है, ये सभी बातें उपेक्षित कर दी गई। आर्थिक–भौतिक जीवन में परिवर्तन होते ही समूची बाह्य–संरचना में भी कमोवेश उसी गति से परिवर्तन होता है। इस स्थापना को बिल्कुल यांत्रिक रूप से ग्रहण किया गया है।[25] मार्क्सवादी विचारकों (ट्राटस्की, अनर्स्ट फिशर तथा लुकाच) ने स्वीकार किया है कि कला तथा साहित्य की विशिष्ट भूमिका को बिना जाने–पहचाने केवल सामाजिक–भौतिक नियम मूल्यांकन की सही दृष्टि नहीं दे सकते। ट्राटस्की का तो यहाँ तक कहना है कि कलाकृति की परीक्षा सर्वप्रथम कला के अपने नियम के आधार पर ही होनी चाहिए। सामाजिक–भौतिक जीवन में उसके महत्व, प्रभाव आदि का विवेचन करते समय सामाजिक–भौतिक नियम सामने आते हैं। ट्राटस्की का आग्रह कला के शिल्प–पक्ष की अपेक्षाकृत स्वायत्तता की ओर अधिक था। अन्र्स्ट फिशर तथा लुकाच ने भी कला नियमों के महत्व को स्वीकार करते हुए उसकी स्वायत्तता बल दिया है।[26]

हिन्दी आलोचना के लिए मार्क्सवादी आलोचना का अवदान ऐतिहासिक और निर्णायक मोड़ साबित करने वाला हुआ है। इससे साहित्य समाज के न केवल निकट गया, बल्कि साहित्य सामाजिक–कर्म की जरूरत भी बन गया। इस आलोचना पद्धति ने विवश किया कि लेखक अपनी रचना में सामाजिक सच को अधिक से अधिक महत्व दे। लेकिन मार्क्सवादी आलोचना के विवेचन–विश्लेषण में विचारधारा, सामाजिक चेतना और वर्ग–दृष्टि को अधिक महत्व दिया गया है जिससे कला–तत्वों की अवहेलना हुई और

रचना में सामाजिकता की खूब चर्चा हुई। इस अतिवाद के परिणाम स्वरूप रचनाओं में केवल विचारधारा, वर्ग–संघर्ष, मजदूर और किसान की तलाश होने लगी। जिन रचनाओं में इनकी मुखर उपस्थिति नहीं थी उन्हें महत्वहीन और निकृष्ट घोषित किया गया। मध्यवर्गीय परिवार के नैतिक एवं सामाजिक संघर्षों को अनदेखा किया गया। रामविलास जी ने यशपाल, राहुल, जैनेन्द्र, रेणु, मुक्तिबोध तथा नई कविता का जैसा मूल्यांकन किया बहुत कुछ वह इसी अतिरेक का परिणाम था।

कहना न होगा कि हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना अपने शुरूआती दिनों में आपसी खींचा–तानी में अधिक व्यस्त रही है। मसलन, रचना में रूप और अन्तर्वस्तु की समस्या, पक्षधरता व प्रतिबद्धता का प्रश्न, साहित्य और विचारधारा के अन्तर्सम्बन्ध, साहित्य में प्रगतिशीलता, साहित्य के मूल्यांकन में पार्टी–नीतियों की भूमिका व वर्चस्व, लेखकों का संयुक्त–मोर्चा आदि कुछ ऐसे मुद्दे थे जिस पर मार्क्सवादी आलोचकों–रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, यशपाल, अमृत राय और रांगेय राघव–में प्रायः मतभेद की स्थिति थी। मार्क्सवादी आलोचना के निर्माण और विकास का यह दौर आत्मालोचना यानी अपनी गलतियों से सीखने की बजाय दूसरों को गलत ठहराने और अपने को सही साबित करने में मशगूल रहा। प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के कुछ वर्ष पश्चात् ही प्रगतिशीलता को लेकर मार्क्सवादी लेखकों में एक ऐतिहासिक विवाद शुरू हुआ। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार ''विवाद की शुरूआत, मार्च 1937 के 'विशाल भारत' में प्रकाशित शिवदान सिंह चौहान के लेख 'प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' से हुई। किसी मार्क्सवादी लेखक ने इसका समर्थन किया हो याद नहीं।''[27] कुछ लोग मानते हैं कि शिवदान सिंह चौहान के लेख से विवाद की शुरूआत हुई–लेकिन 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' से नहीं, बल्कि 'साहित्य की परख' लेख से। नामवर सिंह ने लिखा है कि ''1946 का ही वर्ष है जिसमें चौहान जी ने 'साहित्य की परख' नामक एक लम्बा लेख लिखा। यह लेख उसी वर्ष 'साहित्य संदेश' में प्रकाशित हुआ। 'रामविलास–चौहान विवाद' का आरम्भ यहीं से हुआ।''[28] इस लेख में चौहान जी ने कुछ

ऐसे प्रश्न उठाये थे जिन पर गम्भीरता से विचार होता तो मार्क्सवादी साहित्य चिंतन की नयी संभावनाएँ उजागर होतीं। इस निबंध में चौहान जी ने 'कुत्सित समाजशास्त्रीय' और 'कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' दोनों की एकांगिता का प्रतिवाद किया है और साहित्यिक मूल्यांकन के सार्वभौम, विश्वसनीय प्रतिमानों के निर्धारण की कोशिश भी की। चौहान जी का 'कुत्सित समाजशास्त्रीय' से तात्पर्य है—जीवनवास्तव के बोध की समग्रता का अभाव और उस समग्रता को धारण करने वाले मानवीय उपक्रम—साहित्य के प्रति संवेदनहीनता।[29]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निधन पर चौहान जी ने अपनी टिप्पणी में जायसी, सूर और तुलसी के सन्दर्भ में शुक्ल जी के गंभीर पांडित्य तथा भारतीय संस्कृति में उनकी गहरी पैठ की प्रशंसा की थी। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के सन्दर्भ में भी वे शुक्ल जी की इतिहास—दृष्टि की प्रशंसा करते हैं। लेकिन अपनी इस टिप्पणी के पाँच वर्ष बाद 'साहित्य की परख' शीर्षक लेख में उन्होंने शुक्ल जी को 'वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थक' के साथ ही उन्हें 'अवैज्ञानिक और सांप्रदायिक' भी बताया जिसे चौहान जी का अन्तर्विरोध अथवा एकांगी मूल्यांकन कहा जा सकता है। इसी दौर में रांगेय राघव ने 'लोई का ताना' लिखते हुए आचार्य शुक्ल को 'ब्राह्मणवादी' कहा था। यशपाल ने भी अपनी एक टिप्पणी में उन्हें 'छात्रोपयोगी आलोचक' बताया। इन सभी आरोपों का प्रत्याख्यान रामविलास शर्मा ने 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना (1955) पुस्तक में किया। इन आलोचकों ने तुलसीदास के वर्णाश्रम—संबन्धी मत को भी लेकर कई सवाल उठाये थे।

एक व्यावहारिक आलोचक के रूप में शिवदान सिंह चौहान साहित्य को केवल सामयिक संघर्षों, पार्टी—नीतियों और स्वपक्ष के प्रति उदासीन होकर सिर्फ अन्तर्वस्तु के आधार पर ही उसके मूल्यांकन की प्रवृत्ति को नकारते हैं। चौहान जी एक ऐसी आलोचना के विकास की बात करते हैं जो रूप और अन्तर्वस्तु के मूल्यांकन के साथ ही प्राचीन और समकालीन साहित्यिक आलोचना में समान रूप से अपना योगदान दे। चौहान जी की मुख्य चिन्ता समग्रता और वस्तु—श्रेष्ठता के आग्रह की रही है। वे तुच्छ और असुन्दर के विरूद्ध श्रेष्ठ और सार्थक की बात करते हैं। रामविलास जी ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमचन्द, निराला,

रामचन्द्र शुक्ल और महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि का सकारात्मक मूल्यांकन किया है। इन लेखकों के सन्दर्भ में चौहान जी ने डॉ. शर्मा की 'एकांगी और पक्षपातपूर्ण प्रशंसा' का विरोध किया। उनका कहना था कि इस तरह के मूल्यांकन से वास्तविक परिप्रेक्ष्य धुँधला होता है जिसके फलस्वरूप अन्य लेखकों के साथ अन्याय होता है। रामविलास शर्मा ने जिस तरह से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को शेक्सपीयर से श्रेष्ठ लेखक बताया और प्रेमचन्द को तोल्स्तोय और गोर्की के मुकाबले बड़ा लेखक माना उसका चौहान जी तीव्र विरोध करते हैं। इसी तरह की आलोचना के लिए चौहान जी ने 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' शब्द का प्रयोग किया। चौहान जी ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को पुश्किन के समकक्ष रखकर देखा है लेकिन वे कहीं भी किसी लेखक का अवमूल्यन नहीं करते हैं। उन्होंने अपनी आलोचना में समग्रता और वस्तुपरकता का निर्वाह करते हुए प्रेमचन्द के सन्दर्भ में लिखा है कि ''मैं यहाँ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि प्रेमचन्द के प्रति मेरे हृदय में किसी से भी कम आदर की भावना नहीं है, क्योंकि प्रेमचन्द चाहे जिस कोटि के उपन्यासकार क्यों न हों कम से कम अभी तक हिन्दी–उर्दू के तो सर्वश्रेष्ठ कथाकार हैं ही और इन भाषाओं में आधुनिक उपन्यास और कहानी साहित्य के विकास में ऐतिहासिक दृष्टि से उसका बड़ा महत्व है। लेकिन लेखकों में वे मेरे एक मात्र आराध्य नहीं है, विश्व में ही क्यों भारत में भी उनसे बड़े–बड़े लेखक हुए हैं, इस युग में ही इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरत्चट्टोपाध्याय को भुला देना मेरे लिए संभव नहीं हैं''[30]

चौहान जी उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की गिरती दीवारें' की शैली, कला, चित्रण और उसकी मानवीय दृष्टि की वजह से उसे 'गोदान' और 'शेखर : एक जीवनी' की तरह पर्याप्त महत्व देते हैं। लेकिन वहीं 'अश्क' के 'गर्मराख' की आलोचना इसलिए करते हैं कि वह प्रकृतवाद के अधिक निकट है। जैनेन्द्र की सारी रचनात्मक सीमाओं के बाद उसे प्रेमचन्द के साथ रखकर देखते हैं। 'शेखर : एक जीवनी' को 'गोदान' के बाद का सबसे महत्वपूर्ण कलात्मक उपन्यास बताते हैं तथा उसके चरित्र और जीवन–सूत्रों का सवाल उठाते हैं। चौहान जी यशपाल के मूल्यांकन में पाते हैं कि उनकी कला अपने समाज में यथार्थता के

एक क्रूर पहलू से परिचित कराती है। वे यशपाल को एक कहानीकार और उपन्यास के रूप में प्रेमचन्द के बाद के हिन्दी कथा–साहित्य में महत्वपूर्ण आधार मानते हैं। यशपाल के सन्दर्भ में श्लीलता और अश्लीलता का जो प्रश्न उस समय के आलोचकों (मार्क्सवादी और गैर–मार्क्सवादी) द्वारा उठाया गया था उसका चौहान जी ने विरोध किया था। जब हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना रेणु के महत्व को या तो समझ नहीं रही थी या जान बूझकर नकार रही थी, उस समय चौहान जी रेणु के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हैं और उनके उपन्यासों का यथोचित मूल्यांकन करते हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास 'झाँसी की रानी' को उनके द्वारा 'कुघड़' और 'अपरिपक्व' कहे जाने पर डॉ. रामविलास शर्मा मानो कुपित होकर वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों का विस्तृत मूल्यांकन करते हुए वर्मा जी को 'स्काट' से भी अधिक बड़ा बताते हैं। इतना ही नहीं, जिस आंचलिकता को रामविलास जी 'रेणु' की सीमा मानते हैं उसे ही उन्होंने वृन्दावनलाल वर्मा और अमृतलाल नागर की शक्ति करार दिया है। जो उनकी कथा–आलोचना का विरोधाभास ही कहा जा सकता है। जिन साहित्यिक कमजोरियों का जिक्र करते हुए उन्होंने रेणु को प्रेमचन्द की परंपरा से दूर फेंक दिया है उन्हें ही वृन्दावनलाल वर्मा की उपलब्धियाँ मानते हुए उन्हें प्रेमचन्द के बाद हिन्दी का श्रेष्ठ उपन्यासकार एवं उनके उपन्यासों को 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'गोदान', आदि के साथ कथा–साहित्य का क्लासिक घोषित किया। रामविलास जी वृन्दावनलाल वर्मा से न तो मजदूर क्रांति की माँग करते हैं और न वर्गीय दृष्टि के अभाव में लेखक की जनता में आस्था का प्रश्न उठाते हैं। जबकि अन्य लेखकों के सन्दर्भ में इन सभी सवालों का उठाते रहे थे। प्रेमचन्द, निराला और रेणु के कथा–साहित्य के विवेचन के दौरान भारतीय समाज की जिस वर्णाश्रमी सामंती संरचना एवं जाति–व्यवस्था की जकड़न को उन्होंने अपनी आलोचना से परे रखा है, उसको वे वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों के विवेचन–विश्लेषण के दौरान दर्ज करते हैं।

प्रेमचन्द की परंपरा में डॉ. शर्मा ने 'पहाड़ी', 'कृष्णचन्दर', 'शरत् और राजेन्द्र यादव को तो रखा है लेकिन यशपाल, रेणु को नहीं। यशपाल को उन्होंने जैनेन्द्र और अज्ञेय की परंपरा में रखकर देखा है। वे नैतिकतावाद, पवित्रतावाद में ऐसे फँसे रहे कि उन्होंने जैनेन्द्र तथा यशपाल के उपन्यासों को 'साड़ी जंफर उतारने वाला साहित्य' कहकर अश्लील करार दिया। सवाल यह है कि कला और साहित्य में सही नैतिकता का मानदंड क्या है? यशपाल के सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है कि ''जैनेन्द्र जी ने 'सुनीता' में जो 'भाभीवाद' शुरू किया था, यशपाल जी ने मानो वही 'दादा कॉमरेड' में पकड़ लिया था। वही आतंकवादी, वही साड़ी जंफर उतार परिस्थिति। 'दादा कॉमरेड' से लेकर 'मनुष्य के रूप' तक यशपाल ने यथार्थ के किस रूप को प्रतिबिंबित किया है?''[31] इतना ही नहीं, उन्होंने आगे भी लिखा कि ''सवाल है कि यशपाल और उन जैसे उपन्यासकारों में यह सेक्स–सज्जा इस भौड़े रूप में क्यों प्रकट होती है?....प्रेमचन्द और उनकी परंपरा के कथाकारों से यशपाल की तुलना करने पर बात साफ हो जायेगी....यशपाल के पात्र जन–जीवन के प्रतिनिधि नहीं हैं। वे उस वर्ग के लोग हैं जिनके लिए सेक्स और आत्मपीड़ा की समस्याएँ प्रधान हैं इसलिए उनके साथ गलत या सही राजनीति जोड़ देने से ही वे प्रगतिशील नहीं हो जाते....''[32] स्पष्ट है कि डॉ शर्मा यशपाल के वर्ग–संघर्ष को उनकी सेक्स–नैतिकता के बहाने खारिज कर देते हैं। 'दिव्या' में उन्हें न तो नारी को अभिशप्त बनाने और यातना देने वाली व्यवस्था का अंकन दिखाई देता है और न ही वर्ग–संघर्ष से लैस वह इतिहास–दृष्टि जो समूचे इतिहास को नये सिरे से देखने और पड़ताल करने वाले विवेक से परिचालित है। शर्मा जी ने यशपाल की साामाजिक–राजनैतिक समझ और चित्रण–क्षमता पर भी प्रश्न–चिन्ह लगाते हुए लिखा है कि ''देश में जो भयानक कांड हुए उस पर लेखक ध्यान केन्द्रित नहीं कर पाता। दूसरे शब्दों में वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय सामंतवाद की प्रतिक्रियावादी भूमिका को न स्पष्ट समझता है, न उसे उपन्यास में चित्रित कर पाया है।''[33] रामविलास जी ने यशपाल के ऊपर सामंती–पूँजीवादी, भोगवादी होने का आरोप लगाया है जिसके कारण उन्हें

यशपाल के उपन्यासों में रूढ़ियों से लड़ने वाली दृढ़ नारी चरित्र का अभाव दिखता है।[34] इन सबके बावजूद रामविलास जी यशपाल के 'झूठा सच' के राजनैतिक और सामाजिक मूल्यों को रेखांकित करते हैं और इस सन्दर्भ में 'झूठा सच' के महत्व को स्वीकार करते हैं।

डॉ. शर्मा की प्रगतिशील साहित्यकारों से यह शिकायत थी कि उन्होंने कथा साहित्य में मध्यवर्ग को और किसानों और मजदूरों से ज्यादा महत्व दिया है। डॉ. शर्मा शिवदान सिंह चौहान के सन्दर्भ में लिखते हैं कि ''चौहान जी मार्क्सवाद और पतित पूँजीवादी मनोविज्ञान के समन्वय का मसौदा पेश करते रहे हैं, वह साहित्य में तटस्थता की माँग करते रहे और गोर्की तक के लिए उन्होंने लिखा है कि उस महान लेखक ने रूसी क्रांति के अवसर पर तत्कालीन प्रश्नों को लेकर जो रचनाएँ कीं उनका इसी तरह की वोल्तेयर और शेली की रचनाओं की तरह कोई साहित्यिक मूल्य नहीं रहा। चौहान जी की कोशिश रही है कि प्रगतिशील साहित्य को तत्कालीन प्रश्नों से हटाकर शाश्वत तथा अर्द्ध–शाश्वत प्रश्नों की तरफ मोड़ा जाय।''[35] डॉ. रामविलास शर्मा ने चौहान को इसलिए 'विसर्जनवादी' कहा क्योंकि चौहान जी ने अज्ञेय और धर्मवीर भारती जैसे गैर–मार्क्सवादी लेखकों की प्रशंसा की थी।

डॉ. शर्मा ने लिखा है कि ''जो लोग मध्यवर्ग का चित्रण करते हैं वे अक्सर सेक्स की समस्याओं में उलझ जाते हैं। वे मध्यवर्ग को देश की विशाल जनता से अलग करके देखते हैं। वे उन समस्याओं का चित्रण नहीं करते जिनसे किसानों और मजदूरों की तरह मध्यवर्ग भी परेशान है। इसलिए मध्यवर्ग का चित्रण यथार्थवादी ढंग से होना चाहिए। इस चित्रण का मतलब असफल प्रेम या सफल व्यभिचार का चित्रण न होना चाहिए।''[36] स्पष्ट है कि डॉ. शर्मा के उपरोक्त आरोप सरलीकरण का परिणाम है। डॉ. शर्मा प्रेमचन्द के कथा साहित्य को भारतीय दर्पण के रूप में देखते हैं जिससे परिचित होने का मतलब है भारत के सामंती अवशेषों और उज्ज्वल भविष्य से परिचित होना।[37] प्रेमचन्द के मूल्यांकन में डॉ. शर्मा मार्क्सवादी औजारों का प्रयोग करते हैं और अपने प्रबल तर्कों से प्रेमचन्द को

हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार घोषित करते हैं। कुछ लोग मानते हैं कि 'गोदान' के सन्दर्भ में डॉ. शर्मा शोषक–शक्तियों के वास्तविक चरित्र को विश्लेषित करने में असमर्थ रहे हैं। यह उनके आलोचना–कर्म की सीमा हो सकती है जबकि अन्यों के अनुसार 'गोदान' पर लिखी गई उनकी आलोचना अब तक की सर्वश्रेष्ठ आलोचना है। 'गोदान' के सन्दर्भ में उनकी एक बेहद महत्वपूर्ण टिप्पणी इस प्रकार है–''गोदान की गति धीमी है। होरी के जीवन की गति की तरह। यहाँ सैलाब का वेग नहीं, लहरों के थपेड़े नहीं। यहाँ ऊपर से शांत दिखने वाली नदी में भँवरें हैं जो भीतर–ही–भीतर मनुष्य को दबाकर तलहटी से लगा देती हैं और दूसरों को वह तभी दिखाई देती है। जब उसकी लाश उतराती हुई बहने लगे।''[38] ये पंक्तियाँ होरी की ही नहीं, बल्कि उस भारतीय किसान–जीवन की सच्चाई को बयान करती हैं जो सामंती शोषण और उपनिवेश के मध्य पिस रहे थे और किसान से मजदूर बनते जा रहे थे।

कुल मिलाकर रामविलास शर्मा व्यक्ति और समाज के अन्तर्संबन्धों की गंभीर थाह लेने वाले आलोचक हैं। वे हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना में अवसरवादी तत्वों की छानबीन पर विशेष जोर देते हैं। फिर भी ऐसे लोगों की कमी नहीं जो यह मानते हैं कि उनका रवैया अक्सर आत्यन्तिक रूप से एकांगी, दुराग्रह और निषेधवादी साबित होता रहा है।

प्रकाशचन्द्र गुप्त भर्त्सना और विध्वंस की अपेक्षा अधिक व्यापक सहमति और स्वीकृति में विश्वास करने वाले आलोचक थे। उनकी आलोचना में लेखक और रचना के प्रति एक उदार विनम्रता का भाव मिलता है। वे जनवादी परंपरा के विकास पर अधिक बल देते हैं। वे प्रेमचन्द को भारतीय साहित्य के दो महान लेखकों–टैगोर और शरत्चन्द्र–के समक्ष रखकर उनका मूल्यांकन करते हैं। प्रेमचन्द के परवर्ती लेखकों के प्रति अपने आशावाद को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है कि ''प्रेमचन्द की कला बरसाती नदी के समान वेगशाली और बलवती है। इस विशाल नदी से जो शाखाएँ और उपशाखाएँ फूटकर निकलती हैं वे अभी काफी उथली और छिछली हैं। उनमें भी हम प्रेमचन्द की कला के समान ही वेग, रव और बल देखने की आकांक्षा रखते हैं।''[39] भगवतशरण उपाध्याय ने 'दिव्या की ऐतिहासिक

पृष्ठभूमि' नाम से एक लेख लिखा था। यह लेख 'हंस' पत्रिका में 1945 में छपा था और पर्याप्त विवादित रहा था। इस लेख में उन्होंने यशपाल पर कई सारे आरोप लगाए थे। उस समय प्रकाशचन्द्र गुप्त ने उपाध्याय जी के आरोपों का प्रतिवाद करते हुए 'हंस' में ही 'ऐतिहासिक उपन्यास' नाम से लेख लिखा जिसमें उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास की सीमाओं का उल्लेख करते हुए उसकी रचना–प्रक्रिया की व्यावहारिक कठिनाइयों पर विस्तार से प्रकाश डाला और यशपाल को प्रेमचन्द का उत्तराधिकारी घाषित किया। उन्होंने लिखा कि ''प्रेमचन्द के परवर्ती उपन्यासकारों में यशपाल ने ही सबसे अधिक तत्परता और लगन से राजनीतिक–सामाजिक उपन्यास लिखे और प्रेमचन्द की परंपरा के सबसे समर्थ उत्तराधिकारी वे ही कहे जा सकते हैं।''[40] यशपाल की उपन्यास–कला का केन्द्रीय विषय सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक शोषण से मुक्ति है और यशपाल इन्हीं आधारभूत समस्याओं को अपने उपन्यासों में उठाते हैं। गुप्त जी का मानना है कि यशपाल अपने उपन्यासों के माध्यम से भारत की क्रांतिकारी, सामाजिक शक्तियों को बदल देते हैं और साथ ही वे हिन्दी में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित नई कथा–शैली और कला का सृजन भी करते हैं। 'दिव्या' और 'अमिता' के सन्दर्भ में उनकी एक महत्वपूर्ण टिप्पणी है ''इन उपन्यासों में भारत का अतीत–इतिहास उपन्यासकार की कल्पना ने मूर्त किया है। इतिहास के ये चित्र बड़े ही भव्य और आकर्षक हैं किन्तु इनमें हम मानों वर्तमान की गूँज भी सुन सकते हैं। प्राचीन भारत की समृद्ध संस्कृति का चित्र अंकित करते हुए भी यशपाल सामंती समाज का वर्ग–शोषण, नारी की असमर्थता, दैन्य, गरीबी और युद्ध के संकट का वर्णन करना नहीं भूलते। मार्क्सवादी दृष्टि से इतिहास के ये विशद अध्ययन और अंकन हैं और यशपाल की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं के अन्तर्गत आते हैं।''[41]

गुप्त जी अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' के विशाल कैनवास की प्रशंसा करते हुए उसे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में रखते हैं। प्रेमचन्द की परंपरा में उन्होंने रेणु को भी रखा है। रेणु में मानवतावादी दृष्टि की खोज करते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'मैला आँचल' में गाँव की सभी कुरूपताओं का, गरीबी, बीमारी और अंधविश्वासों तथा

जातिगत भेदभावों का चित्रण हुआ है। गुप्त जी मानते हैं कि रेणु ने अपने परिचित ग्राम–जीवन को जिस गहरे अनुभव से चित्रित किया है वह बाद के लेखकों में अद्वितीय है। उन्होंने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के मूल्यांकन में प्रगतिशील उदार तत्वों की खोज की है और उपन्यास की भाषा–शैली की प्रशंसा की है।

कुल मिलाकर प्रकाशचन्द्र गुप्त का आलोचना–कर्म अपेक्षाकृत संतुलित है। वह अधिक गहराई में प्रवेश नहीं कर सकी है। उनके माध्यम से कलाकृति अथवा साहित्य–रचना के किसी ऐसे पक्ष का उद्‌घाटन नहीं हो सका है जो अप्रकाशित हो, बिलकुल नया हो। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने एक दृष्टिकोण मूलक भावुकता के साथ सामान्य प्रगति विधायक तत्वों को स्पर्श किया है।

नेमिचन्द्र जैन के लिए श्रेष्ठ रचना की कसौटी यह है कि वह पाठक, श्रोता की संवेदना को परिष्कृत, सूक्ष्म या गहरा करे, उसे जीवन को तथा अपने समय को नया करे। जो रचना ऐसा नहीं करती वह नेमि जी की दृष्टि में महत्वपूर्ण नहीं है।[42] नेमि जी की आलोचना दृष्टि रचना के बहाने पूरे जीवन और अपने समय के नये अर्थ अथवा स्तर हमारे सामने खोलती है। वे आलोचना को सृजनात्मक कार्य मानते है तथा आलोचक की तटस्थता में विश्वास नहीं करते हैं। वे साहित्यालोचन की शास्त्रीय, शैक्षिक या शोध प्रबन्धीय आदि किसी भी प्रचलित पद्धति के अनुसार हिन्दी उपन्यास का मूल्यांकन नहीं करते हैं बल्कि वे उपन्यास के विश्लेषण में उसके महत्व, उसकी असफलता और उसकी सर्जनात्मक उपलब्धि के वर्तमान स्तर पर भावी दिशा को पहचानने का प्रयास करते हैं।

नेमिचन्द्र जैन 'अधूरे साक्षात्कार' पुस्तक के माध्यम से औपन्यासिक आलोचना के वैज्ञानिक प्रतिमान स्थापित करने की कोशिश करते हैं। इस पुस्तक से उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा है कि हिन्दी में लिखे जा रहे उपन्यास समग्रता में व्यक्त न होकर अपर्याप्त और अधूरे रह गये हैं क्योंकि उनमें अनुभूति की गहराई और कलात्मक सौन्दर्यमूलक संपूर्णता दोनों के समन्वय का अभाव नज़र आता है। नेमि जी ने लिखा है ''स्वाधीनता के

बाद का हिन्दी उपन्यास एक स्तर पर समकालीन जीवन के दूर व्यापी विस्तार को अपने भीतर समेटता है, और दूसरे स्तर पर गहराई के आयाम में कुंठित और खण्डित व्यक्तित्व की करूणा को अभिव्यंजित करता है।''[43] नेमि जी का प्रयास था कि वे व्यक्तिगत राग–द्वेष से ऊपर उठकर रचना का मूल्यांकन करें। रचना को पढ़ने के बाद उनके मन में जैसी प्रतिक्रिया होती है वह उसे बेलाग शब्दावली में पस्तुत करते हैं।

नेमि जी जैनेन्द्र के उपन्यासों का मूल्यांकन करते हुए उनमें विचारों और तर्कों की बहुलता पाते हैं जिसके चलते उन्होंने जैनेन्द्र के उपन्यासों को प्राणहीन कहा है। उन्हें जैनेन्द्र मुख्यतः व्यक्तिमन की कुछेक समस्याओं या उलझनों के कथाकार लगते हैं। उन्होंने 'शेखर : एक जीवनी' का भरपूर स्वागत किया है और मानते हैं कि अज्ञेय के साहित्य को उपेक्षित नहीं किया जा सकता है। नेमि जी रेणु के महत्व को तो स्वीकार करते हैं लेकिन प्रेमचन्द–ग्रन्थि से मुक्त होकर 'मैला आँचल' का मूल्यांकन नहीं कर पाते हैं। उन्होंने रेणु की दृष्टि को आत्मीय और कवित्वपूर्ण कहा है, यह आत्मीय और कवित्वपूर्ण दृष्टि उनके प्रतिमान हैं। वे काव्यात्मकता और प्रगीतात्मकता का स्वर और लय का बड़ा ही रोचक संयोजन 'मैला आँचल' में पाते हैं।[44] 'बूँद और समुद्र' का विशाल कैनवास–जिसमें पूरा समाज, पूरा नगर मौजूद है–उन्हें आकर्षित करता है। लेकिन 'ताई' की मृत्यु के बाद की घटनाएँ उन्हें अनावश्यक लगती हैं। वे यशपाल की जीवन–दृष्टि और इतिहास–दृष्टि से भी असहमत हैं। यशपाल के सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है कि ''यशपाल के कलाकार व्यक्तित्व की यह भावभूमि उनके उपन्यासों की सामर्थ्य और दुर्बलता दोनों को प्रकट करती है। उनकी रचनाओं में रोचकता पर्याप्त होती है, व्यंग्य का चुटीलापन भी कम नहीं होता, किन्तु जीवन को संस्कार देने वाली गहन मानवीय संवेदना का अभाव रहता है, मन को संस्कार देने वाली अथवा अधिक संवेदनशील और सजग बनाने वाली विवेक को सतर्क बनाने वाली, सहानुभूति, करूणा और सौन्दर्य दृष्टि नहीं मिलती। उनके उपन्यासों में जिन्दगी का अधूरा साक्षात्कार मिलता है।''[45]

नेमि जी कृष्णबलदेव वैद के 'उसका बचपन' को कई दृष्टियों से हिन्दी कथा–साहित्य की एकदम अनूठी और असामान्य रचना बताते हैं और उसमें भाववस्तु की एकाग्रता की खोज करते हैं। 'यह पथ बन्धु था' के सन्दर्भ में उनका कहना है कि लेखक यथार्थ के अपेक्षाकृत अधिक सरलीकृत, बाह्य तथा ऊपरी रूपों को ही देख सका है।[46] नेमि जी 'भूले बिसरे चित्र' में भारतीय जीवन के बहुमुखी और बहुरंगी चित्र की परिकल्पना हुई मानते हैं। 'चारू चन्द्र लेख' में उन्हें रचना की कोई कलात्मकता नज़र नहीं आती है तथा मानवीय तत्व के चित्रण में उन्हें समर्थता प्रौढ़ता, जीवन्तता और गहराई का अभाव दिखाई देता है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' के शिल्प–विधान की नेमि जी भरपूर प्रशंसा करते हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क के 'शहर में घूमता आईना' में उन्हें कोई सर्जनात्मक अन्विति नहीं मिलती। अश्क के यथार्थ को नेमि जी कलात्मक यथार्थ नहीं मानते। बल्कि सामाजिक अवलोकन का यथार्थ मानते हैं। 'अंधेरे बन्द कमरे' में उन्हें जीवन से किसी गहरे साक्षात्कार का आभास नहीं मिलता है। राजेन्द्र यादव के सन्दर्भ में उनका कहना है कि ''घटनाओं और वर्णनों का अनावश्यक विस्तार, छोटी–छोटी बातों के लम्बे ब्यौरे, बहुत से शब्दों, शैली–संबन्धी युक्तियों आदि से भावुकतापूर्ण लगाव इत्यादि बातें उनके उपन्यास को अपरिपक्व और सतही बना देती हैं।''[47] नेमि जी की औपन्यासिक आलोचना में काव्यात्मक कसौटी को लेकर कुछ आलोचकों ने अपनी नाराज़गी जताई है। उन लोगों का मानना है कि नेमि जी का कवि रूप उनकी आलोचना पर हावी हो जाता है। वस्तुतः कला मात्र की अंतरंगता में ही कवित्व घुला मिला रहता है।

कुल मिलाकर नेमि जी रूप और वस्तु का सामंजस्य करते हैं। भाषा की सरलता और दृष्टि–केन्द्र के गंभीर मूल्यांकन पर बल देते हैं और एक ऐसे महाकाव्यात्मक उपन्यास की माँग करते हैं जिसमें जीवन और जगत की समग्रता अपनी पूरी जटिलता व जीवन्तता के साथ उपस्थित हो सके।

शिवकुमार मिश्र कृति को अत्यन्त जटिल और संश्लिष्ट प्रकार का कार्य–व्याापर मानते हैं। वे कृति के भीतर रचनाकार के जीवनानुभवों, इन्द्रियबोध और उसके विचार तीनों को

पाते हैं। वे रचना या कृति की राह से गुजरते हुए उसकी इस संश्लिष्ट निर्मिति को उसकी समग्रता में देखते हैं तथा रचना के मर्म और उसके संपूर्ण स्वत्व को पाठक के समक्ष उद्‌घाटित करते हैं।[48] साहित्य के मूल्यांकन के लिए मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण की आवश्यकता पर बल देते हैं और इस तथ्य पर बल देते हैं कि ''जरूरत है साहित्य–समीक्षा की एक ऐसी दृष्टि की जो साहित्य और उसके मूल उत्स को जोड़े रखकर भी उसकी सौन्दर्यात्मक मूल्यवत्ता का आख्यान कर सके।''[49] 'वृन्दावनलाल वर्मा : उपन्यास और कला' से लेकर 'प्रेमचन्द विरासत का सवाल' तक उनकी आलोचना रूप पर डॉ. रामविलास शर्मा का प्रभाव लक्षित होता है।

'दिव्या' पर लिखते हुए मिश्र जी भारतीय नारी के शोषण एवं उत्पीड़न के विरोध में इस उपन्यास की भूमिका का उत्साहपूर्वक उल्लेख करते हैं। नागार्जुन के उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ को उसके सारे तेवरों के साथ पाते हैं और नागार्जुन की यथार्थवादी ग्रामीण जीवन–दृष्टि की भरपूर तारीफ करते हैं। रेणु के मूल्यांकन में भी मिश्र जी डॉ. रामविलास जी का अनुसरण करते हैं। वे 'मैला आँचल' की आंचलिकता को यथार्थ–विरोधी बताकर रेणु पर प्रकृतवादी होने का आरोप लगाते हैं। लेकिन अन्ततः उन्होंने रेणु को प्रेमचन्द की परंपरा में ही रखा है। 'सारा आकाश' के मूल्यांकन में वे 'पूँजीवादी शक्तियों का उल्लेख करते हैं। मिश्र जी 'रागदरबारी' में श्रीलाल शुक्ल की यथार्थ पकड़, पैनी दृष्टि और धारदार शैली की तारीफ करते हैं, लेकिन शुक्ल जी से यह अपेक्षा करते हैं कि अपनी दृष्टि को मानवीय संवेदना से जोड़कर अर्थवान बनाएँ। मिश्र जी 'धरती धन न अपना' के मूल्यांकन में लेखक की यथार्थवादी दृष्टि की प्रशंसा करते हैं और इसमें रेणु से भिन्न आँचलिकता की खोज करते हैं। भीष्म साहनी के 'तमस' उपन्यास को वृहद् परिदृश्य में व्याख्यायित करते हैं, जहाँ 'तमस' उपन्यास का अंधेरा औपन्यासिक गुलामी को भी चित्रित करता है। मिश्र जी भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यासों में जनवादी कांतिकारी यथार्थ की पहचान करते हैं। चित्रा मुद्‌गल के 'आँवा' उपन्यास में औद्योगिक

मजदूर वर्ग के जीवन की समस्याओं और सवालों का जिस रूप में चित्रण हुआ है वह उन्हें प्रभावित करता है।

मैनेजर पाण्डेय किसी कला कृति के मूल्यांकन में ऐतिहासिकता और सामाजिकता के अनछुए पहलुओं को उद्‌घाटित करते चलते हैं। उन्होंने उपन्यास को मुक्तिधर्मी आख्यान मानते हुए लिखा है कि ''उपन्यास ने सामाजिक व्यवस्थाओं, विचारधाराओं, पितृसत्ता से उपजी पराधीनताओं, जाति–व्यवस्था, गुलामी, नस्लभेद, उपनिवेशवाद, आधिपत्य, अस्मिता, सांप्रदायिकता, लोकतंत्र और यहाँ तक कि स्वयं अपने स्वरूप के बारे में प्रश्न करते हुए पाठकों की चेतना और सहानुभूतियों का विस्तार किया है।[50] पाण्डेय जी का मानना है कि जो आलोचना रचना की केवल साामाजिक पृष्ठभूमि और विषयवस्तु के विवेचन तक ही सीमित होती है उसे कला की आलोचना नहीं माना जा सकता है। वे कला की आलोचना, कला की जमीन पर खड़े होकर करने की बात करते हैं जिसमें उन्होंने उन सांस्कृतिक संघर्षों को विशेष महत्व दिया है जिसको कि भुलाया नहीं जा सकता।

पाण्डेय जी उपन्यास को केवल साहित्यिक रूप तक ही सीमित करके नहीं देखते हैं, बल्कि उसे जीवन–जगत को देखने और मानव–जीवन तथा समाज का विशिष्ट बोध भी मानते हैं। उन्होंन लिखा है कि ''दूसरे कला रूपों और साहित्य रूपों की तुलना में उपन्यास का स्वरूप समाज पर अधिक निर्भर करता होता है और उसका विकास समाज के इतिहास के साथ होता है। लेकिन यह भी सच है कि वह एक कला है, केवल सामाजिक दस्तावेज नहीं, इसलिए सामाजिक यथार्थ, जीवन के अनुभव और इतिहास की गति रचनाकार की सृजनशीलता से पुनर्रचित होकर ही उपन्यास में आते हैं।''[51] उन्होंने न केवल राष्ट्रवाद को एकवचनीय मानने के प्रति सावधान किया है, बल्कि उसके साथ उपन्यास के संबंध को भी वैविध्यपूर्ण माना है। मैनेजर पाण्डेय ऐतिहासिक और व्यक्तिगत रोमांस के उपन्यासों को पुनरूत्थानपरक राष्ट्रवाद का पोषक बताते हैं जिसका प्रत्यक्षतः सामाजिक यथार्थवाद के उपन्यासों से स्थायी विरोध होता है। उन्होंने लिखा है कि ''रोमांसधर्मी उपन्यासकारों में वर्तमान के बोध की जगह अतीत की स्मृति या भविष्य की

कल्पना अधिक होती है। उनकी आख्यान की पूरी संस्कृति पुनरूत्थानवादी राष्ट्रवाद की मदद करती है, जबकि सामाजिक यथार्थवाद के उपन्यास अपने समय और समाज की सच्चाइयों का साक्षात्कार करते हुए मुक्तिधर्मी और अग्रगामी राष्ट्रीय चेतना का निर्माण करते हैं। उनमें जनता की जिन्दगी की वास्तविकताओं तथा लोकतांत्रिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति होती है और राष्ट्रवाद के हाशिए पर रहने वालों की आवाज सुनाई देती है।''[52] पाण्डेय जी को उपन्यास की संवादधर्मिता, स्वरों की अनेकता और सामाजिक भाषाओं की विविधता का रचनात्मक रूप 'मैला आँचल' में दिखता है। वे मानते हैं कि 'मैला आँचल' में रेणु ने भारतीय लोकतंत्र की समस्याओं का आख्यान रचा है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में उन्हें सभी प्रकार की पराधीनताओं से मुक्ति और लोकतंत्र की संभावना नज़र आती है।

मधुरेश अपने समय की रचनात्मक प्रतिभा के प्रति भरसक विनम्र बने रहकर समकालीन रचनाशीलता में हस्तक्षेप करते हैं और जो सार्थक है, उसे रेखांकित करने की कोशिश भी। वे रचनात्मकता में से संबन्धित वैचारिक संघर्ष और टकराव में शामिल होते हैं। यह वैचारिक टकराव ही उनका सार्थक हस्तक्षेप है। मधुरेश आलोचना की सफलता उसकी विश्वसनीयता में देखते हैं। उनकी दृष्टि में आलोचक का काम है रचना या रचनाकार के प्रति प्र्यापत वस्तुपरक रूप से सामाजिक सन्दर्भों में उसकी व्याख्या करे। वे उस आलोचना का विरोध करते हैं जो रचना को तोड़–मरोड़कर प्रस्तुत करती है तथा एक लेखक के समर्थन में दूसरे लेखक को बड़ा–छोटा बताती है।

मधुरेश ने कथा–आलोचना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है। 'हिन्दी उपन्यास का विकास' पुस्तक में उन्होंने हिन्दी के लगभग सभी उपन्यासों पर अपनी राय रखी है। यशपाल उनके प्रिय कथाकार हैं, इसलिए यशपाल पर होने वाले आक्षेपों तथा विरोधों का उन्होंने डटकर प्रतिवाद किया है और उन्हें बड़ा बताया है। यशपाल के मूल्यांकन में मधुरेश का निष्कर्ष है कि ''यशपाल जीवन की समग्रता और पूर्णता के सन्दर्भ में प्रेमानुभूति की अनिवार्यता पर बल देते हैं। वे कहीं भी उसके शारीरिक पक्ष की उपेक्षा नहीं करते और न ही जैनेन्द्र की तरह प्रेमानुभूति में शरीर और मन को बाँटकर देखते हैं। यशपाल

अज्ञेय की तरह प्रेम के स्वतंत्र और स्वायत्त द्वीप भी नहीं बनाते। वे जीवन–संघर्षों के बीच की अनिवार्यता स्वीकारते हैं। उनके यहाँ स्त्री केवल प्रेम ही नहीं करती, लेकिन प्रेम के बिना भी वह रह नहीं पाती। वह अपने जीवन और जीवन–जगत की वास्तविकताओं के बीच से ही अपनी राह बनाती है।''[53]

मधुरेश का मानना है कि प्रेमचन्द ने उपलब्ध उपन्यास के स्वरूप को ही नहीं बदला बल्कि एक सिरे से उपन्यास की अवधारणा में भी परिवर्तन किया। मधुरेश 'कंकाल' और तितली के सन्दर्भ में प्रसाद की यथार्थवादी चेतना को महत्व देते हैं। 'शेखर :एक जीवनी' के शशि और शेखर के सम्बन्धों में मार्मिकता की तलाश करते हैं। जैनेन्द्र के सन्दर्भ में उनका कहना है कि ''अपने लिए विचारों की जो निर्मिति करते हैं उसमें वास्तविकता और विश्वसनीयता का उतना महत्व नहीं है जितना कि उन विचारों से पैदा होने वाली उत्तेजना और प्रश्नाकुलता का।''[54] कुल मिलाकर हिन्दी उपन्यास के मूल्यांकन में मधुरेश का सर्वाधिक बल यथार्थ के विश्वसनीय चित्रण पर है जो उनके मूल्यांकन की कसौटी भी है। वे यथार्थवादी–प्रगतिवादी–साम्यवादी विचारधारा के यथार्थवादी लेखकों की रचनाओं को अपने मूल्यांकन का आधार बनाते हैं जिसमें उनका सारा जोर रचनात्मकता या अन्तर्वस्तु और कला के समन्वय पर रहता है।

रमेशकुन्तल मेघ ने मार्क्सवादी दर्शन को अपने विवेचन–विश्लेषण और मूल्यांकन का आधार माना है। डॉ. मेघ पर गैर–मार्क्सवादी आलोचना द्वारा आरोप लगाया गया है कि वह साहित्य की कम, समाज, राजनीति, इतिहास और दर्शन की चर्चा अधिक करते हैं। डॉ. मेघ आलोचना में अंतरानुशासन को महत्वपूर्ण मानते हैं। उन्होंने आधुनिकता, आधुनिकीकरण, अकेलापन, मिथक और सौन्दर्यशास्त्रीय समस्याओं को द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से देखा है। डॉ. मेघ आलोचना को 'सांस्कृतिक प्रकर्म' मानते हैं। यानी, सामाजिक–सांस्कृतिक चितंन उनके जीवन में साधन और साध्य है। एक बड़े आलोचक की आस्था, ईमानदारी और मर्यादा के प्रति निरन्तर सजग रहकर भी, सहजता और सहृदयता में अप्रतिम बौद्धिक रचनामात्र के प्रति–वह नये से नये रचनाकार का ही क्यों न

हो–विनम्र दिखाई देते हैं। डॉ. मेघ का आलोचक कहीं भी यांत्रिक या जड़ सूत्रवादी नहीं होता है। तार्किकता और बौद्धिकता में असाधारण होने से बचा लेती है। डॉ. मेघ यशपाल के नारी–मुक्ति के सवालों को सर्वहारा–मुक्ति से जोड़कर देखने के लिए उनकी प्रशंसा करते हैं। 'अमिता' उपन्यास के सन्दर्भ में लिखा है कि ''समकालीन इतिहास के हाशिए पर यह उपन्यास विश्व शांति और पंचशील के प्रचार के लिए जवाहरलाल नेहरू के प्रयत्नों की सराहना है। भावी विश्व युद्ध की आशंका को दूर करके विश्व शांति की रक्षा के लिए यह उपन्यास प्रचार–संदेश तथा भविष्यवाणी देता है। आप इसे 'प्रोपेगंडा' नहीं कह सकेंगे। यह समाजवादी यथार्थ का केन्द्रीय आदर्श है।''[55] 'मैला आँचल' में डॉ. मेघ उपनिवेशवाद और उत्तर उपनिवेशवाद के जटिल तथा द्वन्द्वात्मक संक्रमणों की खोज करते हैं। व्याख्या की यह एक नई प्रक्रिया है जो रचनाविधि से ही से संबद्ध है और डॉ. मेघ के 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के गठनात्मक विश्लेषण में दिखाई देती है। वस्तुपरक विवेचन की दृष्टि से इसे हिन्दी समीक्षा का सार्थक प्रयोग कहा जा सकता है जिसके माध्यम से लेखक की संपूर्ण रचना–दिशा प्रकाशित हो सकती है।

नित्यानंद तिवारी की औपन्यासिक आलोचना में विषय की सूक्ष्म पकड़ और अन्तर्दृष्टिपूर्ण विवेचन की गहराई विद्यमान है। यद्यपि उन्होंने कम लिखा है लेकिन जो लिखा है वह महत्वपूर्ण है। प्रेमचन्द के सन्दर्भ में उनका कहना है कि ''प्रेमचन्द वास्तविक जीवन सामग्री के संबंध–अन्तर्संबन्ध, अन्तर्विरोध और दाँव–पेंच को महत्व देते हुए कथानक और पात्र को पहचानते और प्रस्तावित करते हैं। उनकी बौद्धिकता उनकी परिस्थितियों के भीतर से उभरती है।''[56] डॉ. नित्यानंद अज्ञेय, इलाचन्द जोशी और यशपाल के बौद्धिक अनुशासन को जीवन–सामग्री से उभरा हुआ न मानकर विचारधारात्मक सूत्रों–प्रभावों से, उनके मानसिक अनुशासन से निर्मित हुआ मानते हैं। उन्होंने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में मध्ययुगीन समाज के अन्तर्विरोधों की जाँच–पड़ताल की है। वे होरी और बावनदास के चरित्र में गहरा मानवीय सरोकार पाते हैं। उन्होंने लिखा है कि ''होरी और बावनदास दोनों की मृत्यु आधुनिक भारतीय समाज और राजनीति में असाधारण रूप से मानवीय अन्तर्वस्तु

के टूटने की पीड़ा का साक्षात्कार कराती है।''[57] 'रागदरबारी' में घटनाओं, वस्तुओं, व्यक्तियों आदि का वर्णन उन्हें बेहद प्रभावित करता है। वे 'मैला आँचल' को 'वर्तमान सृजनशीलता का साक्ष्य' कहकर उसका मूल्यांकन करते हैं।

दरअसल, उपन्यास में समाज की वास्तविकता, समय की सच्चाई और इतिहास की उपस्थिति कई रूपों में अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्ति का एक रूप है–'प्रातिनिधिक' और दूसरा 'प्रतीकात्मक' है। प्रातिनिधिक रूप का विकास यथार्थवादी परंपरा में मिलता है और प्रतीकात्मक रूप का विकास प्राचीन कथा–साहित्य में। प्रतीकात्मक कथा–साहित्य में फैंटेसी, मिथक और रहस्यमय कथाओं का उपयोग होता है। हिन्दी में इस तरह के उपन्यास देवकीनंदन खत्री और अम्बिकादत्त व्यास ने लिखे हैं और पश्चिम में इस तरह के उपन्यास दक्षिण अमेरिकी देशों के जादुई यथार्थवादी उपन्यासकारों ने लिखे हैं। उपन्यास के मूल्यांकन में उसके कथा–शिल्प के स्वरूप की विशिष्टता का बारीकी से मूल्यांकन होना चाहिए। प्रायः देखने में आया है कि मार्क्सवादी और गैर–मार्क्सवादी आलोचकों ने प्रातिनिधिक पद्धति के उपन्यासों का मूल्यांकन तो किया है, लेकिन प्रतीकात्मक पद्धति के उपन्यासों को अपने मूल्यांकन से बाहर रखा है। (कुछेक मार्क्सवादी आलोचकों को छोड़कर)

साहित्य और कला से संबन्धित प्रश्नों पर मार्क्सवादी आलोचना की मान्यताएँ दूसरी आलोचना दृष्टियों की तुलना में न केवल विशिष्ट हैं, बल्कि मौलिक भी हैं। साहित्य और कला को एक नई दिशा देने के साथ ही उसने एक नये सौन्दर्यशास्त्र का विकास भी किया है जिसको 'मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र' के नाम से जाना जाता है। मार्क्सवादी आलोचना साहित्य एवं कला को विशिष्ट मानवीय उपलब्धि स्वीकार करते हुए, भाववादी मान्यताओं के विपरीत उससे जुड़ी हुई समस्त लोकोत्तर मान्यताओं का खंडन करती है। यानी, साहित्य और कला के जन्म और विकास की समूची व्याख्या मानव–जीवन तथा सामाजिक विकास के क्रम में की है। उसने विशुद्ध सौन्दर्य–नियमों को स्वीकार नहीं

किया, क्योंकि उसका मानना है कि समस्त कला–नियम सामाजिक आधार द्वारा नियमित और संचालित होते हैं।

मार्क्सवादी आलोचना में यथार्थ को जो केन्द्रीयता प्राप्त हुई वह किसी दूसरी आलोचना दृष्टि में संभव न हो पायी। मार्क्सवादी आलोचना का मानना है कि वस्तुगत यथार्थ से जुड़कर ही कोई साहित्य–रचना होती है और जो साहित्य यथार्थ से जितनी ही दूर होता है वह उतनी ही काल्पनिक और सामाजिक–यथार्थ से कटा होता है। मार्क्सवादी आलोचना ने कृतियों में यथार्थ की पहचान को न केवल चिन्हित किया, बल्कि यथार्थवाद के विभागों–आलोचनात्मक यथार्थवाद, समाजवादी यथार्थवाद, प्रकृतवादी यथार्थवाद और जादुई यथार्थवाद–पर खूब विचार–विमर्श भी किया है।

मार्क्सवादी आलोचना ने साहित्य के सन्दर्भ में स्वायत्तता, प्रतिबद्धता, परंपरा, विचारधारा जैसे साहित्यिक प्रश्नों को उठाया और उनको आलोचना की बहस के केन्द्र में रखा। हिन्दी उपन्यास के सन्दर्भ में उसने विचारधारा और सामाजिकता की खूब तलाश की। फलतः कुछ महत्वपूर्ण उपन्यासों–सुनीता, त्यागपत्र, शेखर : एक जीवनी, बाणभट्ट की आत्मकथा, आधा गाँव–का मूल्यांकन करने में नाकामयाब रही है। चूंकि मार्क्सवादी आलोचना संपूर्णता का दावा करती है, और उसके पास किसी भी कृति के मूल्यांकन के लिए पर्याप्त औजार भी हैं। लेकिन सवाल है औजारों के सही इस्तेमाल का। कहना न होगा कि हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना अपनी आत्ममुग्धता, खुद को सही साबित करने की जिद, दूसरी आलोचना दृष्टियों को पूर्ण रूप से खारिज करने का दुराग्रह तथा अपनी आलोचना सुनने और उससे बहस करने के बदले उसे नकारने के कारण विवादास्पद और खण्डित भी हुई है।

परंपरा का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने के कारण एक समय में राहुल सांस्कृत्यायन, शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव और यशपाल को परंपराभंजक और विसर्जनवादी कह कर उनके आलोचनात्मक योगदान को गलत ठहराने की कोशिश हुई थी। इससे

मार्क्सवादी आलोचना में न केवल खेमेबाजी हुई बल्कि हिन्दी साहित्य को पर्याप्त क्षति भी हुई है। कहना गलत न होगा कि अपने आरंभिक दिनों में यह आलोचना आपसी खींचातानी में ही अधिक व्यस्त रही। लेकिन हिन्दी की परवर्ती मार्क्सवादी आलोचना ने अपनी पूर्व की आलोचना की गलतियों से सबक लेते हुए आलोचना के क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण कार्य किये हैं।

हिन्दी के तिलस्मी–ऐयारी उपन्यासकार कहे जाने वाले देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों–चन्द्रकांता, और चन्द्रकांता संतति–को जिसे हिन्दी आलोचना ने एक सिरे से नकारा था, उस पर सर्वप्रथम ध्यान मार्क्सवादी आलोचना का ही गया। राजेन्द्र यादव, प्रदीप सक्सेना और चन्द्रबली सिंह जैसे मार्क्सवादी आलोचकों ने न केवल देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों का सार्थक मूल्यांकन किया बल्कि उन्होंने उसमें वर्णित तिलिस्म की रहस्मयता को भी उजागर किया, उसे वैज्ञानिक पद्धति से निर्मित भारतीय शिल्प–कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण बताया। राही ने 'आधा गाँव' में निम्न जाति की स्त्रियों के माध्यम से जो विमर्श तैयार किया है, उसका विवेचन–विश्लेषण मार्क्सवादी आलोचना ने भी किया है।

l UnHk xUFk& l ph

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांत – डॉ. मैथिली प्रसाद भारद्वाज (हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, द्वितीय सं. 1994) पृ.425
2. साहित्यालोचन – डॉ. श्यामसुन्दर दास (लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2008) पृ. 175
3. दे. हिन्दी आलोचना : इतिहास और सिद्धांत – योगेन्द्र प्रताप सिंह, (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2008) पृ. 17
4. रचना और आलोचना – देवीशंकर अवस्थी (मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, प्र. सं. 1979) पृ0 16
5. समकालीन हिन्दी आलोचना – परमानंद श्रीवास्तव, (साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्र. सं. 1998) पृ. 11 पर उद्धृत
6. दे. ''कल के लिए'', मार्च 2010, जून 2010, परमानंद श्रीवास्तव का लेख 'हमारे समय में समीक्षा' पृ. 12
7. रचना और आलोचना – रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ. 4
8. वही, पृ. 26
9. दे. ''कल के लिए'' मार्च 2010, जून 2010, परमानन्द श्रीवास्तव का लेख 'हमारे समय में समीक्षा' पृ. 16
10. हिन्दी आलोचना का विकास – विश्वनाथ त्रिपाठी (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. छात्र सं. 1992) पृ. 216
11. दे. मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र – संपा. कमला प्रसाद व अन्य (संभावना प्रकाशन, हापुड़, प्र. सं. 1977) में अतुलवीर अरोड़ा का लेख 'मार्क्सवाद के परिप्रेक्ष्य में रचना और विचार : स्वातंत्र्य का सवाल' पृ. 113
12. दे. वही में संकलित लूनार्चास्की का लेख – मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएँ, अनु. अनिल कुमार श्रीवास्तव, पृ. 197
13. प्रगतिशील हिन्दी आलोचना : विवाद और विमर्श – मृत्युंजय सिंह, (शिल्पायन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2009) पृ. 32–33
14. प्रगतिशील हिन्दी आलोचना : विवाद और विमर्श – मृत्युंजय सिंह, पृ. 124

15. दे. मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र – संपा. कमला प्रसाद व अन्य में संकलित लूनर्चास्की का लेख 'मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएँ, अनु. अनिल कुमार श्रीवास्तव, पृ. 197

16. अनभै सॉचा – मैनेजर पाण्डेय (पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2002, पृ. 70 पर उद्धृत

17. इतिहास और आलोचना – डॉ. नामवर सिंह (नया साहित्य प्रकाशन, इलहाबाद, प्र. सं. 1962) पृ. 46

18. मुक्तिबोध रचनावली : पाँच – सपां. नेमिचन्द्र जैन (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय सं. 1986) पृ. 93

19. नई समीक्षा – डॉ. अमृत राय (हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 1977) पृ. 5

20. आलोचना के मान – शिवदान सिंह चौहान, पृ. 120

21. शिवदान सिंह चौहान (मोनोग्राफ) – पुरूषत्तम अग्रवाल (साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्र. सं. 2007) पृ. 57 पर उद्धृत

22. वही, पृ. 55

23. तीसरा रूख – पुरूषत्तम अग्रवाल (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1998) पृ.124

24. दे. मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र –संपा. कमला प्रसाद व अन्यमें संकलित रामकृपाल पाण्डेय का लेख 'हिन्दी का मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रीय चिंतन, पृ.137

25. मार्क्सवादी साहित्य चिंतन : इतिहास तथा सिद्धांत – शिवकुमार मिश्र पृ. 408

26. वही, पृ. 410

27. मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य – डॉ. रामविलास शर्मा (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1984) पृ. 5

28. दे. आलोचना–2000 सहस्राब्दी अंक तीन, अक्टूबर–दिसम्बर, नामवर सिंह का लेख 'शिवदान सिंह चौहान : इतिहास के परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए' पृ. 8

29. शिवदान सिंह चौहान (मोनोग्राफ), पृ. 78

30. हिन्दी साहित्य की समस्याएँ – शिवदान सिंह चौहान, संपा. विष्णुचन्द्र शर्मा (आत्माराम एंड संज, 1954, पुनः प्रकाशित स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली) पृ. 114

31. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ – डॉ. रामविलास शर्मा (विनोद पुस्तक मंदिर हॉस्पिटल रोड आगरा, सं. 1954 पृ. 118

32. वही, पृ. 13

33.कथा विवेचन और गद्य शिल्प – डॉ. रामविलास शर्मा (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1982) पृ. 77

34.प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, पृ. 20

35.मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ. 63

36.वही, पृ. 209

37.कथा विवेचन और गद्य शिल्प, पृ. 11

38.प्रेमचन्द और उनका युग, – रामविलास शर्मा, पृ. 37

39.हिन्दी साहित्य की जनवादी परंपरा – प्रकाशचन्द्र गुप्त (किताब महल, इलाहाबाद, प्र. सं. 1953) पृ. 191

40.क्रांतिकारी यशपाल – एक समर्पित व्यक्तित्व –संपा. मधुरेश, पृ. 70 पर उद्धृत

41.वही, पृ. 71

42.दे. दस्तावेज – 62, जनवरी–मार्च 1994, पृ. 05

43.अधूरे साक्षात्कार – नेमिचन्द्र जैन, पृ. 02

44.वही, पृ. 117

45.वही, पृ. 81

46.वही, पृ. 48

47.वही, पृ. 134–35

48.दे. दस्तावेज–62, जनवरी–मार्च 1994, पृ. 10

49.साहित्य और सामाजिक सन्दर्भ – शिवकुमार मिश्र (प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली प्रं. सं. 2012) पृ. 07

50.मैनेजर पाण्डेय : संकलित निबंध, पृ. 115

51.साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका – डॉ. मैनेजर पाण्डेय, पृ. 231

52.वही, पृ. 119

53.यशपाल : रचनात्मक पुनर्वास की एक कोशिश – मधुरेश, पृ. 229

54.उपन्यास का विकास – मधुरेश, पृ. 76

55.दे. यशपाल पुनर्मूल्यांकन – संपा. कुँवरपाल सिंह, डॉ. रमेशुन्तल मेघ का लेख, पृ. 103

56.दे. भारतीय लेखक (यशपाल पर केन्द्रीत अंक) अतिथि संपा. मधुरेश, नित्यानंद तिवारी का लेख 'उत्तर प्रेमचन्द हिन्दी उपन्यास और दादा कॉमरेड' पृ. 178–79

57. दे. उपन्यास का समाजशास्त्र – संपा. गरिमा श्रीवास्तव में नित्यानंद तिवारी का लेख 'मैला आँचल' पृ. 235

mi lgkj

हिन्दी गद्य के साथ–साथ उपन्यास का उदय आधुनिक काल में ही हो सका। उसके अस्तित्व के लिए जिन भौतिक और विचारधारात्मक आधारों की आवश्यकता थी उनका विकास आधुनिक युग में ही संभव था। उपन्यास के अस्तित्व निर्धारण में प्रेस, प्रकाशन, पत्र–पत्रिकाएँ, पाठक आदि का जन्म व विकास आधुनिक युग में ही हो पाया। पश्चिम में उपन्यास का जन्म व विकास पूँजीवाद के साथ–साथ हुआ है। हमारे यहाँ उन्नसवीं सदी सामन्तवाद के ढहने और पूँजीवाद के बीज–वपन का काल रहा है। मध्यवर्ग के जन्म का क्रन्दन भी वहाँ सुनाई दे सकता था। अतः पूँजीवाद और मध्यवर्ग के उभरने से उपन्यास भी जुड़ा हुआ है।

साहित्येतिहास की दृष्टि से देखा जाय तो उपन्यास के आरंभिक विकास के बाद से उसकी आलोचना की प्रक्रिया शुरू होती है। उपन्यास की उस आलोचना–प्रक्रिया में कई दृष्टियाँ भी दिखाई देती हैं। उन पर अलग–अलग साहित्य–चिंतकों की अथवा साहित्य से जुड़ी मान्यताओं का प्रभाव परिलक्षित होता है। उस आलोचना–प्रक्रिया की सभी दृष्टियों में मार्क्सवादी दृष्टि सबसे अधिक प्रभावी रही है। इस दृष्टि ने रचना को उसके भौतिक या सामाजिक–आर्थिक सन्दर्भों में व्याख्यायित किया है। पश्चिम के साहित्य–चिंतकों (कार्ल मार्क्स–एंगेल्स, लेनिन, प्लेखानोव, लुकाच, रैल्फ फॉक्स, ट्राटस्की, ग्राम्शी, गोल्डमान, रेमेन्ड विलियम्स, टेरी ईगल्टन, इत्यादि) ने साहित्य एवं कला के उद्‌भव, उसकी रचना–प्रक्रिया, रचना का जीवन की अन्य भूमिकाओं के साथ संबन्ध, रचना की प्रासंगिकता, उद्देश्य आदि पर विस्तार से विचार किया हैं।

मार्क्सवादी आलोचना के निर्माण में दो तरह के साहित्य–चिंतकों का योगदान रहा हैं। एक तरफ वे विचारक हैं जिनका साहित्य–कला का अध्ययन प्रधान क्षेत्र नहीं रहा है बल्कि जो मुख्य रूप से दार्शनिक, सामाजिक या राजनीतिक विचारक हैं। उन्होंने जीवन की बुनियादी समस्याओं पर चिंतन करने के क्रम में साहित्य और कला के सन्दर्भ में अपने

विचार प्रकट किये हैं। इसमें कार्ल मार्क्स, एंगेल्स, और लेनिन के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। दूसरे वे विचारक हैं जिन्होंने साहित्य–कला के क्षेत्र में अपना पूरा योगदान दिया है। इनमें मुख्य रूप से प्लेखानोव, लूनाचार्स्की, गोर्की, कॉडवेल, रैल्फ फॉक्स, लुकाच, अन्र्स्ट फिशर, गोल्डमान, टेरी ईगल्टन इत्यादि हैं। दूसरे साहित्य–चिन्तकों की अपेक्षा उपन्यास के सन्दर्भ में जार्ज लुकाच और रैल्फ फाक्स का योगदान अधिक है। रैल्फ फॉक्स ने उपन्यास को लोक–कला के रूप देखा और उसे मानव–जीवन के सन्दर्भ में व्याख्यायित किया है। जबकि लुकाच ने पहली बार उपन्यास के दार्शनिक, ऐतिहासिक और सामाजिक स्वरूप का गंभीरता से विवेचन–विश्लेषण किया। उन्होंने यथार्थवाद को भी अपने अध्ययन का विषय बनाया और आलोचनात्मक यथार्थवाद की तुलना में समाजवादी यथार्थवाद को अधिक महत्व दिया है। यथार्थवाद का जन्म उपन्यास के साथ ही हुआ है और उपन्यास के विकास के साथ ही इसका भी विकास हुआ। पश्चिम के उपन्यासों में यथार्थवाद के विभागों–समाजवादी यथार्थवाद, आलोचनात्मक यथार्थवाद, प्रकृत यथार्थवाद और जादुई यथार्थवाद–की चर्चा खूब हुई है।

भारतीय साहित्य में विशेषकर हिन्दी साहित्य में उपन्यास का जन्म मध्यवर्गीय चेतना की देन है। सभी हिन्दी उपन्यास अंग्रेजी उपन्यासों की नकल पर नहीं लिखे गये हैं लेकिन अंग्रेजी उपन्यासों से प्रभावित जरूर हैं और यह प्रभाव बंगला उपन्यासों के माध्यम से भी आया है। हिन्दी उपन्यास का आरम्भ उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दो दशकों से होता है। उस समय में 'परीक्षागुरू', 'नूतन ब्रह्मचारी', 'श्यामा स्वप्न' और चन्द्रकांता जैसे उपन्यास लिखे गये। इन उपन्यासों के महत्व को नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता क्योंकि इन्होंने प्रेमचन्द युग में उपन्यास–सृजन के लिए एक ठोस पृष्ठभूमि तैयार की।

दरअसल, प्रेमचन्द को हिन्दी उपन्यास का मानक माना गया है क्योंकि प्रेमचन्द से उपन्यास अपनी औपन्यासिक शर्तों पर लिखा जाने लगा। यहाँ से उपन्यास लेखन में क्रमबद्धता आई और उसका उत्तरोत्तर विकास होता गया, इस विकास में उपन्यास की कई धाराएँ–मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आंचलिक–मौजूद हैं, जिन्होंने हिन्दी उपन्यास की

विषय–वस्तु और शिल्प दोनों को प्रभावित किया। हिन्दी में प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद ने यथार्थवाद के स्वरूप पर विचार करते हुए आदर्श और यथार्थ के सामंजस्य की बात की है। यानी प्रेमचन्द–प्रसाद दोनों ने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की वकालत करते हैं लेकिन प्रेमचन्द के मुकाबले प्रसाद के यहाँ यथार्थ की स्थिति ज्यादा बारीक है। अर्थात् उनका यथार्थवाद जीवन की लघु वस्तुओं एवं घटनाओं को चित्रित करता है।

हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना ने हिन्दी उपन्यासों का समय–समय पर मूल्यांकन किया है। हिन्दी में लोकप्रिय अथवा बेस्ट सेलर उपन्यास का आरम्भ देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों से होता है। लेकिन खत्री के उपन्यासों का मूल्यांकन जिस व्यवस्थित ढंग से होना चाहिए था, वह अभी नहीं हो पाया है। लगता है उन उपन्यासों को लेकर मार्क्सवादी आलोचना को बहस करने की गुंजाइश अभी भी है। मार्क्सवादी आलोचना ने जिन उपन्यासों का मूल्यांकन किया है उनमें प्रमुख रूप हैं–चन्द्रकांता गोदान, सुनीता, त्यागपत्र, शेखर : एक जीवनी, बाणभट्ट की आत्मकथा, सिंह सेनापति, दिव्या, झूठा–सच, बूँद और समुद्र, मैला आँचल, राग दरबारी, आधा गाँव आदि।

उपर्युक्त उपन्यासों के मूल्यांकन में मार्क्सवादी आलोचकों में आपसी खींचातानी भी खूब हुई है। कुछ उपन्यासकारों ने मार्क्सवादी आलोचकों द्वारा स्वीकृत स्थूल और सरलीकृत मान्यताओं का प्रत्याख्यान भी किया। अनेक उपन्यासों का सार्थक मूल्यांकन करने में मार्क्सवादी आलोचना असफल रही है। जैनेन्द्र, अज्ञेय, रेणु और राही मासूम रजा के सन्दर्भ में ऐसा ही हुआ। इन कथाकारों की ज्यादातर मार्क्सवादी आलोचकों द्वारा की गई आलोचनायें आधी–अधूरी रह गई लगती हैं। अनेक उपन्यासकारों की रचनात्मकता, कलात्मकता, और भाषा–सौष्ठव कितनी श्रेष्ठ है इसका आकलन करने में मार्क्सवादी आलोचना असफल रही है। कहना गलत न होगा कि मार्क्सवादी आलोचकों के औजार ही स्थूल थे। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के विकसित किये जाने पर संभव है कि उन उपन्यासकारों का ठीक–ठीक मूल्यांकन हो सके।

फिर भी अपनी सीमाओं और तथाकथित प्रतिबद्धताओं के बावजूद हिन्दी उपन्यास के लिए मार्क्सवादी आलोचना का प्रशस्त–कर्म ऐतिहासिक और निर्णायक मोड़ होता रहा है। मार्क्सवादी आलोचना से साहित्य समाज के न केवल निकट गया बल्कि साहित्य सामाजिक कर्म की जरूरत बन गया। मार्क्सवादी आलोचना का उपन्यासकारों से आग्रह था कि वे अपने उपन्यासों में 'सामाजिक सच' को अधिक महत्व दें। इसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य का अन्तरंग संसार मार्क्सवादी आलोचना की पकड़ से फिसल गया और यह आलोचना एकांगी होने के लिए अभिशप्त थी। जिस तरह से मार्क्सवाद के अनेक संप्रदाय–रूस, चीन, क्यूबा, यूरोप (यूरो–कम्युनिज्म) आदि जगहों में–विश्व भर सक्रिय हुए उसी तरह उनकी साहित्यिक मान्यताएँ भी अपनी देशीय जरूरतों के आधार पर बनती टूटती रहीं। रूस में कभी दॉस्तोयवस्की, बोरिस पास्तरनाक, सोल्झेनित्सिन जैसे महान रचनाकारों का विरोध हुआ था। इसी तरह चीन आदि देशों में साहित्य को पार्टी का पिछलग्गू बनने को बाध्य किया गया। कम्युनिस्ट पार्टी का कमोवेश दबाव हरेक देश में रहा है। फलस्वरूप कट्टर मार्क्सवादी लोग साहित्य को नारों, घोषणा पत्रों, प्रचार–साहित्य एवं रचनात्मक औजार को रिड्यूस करने लगे। ग्लासनोस्त और पेरेस्मोइका के बाद सोवियत संघ के के बाद स्थिति में खासा बदलाव आया महसूस होता है।

इस तरह मार्क्सवादी आलोचना ने उपन्यास के विवेचन–विश्लेषण के क्रम में विचारधारा, सामाजिक चेतना और वर्ग–दृष्टि को अधिक महत्व दिया, जिससे कला–तत्वों के सम्यक् विवेचन की अवहेलना भी हुई। यह केवल संयोग नहीं हो सकता कि रेणु, चतुरसेन शास्त्री, भगवतीचरण वर्मा, अश्क, शैलेश मटियानी, शिवप्रसाद सिंह, कृष्णबलदेव वैद, गोविन्द मिश्र, रमेशचन्द्र शाह, मनोहर श्याम जोशी, विनोद कुमार शुक्ल आदि उपन्यासकारों के लेखन को मार्क्सवादी आलोचना ने या तो उपेक्षा की दृष्टि से देखा अथवा उसका समय पर समुचित मूल्यांकन नहीं किया। यह अच्छी बात है कि अब मार्क्सवादी आलोचना की दृष्टि पहले जैसी पूरी तरह बद्ध नहीं है, धीरे–धीरे उसमें परखने का खुलापन आता जा रहा है।

lUnHkZ lkexzh

¼1½ vk/kkj xzUFk&lwph

क्रम सं.	iLrd@jpuk,a	Yks[kd@jpukdkj	lkdk'kd
1.	अमृत और विष	अमृतलाल नागर	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, छठवाँ सं. 1976
2.	अपने अपने अजनबी	सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय	भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, सं. 2003
3.	अलका	सूर्यकांत त्रिपाठी निराला	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2009
4.	आधा गाँव	राही मासूम रजा	राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, तीसरा सं. 1989
5.	उसका बचपन	कृष्णबलदेव वैद	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1981
6.	कब तक पुकारूँ	रांगेय राघव	राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, सं. 1976
7.	कंकाल	जयशंकर प्रसाद	भारती भंडार, प्रयाग सं. 1976
8.	गर्म राख	उपेन्द्रनाथ अश्क	नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 1978
9.	गिरती दीवारें	उपेन्द्रनाथ अश्क	नीलम प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 1967
10.	गुनाहों का देवता	धर्मवीर भारती	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सं. 2009
11.	गोदान	प्रेमचन्द	डायमंड बुक्स, दिल्ली, सं. 1969
12.	चन्द्रकांता	देवकीनंदन खत्री	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2012
13.	चित्रलेखा	भगवतीचरण वर्मा	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2009
14.	जय यौधेय	राहुल सांस्कृत्यायन	किताब महल, इलाहाबाद, सं. 1967
15.	जहाज का पंछी	इलाचन्द जोशी	लोकभारती प्रकाशन, इलहाबाद, सं. 1980
16.	झूठा सच (भाग–एक, वतन और देश) झूठा सच (भाग–दो, देश का भविष्य)	यशपाल	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पाचवाँ सं. 1975 लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ सं. 1977
17.	त्यागपत्र	जैनेन्द्र कुमार	पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1977

18.	तमस	भीष्म साहनी	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1977
19.	तितली	जयशंकर प्रसाद	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2005
20	दिव्या	यशपाल	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2005
21.	दीर्घतपा	फणीश्वरनाथ रेणु	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2008
22.	दीवार में एक खिड़की रहती थी	विनोद कुमार शुक्ल	वाणी प्रकाशन. नई दिल्ली, सं.2002
23.	देशद्रोही	यशपाल	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 1978
24.	देहाती दुनिया	शिवपूजन सहाय	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय सं. 2012
25.	धरती धन न अपना	जगदीशचन्द्र	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2007
26.	नाच्यौ बहुत गोपाल	अमृतलाल नागर	राजपाल एंड संस, नई दिल्ली, सं. 2006
27.	नौकर की कमीज	विनोद कुमार शुक्ल	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2006
28.	परती परिकथा	फणीश्वरनाथ रेणु	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1978
29.	परख	जैनेन्द्र	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं. 2011
30.	परीक्षागुरू	लाला श्रीनिवास दास	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2008
31.	पुनर्नवा	हजारीप्रसाद द्विवेदी	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2010
32.	प्रेमाश्रम	प्रेमचन्द	राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि. जयपुर, सं. 2004
33.	बलचनमा	नागार्जुन	किताब महल, इलाहाबाद, सं. 1978
34.	बाणभट्ट की आत्मकथा	हजारी प्रसाद द्विवेदी	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाचवाँ सं. 1990
35.	बूँद और समुद्र	अमृतलाल नागर	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2006
36.	भाग्यवती	श्रद्धाराम फिल्लौरी	श्रद्धा प्रकाशन, नासिक, सं. 2009
37.	मुर्दों का टीला	रांगेय राघव	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय सं. 1963
38.	मैला आँचल	फणीश्वरनाथ रेणु	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2009
39.	मृगनयनी	वृन्दावन लाल वर्मा	मयूर प्रकाशन झाँसी, उत्तर प्रदेश, सं. 1976
40.	रतिनाथ की चाची	नागार्जुन	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2004

41.	रंगभूमि	प्रेमचन्द	सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, सं. 1981
42.	राग दरबारी	श्रीलाल शुक्ल	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2009
43.	वरुण के बेटे	नागार्जुन	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2003
44.	विराटा की पद्मिनी	वृन्दावन लाल वर्मा	प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2006
45.	सत्ती मैया का चौरा	भैरव प्रसाद गुप्त	नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 1959
46.	सारा आकाश	राजेन्द्र यादव	अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1968
47.	सिंह सेनापति	राहुल सांस्कृत्यायन	किताब महल, इलहाबाद, सं. 1949
48.	सूरज का सातवाँ घोड़ा	धर्मवीर भारती	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सं. 2006
49.	शेखर : एक जीवनी (भाग–एक व दो)	सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय	सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, सं. 2004

¼2½ Lkgk;d xUFk&lwph

1.	अठारह उपन्यास	राजेन्द्र यादव	अक्षर प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, प्र. सं. 1981
2.	अधूरे साक्षात्कार	नेमिचन्द्र जैन	अक्षर प्रकाशन, प्रा. लि. नई दिल्ली, सं. 1966
3.	अनभै साँचा	मैनेजर पाण्डेय	पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली सं. 2002
4.	अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा	रमेश कुन्तल मेघ	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली सं. 1977
5.	आलोचना के मान	शिवदान सिंह चौहान, सपां. विष्णुचन्द्र शर्मा	स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1954
6.	आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचन्द	सत्यकाम	राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, प्र. सं. 1994
7.	आलोचना के प्रगतिशील आयाम	शिवकुमार मिश्र	पंचशील प्रकाशन जयपुर, राजस्थान सं.1987
8.	आलोचना का जनपक्ष	चन्द्रबली सिंह	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2003
9.	आधुनिक हिन्दी उपन्यास	संपा. भीष्म साहनी व अन्य	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1980

10.	आंचलिकता, यथार्थवाद और फणीश्वरनाथ रेणु	सुवास कुमार	साहित्य सहकार प्रकाशन कृष्णनगर, दिल्ली, प्र. सं. 1992
11.	इतिहास और आलोचना	नामवर सिंह	नया साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1982
12.	उपन्यास का सिद्धांत	जार्ज लुकाच, अनु. आनंद प्रकाश	मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, बंबई, मद्रास, कलकत्ता, प्र. सं. 1981
13.	उपन्यास और लोक जीवन	रैल्फ फाक्स, अनु. नरोत्तम नागर	पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि. नई दिल्ली, प्रं. सं. 1957
14.	उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता	वीरेन्द्र यादव	राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, प्र. सं. 2008
15.	उपन्यास का पुनर्जन्म	परमानंद श्रीवास्तव	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं. 1995
16.	कम्युनिस्ट घोषणा– पत्र	कार्ल मार्क्स व फ्रेडरिक एंगेल्स	राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, प्रा. लि. जयपुर द्वितीय सं. 2007
17.	कला के सामाजिक उद्‌गम	गिआर्गी प्लेखानोव, अनु. विश्वनाथ मिश्र	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2003
18.	कला की जरूरत	अर्न्स्ट फिशर, अनु. रमेश उपाध्याय	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1990
19.	कथा विवेचन और गद्य–शिल्प	डॉ. रामविलास शर्मा	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1982
20.	कार्ल मार्क्स : कला और साहित्य–चिंतन	संपा. नामवर सिंह, अनु. गोरख पाण्डेय	राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, प्रा. लि. जयपुर द्वितीय सं. 2007
21.	गल्प का यथार्थ : कथालोचन के आयाम	सुवास कुमार	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2010
22.	प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ	डॉ. रामविलास शर्मा	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, सं. 1954
23.	प्रगतिशील हिन्दी आलोचना : विवाद और विमर्श	मृत्युंजय सिंह	शिल्पायन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2009
24.	प्रसाद ग्रन्थावली	संपा. रत्नशंकर प्रसाद	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 1985
25.	पाश्चात्य काव्यशास्त्र : मार्क्सवादी परंपरा	संपा. मक्खनलाल शर्मा	हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
26.	प्रेमचन्द और भारतीय समाज	नामवर सिंह, संपा. आशीष त्रिपाठी	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2010
27.	प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास	ज्ञानचन्द जैन	आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली, प्र. सं. 1998
28.	फणीश्वरनाथ रेणु और मार्क्सवादी आलोचना	संपा. मधुरेश	यश पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्र. सं. 2008
29.	मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र	संपा. कमला प्रसाद व अन्य	संभावना प्रकाशन, हापुड, प्र. सं. 1977

30.	मार्क्सवादी साहित्य–चिंतन : इतिहास तथा सिद्धांत	शिवकुमार मिश्र	मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, प्र. सं. 1973
31.	मार्क्सवाद	यशपाल	विप्लव कार्यालय, लखनऊ सं. 1973
32.	मार्क्सवादी, समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक आलोचना	पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु	राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रा. लि. नई दिल्ली सं. 1992
33.	मैला आँचल का महत्व	संपा. मधुरेश	सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद तृतीय सं. 2008
34.	यथार्थवाद	शिवकुमार मिश्र	दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया,लि. नई दिल्ली, कलकत्ता, बंबई, मद्रास
35.	रचना और आलोचना	देवीशंकर अवस्थी	दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया, लि. नई दिल्ली, प्र. सं. 1979
36.	विभ्रम और यथार्थ	क्रिस्ट्रोफर कॉडवेल, अनु. भगवान सिंह	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1990
37.	शताब्दी के ढलते वर्ष में	निर्मल वर्मा	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं. 1995
38.	शांति निकेतन के शिवालिक	संपा. शिवप्रसाद सिंह	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली प्र. सं. 1967
39.	शिवदान सिंह चौहान (मोनोग्राफ)	पुरूषोत्तम अग्रवाल	साहित्य अकादमी, नई दिल्ली प्र. सं. 2007
40.	शेखर : एक जीवनी का महत्व	संपा. परमानंद श्रीवास्तव	सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वि. सं. 2005
41.	समकालीन हिन्दी आलोचना	परमानंद श्रीवास्तव	साहित्य अकादमी, नई दिल्ली प्र. सं. 1978
42.	साहित्य की पहचान	नामवर सिंह, संपा. आशीष त्रिपाठी	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2012
43.	साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका	डॉ. मैनेजर पाण्डेय	हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला हरियाणा, तृतीय सं. 2006
44.	साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन	संपा. निर्मला जैन	हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली प्र. सं. 1986
45.	साहित्य और यथार्थ	हावर्ड फास्ट, अनु. विजय सुषमा	अरूणोदय प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1993
46.	हिन्दी उपन्यास का विकास	मधुरेश	सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद प्र. सं. 2005
47.	हिन्दी उपन्यास का इतिहास	गोपाल राय	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2005
48.	हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा	रामदरश मिश्र	राजमकल प्रकाशन, नई दिल्ली सं. 1968
49.	हिन्दी आलोचना : इतिहास और सिद्धांत	योगेन्द्र प्रताप सिंह	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं. 2008

50.	हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना	कुँवरपाल सिंह	पांडुलिपि प्रकाशन, दिल्ली प्र. सं. 1976
51.	हिन्दी आलोचना	विश्वनाथ त्रिपाठी	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1992
52.	हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना	जनेश्वर वर्मा	ग्रन्थम प्रकाशन, रामबाग कानपुर, सं. 1974
53.	हिन्दी का गद्य–साहित्य	डॉ. रामचन्द्र तिवारी	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सं. 2007
54.	हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष	संपा. रामदरश मिश्र	गिरनार प्रकाशन, पिलानीगंज, गुजरात,

¼3½ Lkgk;d xUFk&lph ¼vaxzsth½

1.	Culture and the People	Maxim Gorky	University Press of the Pacific. 2001
2.	Literature and Art	K. Marx and F. Engels	Current Book House, Bombay 1956
3.	Studies in European Realism	George Lukacs	Hillway Publishing House. Pvt. Ltd. New Delhi. 1955
4.	On Literature	Maxim Gorky	Progress Publishers, Moscow. 1982
5.	On Literature and Art	V. I. Lenin	Progress Publishers, Moscow. 1967
6.	On Literature	A.V. Lunacharsky	Progress Publishers, Moscow. 1965
7.	Marxism and Literary critism	Terry Eagletion	Routtedge Publications, London. 2006
8.	The Necessity of art	Ernst Fischer	Penguin book. 1963
9.	The Meaning of Contemporary pealism	George lukacs	Hillway Publishing. Co.Ltd. London. 1950
10.	Illusion and Reality	Christopher Coudwell	Peoples Publishing House Ltd. Delhi. 1956
11.	Early Novel in India	Meenakshi Mukherjee	Sahitya Academi New Delhi. 2001
12.	The Novel and the People	Railph fox	Forign Languages Publishing House, Moscow. 1954
13.	Literature and Reality	Howard Fast	Peoples Publishing House. Pvt.. Ltd. New Delhi. 1955
14.	Art and Social Life	C.V. Plekhanov	Peoples Publishing House Pvt. Ltd. New Delhi 1993

¼4½ if=dk,¡

1. आलोचना
2. कल के लिए
3. कसौटी
4. दस्तावेज
5. पहल
6. वसुधा
7. साहित्य–संदेश
8. साखी
9. समालोचक
10. हंस